॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

द्वादश पुष्प

दशम स्कन्ध - उत्तरार्ध

अध्याय : ७८ - ८४

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

द्वादशवाँ पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्री भागवतानुसार अध्याय ७८ से ८४
श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय ७५ से ८१
सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण अध्याय १ से ७

श्री भागवत प्रतिपद मणिवर भावांशु भूषिता मूर्तिः ।
श्री वल्लभाभिधानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम् ॥
—श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ

टिप्पणी — श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण
प्रकाश — गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
लेख — गो. श्री वल्लभजी महाराज
योजना — प.भ. श्री लालू (बालकृष्ण) भट्टजी
कारिकार्थ — श्री निर्भयरामजी भट्ट

हिन्दी अनुवादक
गो.वा. पं. फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण
जोधपुर

प्रथम आवृत्ति—१०००
दोलोत्सव
वि०सं० २०३१
गुरुवार—
दि. २७ मार्च, १९७५

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग
जोधपुर (राजस्थान)

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा (राज.)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	कांकरोली
गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमलालजी महाराज	कोटा
गोस्वामी श्री गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज	जतीपुरा
गोस्वामी श्री व्रजरायजी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
गोस्वामी श्री घनश्यामलालजी महाराज	कामवन
गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	चौपासनी (जोधपुर), जामनगर

विशिष्ट आजीवन मुख्य सदस्य

गो०वा० श्री नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु० ५०००)
गो०वा० श्रीमती सौभाग्यवती नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु० ५०००)
श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट	अहमदाबाद	रु० ५०००)
गो०वा० श्री जमुनादासजी मून्धड़ा व उनके सुपुत्रगण	बीकानेर	रु० ३५००)
प०भ० श्री गिरधरदासजी मून्धड़ा व उनके सुपुत्रगण	बीकानेर	रु० ३५००)
श्री बालाभाई दामोदरदास ट्रस्ट द्वारा गो०वा० सेठ साकरलाल बालाभाई	अहमदाबाद	रु० १५००)

विशिष्ट आजीवन सदस्य महानुभाव— प्रत्येक से रु० १००१)०० की सेवा प्राप्त हुई

प भ भगवानदासजी अग्रवाल	कलकत्ता
गो.वा. ईश्वरलालजी चिमनलालजी	बड़ौदा
श्री वल्लभदासजी राठी	अमरावती
श्री व्रजमोहनदासजी विजय	शुजालपुर मण्डी
श्रीमती बेला बेन चत्रभुजदासजी	बम्बई
श्रीमती काशी बाई	बम्बई
श्रीमती गङ्गा बेन मजीठिया	बम्बई
श्रीमती रम्भा बेन विट्ठलदासजी	बीकानेर
श्रीमती लक्ष्मी बाई गाँधी	बीकानेर
श्रीमती प्रेमा बाई किशनचन्दजी	कानपुर
श्री दादुभाई अमीन	बड़ौदा
श्री विट्ठलदासजी रुक्मणी बेन	बम्बई
श्री व्रजदासजी विजिया बेन	इचलकरञ्जी
श्री हरिदासजी देवीदासजी माधोजी	बम्बई
श्री रामनारायणजी द्वारा उनके सुपुत्र श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) एवं श्री ओंकारलालजी वर्मा प्रभृति	जोधपुर
स्व. श्री मुकन्ददासजी एवं उनके सुपुत्र श्री रामेश्वरदासजी तापड़िया	(जोधपुर
प.भ. श्रीमती रामी बाई अग्र०	ग्वालियर
श्री सिराज चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा प.भ. श्री गुलाबचन्दजी सिराज	बम्बई
गो वा. हरगोविन्ददासजी अगरचन्दजी भगत वसाई डाबला वालों की स्मृति में उनके सुपुत्र एवं चुन्नी बेन ह.अ.चे. ट्रस्ट	बम्बई
श्री कुन्दनलालजी अग्रवाल	कलकत्ता

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का बारहवाँ पुष्प

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

* सामग्री *

दो शब्द	संस्थाध्यक्ष गो. श्री व्रजभूषणलालजी महाराज	....	१
विनम्र निवेदन	श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) प्रधानमन्त्री	....	२
जीवन चरित्र : गोस्वामी श्री वल्लभजी महाराज—लेखकार		....	५
,, प भ. श्री लालू (बालकृष्ण) भट्टजी—योजनाकार		....	६
,, प.भ. श्री निर्भयरामजी भट्ट—कारिकार्थकार		....	८
श्री सुबोधिनी-पुष्पवाटिका में से चुनी हुई सौरभपूर्ण कुछ कलियाँ	प.भ नानुलाल नारायणदास गाँधी	....	९
श्री भागवतार्थ प्रकरण में से सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण		....	१०
सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण की भूमिका		....	२५
दशम स्कन्ध की सुबोधिनीजी की महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का अर्थ	गो.वा. श्री गोपालदासजी भालानी	....	२७
शुद्धि-पत्र		....	३०

श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय	श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय	शीर्षक		
७५	७८	दन्तवक्र और विदूरथ का उद्धार तथा बलरामजी के हाथ से सूत-वध	....	१
७६	७९	बल्वल का उद्धार और बलरामजी की तीर्थ-यात्रा	....	२९
७७	८०	श्रीकृष्ण द्वारा सुदामाजी का स्वागत	....	४९
७८	८१	सुदामाजी को ऐश्वर्य की प्राप्ति	....	८७
७९	८२	भगवान् श्रीकृष्ण व बलरामजी से गोपीजन की भेंट	....	११९
८०	८३	भगवान् की पटरानियों के साथ द्रौपदी की बातचीत	....	१५६
८१	८४	श्री वसुदेवजी का यज्ञोत्सव	....	१९३

सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण की अनुक्रमणिका २४८

चित्र-सूची

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण सुबोधिनी का लेखन कराते हुए १

दन्तवक्र का उद्धार ७

सुदामाजी की पूजा ६७

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०)

जोधपुर

उद्देश्य :—

जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवाकर जन-साधारण निमित्त प्रकाशन कराना; संगीतकला, चित्रकला एवं अन्य ललितकलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्रियों का शोध करना।

सदस्यता :—

विशिष्ट आजीवन : रु. १०००)०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।

आजीवन : रु. १५०)०० से रु. ९९९)०० तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता।

संस्था के प्रकाशन :—

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध तथा उसकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट।

सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनी का राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में सरल-सुबोध अनुवाद १३ पुष्पों में छप गया है—जिसमें से द्वादशवाँ पुष्प प्रस्तुत ग्रंथ है। १३वाँ पुष्प भी लगभग तैयार है—जो जिल्द बन्धकर आने पर प्राप्त हो सकेगा। सब ही पुष्प सचित्र हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उस ही अध्याय की लीला के अष्ट-सखा महानुभावों के पदों से सुशोभित एवं मनमोहक हैं।

हिमालय प्रिण्टर्स, कुम्हारिया कुआ, जोधपुर

✖ श्री सुबोधिनी ✖

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

प्रकाशक—श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।

॥ श्री हरिः ॥

• दो शब्द •

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध के सुबोधिन्यानुसार ७५ से ८१ अध्यायों की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का सात्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का द्वादशवाँ पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ है।

इस सात्विक-फल-उपप्रकरण में भगवान् श्रीकृष्ण ने विविध लीलाओं द्वारा सात्विक भक्तों के दोष (दुःख) निवारण किए व स्वयं फल रूप होकर उन्हें प्राप्त हुए। शङ्कर-भक्त शाल्व, निज-भक्त दन्तवक्र एवं उसके भाई विदुरथ—जिनकी दुष्ट वृत्ति थी, उनको नष्ट कर सात्विक भक्तों (यादवों) का दुःख हरण किया, जिससे उन लोगों का भगवान् में निरोध सिद्ध हुआ। दूसरे सात्विक भक्त पाण्डव थे, परन्तु इनके विपक्ष में बलदेवजी थे, जो कौरवों के पक्ष में थे; इसलिए महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व ही वे (बलदेवजी) तीर्थाटन को चले गए, जिसमें पाण्डवों का हित हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों के पक्ष में थे; अतः उनकी विजय हुई और इस प्रकार उनका भी निरोध भगवान् (श्रीकृष्ण) में सिद्ध हुआ। सुदामा ब्राह्मण—जो भगवान् का सखा एवं भक्त था, बहुत दरिद्री था, तथापि भगवान् के पास इस स्थिति को मिटाने के लिए कभी नहीं गया—स्त्री के बहुत कहने पर गया; इसलिए भगवान् ने उसे अलौकिक धन दिया एवं उसकी भक्तिभावना में हानि न होने दी। इस प्रकार उसको लौकिक सुख देते हुए भी उसका परलोक नहीं बिगड़ने दिया। यह पुष्टिमार्ग का एक उदाहरण है। जिसमें दयार्णव प्रभु अपने पुष्टिभक्तों को सब प्रकार का लौकिक सुख देते हुए भी उनकी उस सुख में आसक्ति नहीं होने देते हैं और उनकी चित्तवृत्ति अपने चरण-कमलों में ही रखते हैं। पुष्टि(अनुग्रह)मार्ग तथा मर्यादामार्ग में यह महत्त्वपूर्ण भेद है कि मर्यादामार्ग में 'विधि' प्रधान है। अतः उसका फल भी सीमित होता है—इतना ही नहीं, विधि में न्यूनता होने से विपरीत फल की सम्भावना भी होती है, परन्तु अनुग्रहमार्ग में विधि या साधन का स्थान गौण होता है और भगवदनुग्रह (कृपा) का महत्त्व होने से फल में असीमता होती है। उपरोक्त तीनों उदाहरणों से यह स्वयं सिद्ध है कि यादवों पाण्डवों एवं निर्धन सुदामा पर की गई कृपा की तुलना में उनका साधन कितना था—नगण्य। फिर भी प्रभु ने अपने प्रमेय बल से उनके सङ्कटों का निवारण कर उनको सर्व लौकिक-अलौकिक सुख प्रदान किए। सब साधन कर उनमें तनिक भी आसक्ति न रखते हुए कृपासागर श्रीकृष्ण भगवान् की कृपा को ही अवलम्बन मानना ही पुष्टिमार्गीय पथिक (भक्त) का मुख्य कर्त्तव्य है। अतः हमको अपने आत्म कल्याणार्थ सदा भगवत्सेवा, स्मरण, गुणगान, कथा, वार्ता में चित्त-प्रवण करना चाहिए, जिससे इस लोक एवं परलोक में सदानन्द की प्राप्ति हो। सदस्य वृन्द ने इस संस्था की आर्थिक सेवा कर कार्य-सञ्चालन में जो सहयोग दिया है, उसका अभिनन्दन करते हुए उनसे मेरा विनम्र कथन है कि वे ग्रन्थ-अध्ययन नियमपूर्वक अवश्य कर, जिससे श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के श्री भागवत-पियूष समुद्र का आनन्दानुभव उनको प्राप्त हो।

किमधिकम् सुज्ञे!

जोधपुर—
वसन्त पञ्चमी—वि०सं० २०३१
रविवार—१६ फरवरी, १९७५

गो० व्रजभूषणलाल

॥ श्री हरिः ॥

* विनम्र निवेदन *

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का १२वां पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ देश में कागज के अभाव से अब लगभग सवा वर्ष के पश्चात् सदस्य महानुभावों के समीप पहुंचेगा, तथापि उनमें से किसी सदस्य ने आगामी पुष्प की मांग नहीं की, इससे हम उन महानुभावों की सहिष्णुता एवं परमोदरता के लिए उन्हें सादर हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका अतिशय गम्भीर भावपूर्ण है, और उसका भावार्थ निकालना कठिन होने के कारण श्री मद्विट्ठलेश प्रभु ने 'टिप्पणी' गोस्वामी श्री वल्लभजी महाराज ने 'लेख', गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने 'प्रकाश', प० भ० लालू भट्टजी ने 'योजना' एवं प० भ० निर्भयरामजी भट्ट ने 'कारिकाओं' के अर्थ लिखकर इस अलौकिक अनुपम ग्रन्थ के भावार्थ को समझाने का सफल प्रयत्न करते हुए पाठकवृन्द का परम उपकार किया है। इन महानुभावों के दिव्य जीवन का संक्षिप्त विवरण हमारे अनुवाद ग्रन्थों में आवश्यक जानकर श्री मद्विट्ठलेश प्रभु चरण का जीवन चरित्र दूसरे पुष्प में, गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज का पंचम पुष्प में दिया गया है। गोस्वामी श्रीवल्लभजी महाराज, श्री लालू भट्टजी एवं श्री निर्भयरामजी भट्ट के जीवन चरित्र संबंधी जो सामग्री श्रीमान् पो० कण्ठमणिजी शास्त्री, कांकरोली, श्री जेठालालजी गोवर्धनदासजी शाह, एम० ए० रिटायर्ड प्रिंसिपल, अहमदाबाद से एवं प० भ० श्री लालू भट्टजी का जीवन वृत्त उनके ही वंशज विद्वान एवं कवि श्री बलदेवजी शर्मा 'सत्य' "वेदान्त भूषण" नाथद्वारा वालों से जो प्राप्त हुआ है उसका अन्यत्र समावेश है। लेख को श्री बलदेवजी ने विशेष रूप से तैयार करने में जो बहुत रूचि सहित श्रम लिया है, वह निस्सन्देह अभिनन्दनीय है। परन्तु खेद है स्थानाभाव के कारण वह लेख अक्षरशः नहीं दिया जा रहा है।

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण के तत्वार्थ दीप निबंध के तृतीय भाग में भागवतार्थ प्रकरण है, जिसमें सम्पूर्ण श्री मद्भागवत महापुराण के बारह स्कन्धों का श्लोक (कारिका) बद्ध संक्षिप्त विवरण है। आप श्री ने उक्त महापुराण के सात प्रकार के अर्थ किए हैं जिसमें से (१) शास्त्रार्थ (२) स्कन्धार्थ (३) प्रकरणार्थ एवं (४) अध्यायार्थ भागवतार्थ प्रकरण में हैं और (५) श्लोकार्थ (६) शब्दार्थ तथा (७) अक्षरार्थ श्री सुबोधिनी टीका में है। श्री सुबोधिनी टीका—प्रथम स्कन्ध (१९ अध्याय) द्वितीय स्कन्ध (१० अध्याय), तृतीय स्कन्ध (३३ अध्याय), दशम स्कन्ध (९० अध्याय, ३ प्रक्षिप्त सहित, एकादश स्कन्ध ४ पूर्ण अध्याय)—कुल १५६ अध्यायों की ही उपलब्ध है। इनमें से दशम स्कन्ध विशालकाय होने के साथ-साथ अधिक महत्वपूर्ण है, जिसके सरल सुबोध अनुवाद के १३ पुष्प १२ पुस्तकों में ९० अध्यायों सहित सम्पूर्ण दशम स्कन्ध का अनुवाद संस्था के ठहराव के अनुसार सदस्यों को भेंट में प्राप्त हो जावेगा।

शेष ६६ अध्यायों में से तृतीय स्कन्ध के २५ अध्याय एवं एकादश स्कन्ध के ४ अध्यायों का गो० वा० पं० फतेहचन्द्रजी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद इस संस्था के पास है। तृतीय स्कन्ध के अन्तिम ८ अध्यायों का हिन्दी अनुवाद कराना शेष है, जिनका अनुवाद कराने के लिए यह संस्था

प्रयत्नशील है । प्रथम एवम् द्वितीय स्कन्धों के कुल २६ अध्यायों का हिन्दी अनुवाद पूज्यपाद गोस्वामी तिलकयत जी महाराज (नाथद्वारा) के पास उपलब्ध हैं । प्रथम स्कन्ध की सुबोधिनी-गद्य का अनुवाद हो गया है, और भागवतजी के श्लोकों का अनुवाद अब हो रहा है । सम्प्रति यह हिन्दी अनुवाद की स्थिति है ।

इस संस्था की स्थापना आध्यात्मिक साहित्य प्रकाशन द्वारा जनता जनार्दन की सेवार्थ हुई है । यह एक चेरिटेबल संस्था होने के कारण साधारण आजीवन सदस्यों से प्राप्त रकम का पंचमांश भाग ग्रहण कर शेष रकम ग्रन्थ प्रकाशन द्वारा सदस्यों को ग्रन्थ के रूप में वापिस दे दी जाती है । यह शासन द्वारा एक पंजीकृत संस्था है और प्रतिवर्ष अपना लेखा आय-व्ययादि चर्टर्ड एकाउंटेंट द्वारा अंकेक्षण कराती है । ग्रन्थ पर लागत मूल्य ही सदस्यों से लिया है । अतः यदि तृतीय एवम् एकादश स्कन्ध के कुल ३७ अध्यायों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन कराने में जो यह संस्था सक्षम हुई तो सदस्य महानुभावों को निज निर्णय से अवगत करा देगी; क्योंकि कार्यालय में उपयुक्त कार्य-कर्त्ता का अभाव है । योग्य व्यक्ति के मिलने पर ही कार्य सम्पादन की सम्भावना हो सकती है । इसमें भी आर्थिक स्थिति अपना पृथक महत्व रखती है । यदि सदस्य महानुभावों का पूर्ववत् सहयोग मिला तो कार्य तो होना आवश्यक है, सो महाप्रभुजी कृपा करके इस कार्य को पूर्ण करायेंगे ।

११वें पुष्प के इसी शीर्षक लेख में निवेदन किया गया था कि कागज़ का अभाव कहीं हमारे भावी प्रकाशन में बाधा उपस्थित न करे, दुर्भाग्यवश हुआ भी ऐसा ही, कागज़ बाज़ार से अदृश्य हो हो गया, उसे प्राप्त करने के लिए स्थान-स्थान पर पूछताछ करने पर भी २८ पाउण्ड का कागज़ हमें नहीं मिला ! अतः एक वर्ष तक कार्य स्थगित रहा । अन्त में कलकत्ता में श्रीमान् एच० पी० घानुका साहिब, बंगाल पेपर मिल्स वालों से पत्र-व्यवहार करते-करते अक्टोबर मास, १९७४ में कागज़ प्राप्त हुआ । परन्तु कारणवश मुद्रणालय ने १० जनवरी १९७५ से मुद्रण-कार्य प्रारम्भ किया । महंगाई के कारण लग-भग २६ प्रतिशत उनको मुद्रण के भाव में अधिक देना स्वीकार करना पड़ा, उसके साथ यह शर्त रखी गई कि वे १ माह में २०० पृष्ठ मुद्रण करके देंगे, परन्तु यह वादा भी वे निभाने में असमर्थ रहे । पूर्व में विचार था कि १२वें तथा १३वें पुष्प को एक जिल्द में बंधवा दिया जावे, परन्तु अध्यक्ष महोदय ने भी दो जिल्द बंधवाने के सुझाव की स्वीकृति दी । अतः यह १२वां पुष्प भेज रहे हैं, १३वां पुष्प भी शीघ्र ही प्रेषण किया जावेगा ।

जो महानुभाव इस अनुपम साहित्य सेवा में सहयोग दे रहे है उनके परिचय से अध्यक्ष श्री को अवगत कराया जिसे श्रवण कर आपश्री ने अतिशय प्रसन्नता प्रकट करते हुए निम्न आशीर्वादात्मक सन्देश उनको भेजने की आज्ञा प्रदान की ।

"हम लोगों का जीवन एक विचित्र ढंग से व्यतीत हो रहा है । जिसकी हमको खबर नहीं पड़ती कि इतने वर्ष कैसे बीत गये, जैसे कपूर धीरे-धीरे उड़ जाता है, ऐसे भयंकर लौकिक झंझावात में जीवन की सौभाग्य घड़ी वही है, जिसमें प्रभु की सेवा, उनके गुणगान (कथा-कीर्तन) हो, तथा "हरि गुरु वैष्णव" की सेवा बने । आप लोगों ने स्वयं सदस्य बनकर वित्तीय सेवा की, तथा श्री सुबोधिनी साहित्य प्रचार निमित्त इस संस्था के सदस्य बनाने एवम् अनेक कठिनाईयों को सहन करते हुए जोधपुर से साहित्य प्राप्त कर सदस्यों तक पहुंचाने की जो निष्काम तनुजा सेवा कर रहे हैं, उसके लिए मै आप लोगों को हृदय से धन्यवाद देता हूं, और हमारे परम प्रेष्ठ श्री गोवर्धनधर

प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि वे कृपा कर आपको अपने चरण कमलों का दृढाश्रय एवम् भक्ति देवें। इस अलौकिक साहित्य के रचयिता श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी आपको हरि गुरु वैष्णव की निष्काम सेवा करने की उत्कट इच्छा के साथ-साथ क्रिया-शक्ति भी प्रदान करें"।

उपरोक्त आशीर्वादात्मक शुभ-सन्देश परमोल्लास तथा अनन्त बधाई सहित निम्न महानुभावों को प्रेषित किया गया :—

प. भ. श्री रणछोड़दासजी मूंधड़ा कलकत्ता
,, श्री जुगलकिशोरजी बर्मन ,,
,, श्रीमती चांदबाई बैजनाथजी तापड़िया ,,
,, श्री प्रीतमलालजी गोस्वामी, कानपुर
,, श्री उद्धवदासजी मूंधडा ,,
,, श्रीमती काशीबाई उद्धवदासजी मूंधड़ा ,,
,, श्रीमती प्रेमाबाई किशनचन्दजी भाटिया ,,
,, श्री राधेश्यामजी रस्तोगी M A LL B. लखनऊ
,, श्री दिलसुखरायजी राठी दिल्ली
,, श्री ओमप्रकाशजी चोपड़ा ,,
,, श्री ओमप्रकाशजी ग्रोवर ,,
,, श्रीमती रामीबाई अग्रवाल ग्वालियर
,, श्री जमनादासजी एवं उनके सुपुत्र श्री बालकृष्णदासजी मोहता, कोटा
,, श्री विट्ठलदासजी नीमा, इन्दौर
,, श्री बृजमोहनदासजी विजय, शुजालपुर
,, श्री मोहनलालजी डागा, रायपुर
,, श्री वल्लभदासजी राठी अमरावती
,, श्री कुंजबिहारीजी राठी, आगरा

प. भ. श्री लालजी भाई रामजी भाई, पोरबंदर
,, डॉ. श्री वी एन. धोलकिया, जामनगर
,, श्री हेमराजजी उद्धवजी, राजकोट
,, श्री गोकुलदासजी गग्गुभाई सोनी, ,,
,, श्री पुरुषोत्तमदासजी पारीख, उदयपुर
,, श्री घनश्यामदासजी गोपालदासजी शाह पूना
,, श्री नटवरलालजी हरगोविन्ददासजी शाह बम्बई
,, श्री ठाकुरदासजी मलक, जयपुर
,, श्री रामनिवासजी हुरकुट, पिपरिया
,, श्री नारायणजी शास्त्री, नाथद्वारा
,, श्री घनश्यामदासजी अग्रवाल, गोरखपुर
,, श्री गिरधारीलालजी अग्रवाल एवम् बन्धुगण, काशी
,, श्री कन्हैयालालजी खंडेलवाल, मनोहर थाना
,, श्री निरंजनदेवजी शर्मा, मथुरा
,, श्री मोहनलालजी गोवर्धनदासजी पडिया नागपुर
,, श्रीमती श्यामप्रियाजी (गोटाबाई) मदनमोहनजी पुरोहित, जोधपुर

श्रीमान् एच०पी० धानुका साहब का आभार यह संस्था सादर स्वीकार करती है कि जिन्होंने आगे के प्रकाशन कार्य के लिए कागज के मूल्यों में यथा शक्य छूट देकर कागज भेजने की व्यवस्था कर इस संस्था के १२वें तथा १३वें पुष्पों का प्रकाशन कराने में अनमोल एवं सराहनीय सहयोग दिया, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

प० भ० श्री नाथजी पुरोहित ने अस्वस्थ होने के कारण जनवरी १९७४ से कार्यालय से अवकाश प्राप्त कर लिया था। दिसम्बर १९७४ से कार्यालय में कोई भी कार्यकर्त्ता नहीं था—सो मुद्रणालय से प्राप्त प्रूफ कापी जांचने की निष्काम सेवा कुछ दिनों तक की, परन्तु उनके नेत्र में मोतिया बिन्द का प्रकोप होने से मैंने उनसे सेवा लेना उचित नहीं समझा; तथापि उनकी सेवा के लिए उन्हें धन्यवाद है। यह सेवक भी जनवरी १९७५ से ही अस्वस्थ है, फिर भी यथा शक्य सेवा प्रभु कृपाकर ले रहे हैं, सो आपकी असीम कृपा है। प्रवर आचार्य चरणों की अनुकम्पा एवं भगवदीय जन के आशीर्वाद से यह कार्य पूर्ण होगा—ऐसा दृढ़ विश्वास है!

तदीयजन चरणरजाकांक्षी
नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरिः ॥

• जीवन चरित्र •

गोस्वामी श्रीवल्लभजी महाराज

श्रीमद्विट्ठलेश प्रभु चरण के पञ्चम पुत्र रत्न श्री रघुनाथजी के सुपुत्र श्री देवकीनन्दनजी, जिनके तृतीय पुत्र श्रीवल्लभजी, जिनके द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलेशजी, जिनके दो पुत्र श्री गिरधरजी व श्रीवल्लभजी हुए। गो० श्रीवल्लभजी का प्रागट्य शुभ तिथि कार्तिक कृष्ण १३, वि०सं० १७२९ के दिन हुआ। श्री गिरधरजी के सुपुत्र श्री द्वारकेशजी का प्रागट्य चैत्र शुक्ला २, वि०सं० १७५१ के दिन हुआ। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के वंशजों में समान नाम के अनेक बालकों का प्रागट्य हुआ है। इन श्रीवल्लभजी महाराज के समकालीन श्रीवल्लभजी महाराज श्री विट्ठलेशरायजी के आत्मज थे, जिनका प्रथम गृह में प्रागट्य वि०सं० १७०३ में हुआ, जो काका वल्लभजी के नाम से प्रसिद्ध हुए; जिन्होंने भी पुष्टिमार्गीय साहित्य की रचना की है. परन्तु श्री सुबोधिनी टीका को सुस्पष्ट करने के लिए 'लेख' के रचक तो श्रीवल्लभजी महाराज पञ्चम गृह के ही थे। इसके लिए पुष्टिमार्गीय निष्णात विद्वान् एवं संशोधक गो०वा० श्री मलचन्द्रजी तुलसीदासजी तेलीवाले ने निम्न प्रमाण प्रस्तुत किए हैं :—

(१) गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने श्रीमद्भागवत १०-४-२० के प्रकाश में 'गो० श्रीवल्लभ' नामक लेखकार के मत का निर्देश किया है, जिससे इस अनुमान को अधिक बल मिलता है; क्योंकि गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने जब-जब अपनी टीका में अन्य पूर्वगामी प्रवर गोस्वामी महाराजों के मतों का उल्लेख किया है, तब-तब सन्मानार्थ उनके लिए बहुवचन का प्रयोग किया है—परन्तु उपरोक्त स्थल में 'श्रीवल्लभ' ऐसे एकवचन ही रखा है। गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज का प्रागट्य भाद्रपद शुक्ला ११, वि०सं० १७२४ के शुभ दिन हुआ था। अतः आप श्री अवस्था में बड़े थे और श्रीवल्लभजी आप श्री के प्रीति-पात्र भी थे, जिनका समर्थन प०भ० श्री निर्भयरायजी भट्ट भी करते हैं।

(२) 'लेख' की जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन सबके अन्त में इति गो० श्री विट्ठलेशात्मज श्रीवल्लभकृत'—ऐसा लिखा हुआ मिलता है।

इसके अतिरिक्त पञ्चम गृह के गो० श्री द्वारकेशजी भावनावाले (आत्मज श्री गिरधरजी) श्रीवल्लभजी के भतीजे थे। उन्होंने षोडश ग्रन्थ के 'नवरत्न ग्रन्थ' की टिप्पणी की पुस्तक में 'अस्मत् पितृव्य चरणानाम् लेख'—ऐसा लिखा है। इन सब आधारों पर यह निश्चय होता है कि सुबोधिनी-जी के लेखकार पञ्चम गृह के श्रीवल्लभजी विट्ठलेशात्मज ही थे। इसका समर्थन श्री नन्दकिशोरजी शास्त्री ने भी किया है।

(३ गो० श्रीवल्लभजी महाराज भगवत्सेवा परायण एवं उच्च कोटि के विद्वान् भी थे। आप श्री वर्ष के तीन भाग करके प्रथम चार मास में श्रीमद्गोकुल अथवा कामवन में विराजकर श्री गोकुलेंदु प्रभु की सेवा में रहते। दूसरे चार मास में कदमखण्डी में निवास कर ग्रन्थ-रचना, विवरणादि पर विचार कर लेखन कार्य करते। अन्त के चार मास में जीवों के उद्धारार्थ एवं पुष्टिमार्गीय प्रचारार्थ प्रवास करते।

ग्रन्थ रचनाः— श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित षोडश ग्रन्थ, श्री सुबोधिनीजी एवं समस्त भागवत पर 'लेख' इनकी मुख्य रचनाएँ हैं। षोडश ग्रन्थ के विवरण में भक्तिवर्द्धिनी विवृत्ति और संन्यास निर्णय विवृत्ति; इन दोनों में अन्तिम पुष्पिका में वल्लभनानलदासोक्ता विवृत्तिः पूर्णतामयगात्'-

ऐसा अधिक उल्लेख मिलता है; अन्य में नहीं। आप श्री की प्राप्य रचनाएँ हैं— सिद्धान्त मुक्तावली विवृत्ति प्रकाश, नवरत्न प्रकाश टिप्पणी, भक्तिवर्द्धिनी विवृत्ति, संन्यास निर्णय विवृत्ति, निरोध लक्षण विवृत्ति और सेवा फल टीका'। अप्राप्य ग्रन्थ—'श्री यमुनाष्टक व्याख्या और चतुश्लोकी व्याख्या' हैं। अन्य ग्रंथ—'श्री प्रभु प्रागट्य एवं शुद्ध जन्माष्टमी विचार:' हैं। उत्सव निर्णय ग्रंथ के सम्बन्ध में कुछ सन्देह है कि कदाचित् उस ग्रंथ की रचना गो० श्रीवल्लभजी विट्ठलेशात्मज प्रथम गृह वालों ने की हो, यद्यपि उन्होंने अपने ग्रंथों के अन्त में अधिकतर 'श्रीवल्लभकृत' ही लिखा है।

श्री सुबोधिनी की भाषा सरल होने पर भी भाव गम्भीर है—जिसको सुस्पष्ट करने के लिए श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण ने टिप्पणीजी की रचना की गो० श्रीवल्लभजी महाराज ने श्री सुबोधिनीजी के तथा श्री टिप्पणीजी के भी रहस्यपूर्ण भावों को सरल भाषा में पाठकवृन्द को समझाने का जो सफल प्रयास किया है, वह उपकार अविस्मृणीय है।

परम भगवदीय लालूभट्टजी

श्री पुष्टि पुरुषोत्तम वैश्वानरावतार देवोद्धारक प्रयत्नात्मा भक्तकामना कल्पतरु करुणा वरुणालय अखण्ड भूमण्डलाचार्य जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभ महाप्रभु द्वारा प्रकाशित पल्लवित् पुष्पित फलात्मक पुष्टिमार्ग जिसमें भक्ति-रस से ओत-प्रोत अनेक भक्त, कवि, साहित्यकार, विद्वान् अपनी ज्ञान गरिमा को भूल, प्रभु नन्दराजकुमार की रूप माधुरी में मोहित हो, अपना सर्वस्व खो, श्रीवल्लभ के पादपद्म चञ्चरीक बने।

ऐसा वैष्णव कोई न होगा जो भक्ति भव्य भावना से पूर्ण वेद कल्पवृक्ष के सुन्दर सरस सुलभ परिपक्व फल श्रीमद्भागवत की सर्व टीकाओं की मूर्धन्य सुबोधिनी को न जानता होगा! यदि सुबोधिनी के कुछ स्थल श्रवण तथा मनन किए होंगे, तो योजनाकार वागरोदी लालूभट्टजी का नाम श्रवणगत हुआ ही होगा।

दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रान्त के अन्तर्गत कृष्णा नदी के तटवर्ती वागरोदिया ग्राम में वेद-वेदान्त, यज्ञ-यागानुष्ठान दीक्षित समस्त शास्त्र पारङ्गत द्विजवर यज्ञनारायणजी भट्ट निवास करते थे। ऐसा भी सुनने में आया है कि ये महानुभाव उस प्रान्त के उद्भट विद्वान् थे और इनसे शास्त्रार्थ करने में विद्वान् वाक् रुद्ध हो जाते थे। अतः ये वागरोदी नाम से प्रसिद्ध हुए। कुछ भी हो यह निर्विवाद तथ्य है कि ऐसे महान् पुरुष के प्रसाद से वागरोदी वंश अनेक कवियों तथा विद्वानों का अद्यावधि गृह रहा है।

श्री यज्ञनारायणजी भट्ट वागरोदी के पुत्र श्री विश्वनाथजी का जन्म वि०सं० १५४५ में माना जाता है। इनके यहाँ दो पुत्र और एक कन्या ने भी जन्म लिया। ज्येष्ठ पुत्र श्री कृष्णजी का जन्म वि०सं० १५७४ में और रुक्मणीजी कन्या का जन्म वि०सं० १५८० में तथा छोटे पुत्र श्री गोविन्दजी का जन्म वि०सं० १५८४ में माना जाता है। कन्या रुक्मणीजी का विवाह श्रीमद् गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी प्रभुचरण के साथ वि०सं० १५८९ में हुआ। श्रीमती रुक्मणी बहुजी से छः पुत्र रत्न और दो बेटीजी प्रकट हुए। श्री गोविन्दजी अपनी बड़ी बहिन रुक्मणीजी के पास गोकुल में ही रहते थे।

ज्येष्ठ भ्राता श्री कृष्णजी के पुत्र गोपीकान्तजी, उनके पुत्र मधुसूदनजी और उनके पुत्र श्री त्रिविक्रमजी (टीकमलालजी हुए—जिनका जन्म वि०सं० १६४५ में माना जाता है। इनकी पत्नी

श्रीमती शारदा की कोख से चैत्र शुक्ला ६, वि०सं० १६६५ के दिवस श्रीमद् गोकुल में योजनाकार लालूभट्टजी का जन्म हुआ। श्री त्रिविक्रमजी ने पुत्र जन्म की बधाई पूज्यपाद गोस्वामी श्री हरिराय महाप्रभु को दी। आप श्री ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि 'बालक उद्भट विद्वान् होएगो'। तत्पश्चात् इस बालक के जाति रित्यानुसार जात कर्म, नाम कर्म संस्कार में भी आप कृपा कर पधारे। यह बालक शरीर में हृष्ट-पुष्ट व सुन्दर था। इसलिए व्रज की रीति के अनुसार इन्हें 'लल्ला, लाला, लालू' घर में सब कहते थे। वि०सं० १६७५ में उपनयन संस्कार के समय ब्रह्म सम्बन्ध की दीक्षा इन्हें पूज्यपाद गोस्वामी हरिराय चरण से प्राप्त करने का सौभाग्य मिला तथा आप श्री ने इनका नाम बालकृष्ण रखा। बाल्यावस्था से प्रभु सेवा तथा ग्रन्थ अध्ययन में इनकी अभिरुचि अधिक थी और दिन-प्रतिदिन उसमें वृद्धि ही होती रही। क्यों न हो! जिस क्षेत्र में बीजारोपण करने वाले पूज्यपाद गोस्वामी श्री हरिराय महाप्रभु जैसे हों, वहाँ फल के फलित होने में कौनसा आश्चर्य है? यह होनहार बालक ही लालूभट्टजी (बालकृष्णजी भट्ट) नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनका विवाह गोतम गोत्रीय कान्तिवती नामक कन्या से वि०सं० १६६७ में हुआ। इनके पुत्र श्री रघुनाथ-जी एवं दो कन्याएँ हुई। प०भ० श्री लालूभट्टजी कोटा (राजस्थान) के निवासी अपने समय के माने हुए विद्वान् थे। आप महाराजा सवाई श्री जयसिंहजी जयपुर द्वारा सम्मानित किए गए थे। जिनका समय वि०सं० १६८८ से १७२८ माना जाता है। उन्हें प्रसन्न करने के लिए ही इन्होंने 'प्रमेय रत्नार्णव' ग्रन्थ की रचना की थी—ऐसा सुनने में आता है। गोस्वामी पुरुषोत्तमजी महाराज के समय में ये विद्यमान थे।

काव्य रचना:— 'षोडश ग्रन्थ, सिद्धान्त मुक्तावली व्याख्या योजना, सिद्धान्त रहस्य विवृत्ति, नवरत्न स्फुट लेख, भक्तिवर्द्धिनी विवृत्ति, सेवा फल विवृत्ति, अणु भाष्य निगूढार्थ प्रकाशिका व्याख्या, सुबोधिनी योजना, निबन्ध योजना एकादश स्कन्ध योजना, सेवा कौमुदी, निर्णयार्णव, प्रमेय रत्नार्णव, विद्वद्-भूषण काव्यम्, ख्याति विवेक, नामलेख:'।

इनके रचित ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इनकी भाषा बड़ी प्रौढ़ कविता सरस भावपूर्ण और रचना शैली ओजपूर्ण विद्वद्-मान्य है। श्री बालकृष्ण प्रभु जो इनके आराध्य हैं उनका ग्रन्थों के आदि मङ्गलाचरण में लालूभट्टजी ने कई स्थानों में स्मरण किया है। लगभग इन्होंने अपने सभी ग्रन्थों की समाप्ति इस प्रकार की है—'इति श्रीमद् गोवर्धनधर, श्रीवल्लभाचार्यवर, श्री विट्ठलेश्वर-चरणानुचर सेवकेन लालूभट्टोयनाम विदित, दीक्षित बालकृष्णेन विरचिता ... सम्पूर्ण'।

प०भ० श्री लालूभट्टजी वैष्णवराज गिरधरभट्टजी श्रीमद्भागवत पद्यानुवाद की सुधा टीका के रचक की पितृव्य परम्परा में है, जिनका समय वि०सं० १७७० माना जाता है। इस आधार पर लालूभट्टजी का समय वि०सं० १७३० के लगभग आ जाता है। श्री गोकुलचन्द्र कवि केसरी ने अपने 'उत्सवमालिका' नामक ग्रन्थ में 'आश्रेय वंशावतंस श्री बालकृष्ण भट्टात्मज'—ऐसा स्वकीय परिचय दिया है।

प० भ० श्री लालूभट्टजी (श्री बालकृष्णभट्टजी) की वंश परम्परा का गृह अद्यावधि कोटा में स्थित है—जो 'वागरोदी श्यामसुन्दरलालजी मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिर में श्री नवनीत प्रिय प्रभु विराजते हैं। दूसरे घर जयपुर में 'श्री गिरधरजी का मन्दिर' एवं 'श्री राधाकृष्णजी का मन्दिर' है तथा अलवर में मुन्शीबाग में 'श्री दाऊजी का मन्दिर' है।

वागरोदी बलदेव शर्मा
'सत्य' पुराण वेदान्त शास्त्री कविरत्न
नाथद्वाराव ले—वर्तमान में बीकानेर

परम भगवदीय श्री निर्भयरामजी भट्ट

श्रीमान् भट्टजी नागर ब्राह्मण बिसनगर (गुजरात) निवासी के पिता का नाम एवं जन्म सम्वत् अज्ञात है तथापि यह एक निश्चित् वृत्त है कि पूज्यपाद गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज कांकरोलीस्थ (वि०सं० १७६५-१८३३) के ये शिष्य (सेवक) थे, जिसका उल्लेख उन्होंने अणु भाष्य के 'अधिकरण' ग्रन्थ में किया है। श्रीमद्वल्लभवंश कल्प वृक्ष ग्रन्थ की रचना इन्होंने वि०सं० १८४३ में समाप्त की थी, जिसमें 'गुणरत्न दया सिन्धु गोस्वामी श्री व्रजभूषणः स्वीकृतः'— ऐसा उल्लेख किया है। श्री द्वारकाधीश की सेवा में ये मुख्य प्रचारक के रूप में बहुत समय तक रहे तथा विद्या विभागीय श्री सरस्वती ग्रन्थ संग्रहालय को इन्होंने सुव्यवस्थित किया, जिसमें इनके कई हस्तलिखित ग्रन्थ एवं पत्र भी वि०सं० १८५४ तक के विद्यमान हैं। ये धर्मशास्त्र के माने हुए विद्वान् थे। अतः इनसे कई धार्मिक निर्णय माँगे जाते थे।

ग्रन्थ रचना:— (१) आशौच निर्णय, (२) व्रतोत्सव निर्णय, (३) श्री द्वारकाधीश मङ्गलाष्टकम्, (४) श्रीमद्वल्लभाचार्यवंश कल्प वृक्ष, ५) दशम स्कन्ध की श्री सुबोधिनी कारिकार्थ, (६) अणु भाष्य—अधिकरण संग्रह इत्यादि।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'अणु भाष्य' की रचना की, जिसका तात्पर्य समझाने के लिए श्री भट्टजी ने अधिक सुगम व सरल शैली में 'अधिकरण संग्रह' को रचकर शुद्धाद्वैत तत्त्व ज्ञान के अध्ययनार्थ अद्वितीय सेवा कर निज अप्रतिम वैष्णवत्व की विद्वद् वर्ग में प्रतीति कराई। इनका साम्प्रदायिक साहित्य अध्ययन अनुपम था—ऐसे शास्त्रीय ग्रन्थ जिनका समझना कठिन था, उनके मर्म को प्रकट करने में इनकी प्रतिभा उच्च कोटि की थी। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्री सुबोधिनी की कारिकाओं (श्लोकों) के गम्भीर निगूढ भाव का विशद् रूप में सरलता, सुगमता एवं असंदिग्धता से इन्होंने ऐसा अर्थ किया है कि पाठक सहज में समझ सकें। इनकी लेखन शैली भी एक कला है, जिसका विशिष्ट स्थान है।

श्री भट्टजी के कोई पुत्र-सन्तति नहीं थी। अतः उन्होंने अपना समस्त साहित्य सम्पत्ति अपने सेव्य प्रभु मदनमोहनजी आदि को अपने शिष्य झालरापाटन निवासी लल्लूजी शिवरामजी को प्रदान कर दिए, जो सम्प्रति उनके वंशज श्री मथुरालालजी शास्त्री के यहाँ विद्यमान हैं।

पू०पा० गो० श्रीवल्लभजी महाराज, प०भ० लालूभट्टजी तथा निर्भयरामजी भट्ट के जीवन वृत्त प्राप्त करने के लिए सम्प्रदाय के कतिपय महानुभावों को निवेदन किया था, परन्तु केवल प०भ० प० कण्ठमणिजी शास्त्री कांकरोली, प०भ० श्री जेठालालजी, गो० शाह एम०ए० रिटायर्ड प्रिंसीपल अहमदाबाद एवं प०भ० श्री बलदेवजी वागरोदी (केवल प०भ० लालूभट्टजी का जीवन वृत्त) ने ही अधिक से अधिक प्राप्य सूचना तुरन्त भेजकर जो निज सम्प्रदाय साहित्य चिकीर्षा प्रमाणित की है, वह निस्सन्देह अभिनन्दनीय है। संस्था आप महानुभावों का हार्दिक आभार सादर स्वीकार करती है।

नन्ददास (रामचन्द्र)

।। श्री हरिः ।।

श्री सुबोधिनी-पुष्पवाटिका में से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ

व्याजेन करणं धर्मो न भवति ॥१०-७५-१८॥	बहाने से किया हुआ (कर्म) धर्म नहीं होता ।।
यद्यपि ब्राह्मणानां कृति अन्यथापि भवेत् तथापि वाक् मृषा भवितुं नार्हति ।।१०-७५-३०।।	यद्यपि ब्राह्मणों की कृति अन्यथा हो भी सकती है, किन्तु वाणी भूठी होने योग्य नहीं है ।।
सर्वथा अवसादे ईश्वरोपसर्पणं विहितम् । ।।१०-७७-६।।	सर्वथा दुःख की अवस्था में ईश्वर की शरण में जाना ही उचित है ।।
धनेनावश्यं मदो भवेत् । मदेन च विस्मृतात्मा मां सुतरामेव न स्मरेत् । ततः स्मरणाभावे सर्वनाशः ।।१०-७८-२०।।	धन से अवश्य मद होता है, मद से आत्मा(अपने) को भूलने से मेरा स्मरण नहीं होता । पीछे विस्मरण होने से सर्वनाश होता है ।।
स (भगवान्) हि महानुभावः तत्सेवकसेवकेष्वपि न संसारादि धर्मा भवन्तीति ।।१०-७८-३६।।	वे (भगवान्) इतने बड़े प्रभावशाली हैं (कि), उनके सेवकों के सेवकों में भी संसार आदि के धर्म सम्पन्न नहीं होते ।।
दानाभावे स्नानं विफलं स्यात् ।।१०-७९-११।।	तीर्थ में दान न करने से स्नान विफल होता है ।।
परस्वेति असद्बुद्धिः सतां कदापि न भवति । ।।१०-७९-३९।।	सन्तों को 'अपनी'-परायी'—ऐसी असद्बुद्धि कोई भी समय में नहीं होती है ।।
स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्म प्रभृति जन्मान्तरेषु वा भगवत्येव चित्तं भवति ।१०-८०-१७।	जिसका जन्म से आरम्भ होकर अथवा दूसरे जन्मों में भी भगवान् में चित्त होवे, वही सख्य प्राप्त करता है ।।

'श्री सुबोध रत्नाकर'

योजक—प.भ. नानुलाल नारायणदास गाँधी

एम०ए०, एल०एल०बी०

।। श्री हरिः ।।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

तत्त्वार्थ-दीप-निबन्ध भागवतार्थ-प्रकरण

दशम स्कन्ध सात्त्विक-फल-प्रकरण

अध्याय ७८ से ८४ तक

कारिका—**आदौ त्रिविधदुष्टानां वधोऽत्र विनिरूप्यते ३६७।।**

शाल्वस्य हरभक्तस्य दन्तवक्त्रस्य चात्मनः ।

तद्भ्रातुश्च द्वितीयस्य राजसस्य वधः स्मृतः ।।३६८ ।

कारिकार्थ—इस प्रकरण में प्रारम्भ में तीन प्रकार के दुष्टों का वध कहा जाता है— (१) महादेव के भक्त शाल्व का, (२) अपने [भगवद्] भक्त दन्तवक्र का और (३) उसके भ्राता राजस [विदूरथ] का ।।३६७-६८।।

व्याख्या—साधन-उपप्रकरण के अनन्तर ५२½ कारिकाओं से फल-उपप्रकरण का विचार करते हैं । कथा का जो श्लेष मिलाप यहाँ देखने में आता है, उसको 'आदौ' इत्यादि कारिका से स्फुट करते हैं । 'आत्मना' पद का तात्पर्य है 'भक्तस्य' (भक्त का) 'राजसस्य' यह उस (दन्तवक्र) के दूसरे भाई का विशेषण है । शाल्व का वध अध्याय ८३-८४ में कहा है । इन अध्यायों को सात्त्विक-फल-प्रकरण में गिना गया है । शेष दन्त वक्र और विदूरथ का वध इस अध्याय में कहा है ।।३६७-६८।।

कारिका—**एवं दोषप्रणाशो हि फले पूर्वमुदीरितः ।**

तेनैव यादवानां हि सर्वव्यसननाशतः ।।३६९।।

कृष्णात्मकं फलं सिद्धं यत एवं करोति हि ।

कारिकार्थ—इसी तरह फल-प्रकरण में पहले दोष नाश का वर्णन है, जिससे ही सकल यादवों के सर्व दुःख नाश हो जाने से उनको श्रीकृष्ण रूप फल प्राप्त हुआ । इसलिए ही भगवान् ने इसी तरह की लीला की ।।३६९½।।

व्याख्या—यादवों को फल की प्राप्ति हो, तदर्थ भगवान् ने तीनों दुष्टों का नाश कर यादवों का दुःख मिटाया ।।३६९½।।

कारिका **ततः सर्वसुखार्थाय बलदेवविनिर्गमः ।।३७०।।**

तीर्थे स्वधर्मनाशाय दोषे याते सुखं स्वतः ।

कारिकार्थ—पश्चात् समस्तों को सुख की प्राप्ति हो,तदर्थ बलदेवजी तीर्थाटन करने गए । साथ में अपने धर्म के नाशार्थ अर्थात् अपने धर्म का त्याग करने के लिए तीर्थों पर गए । दोष जाने पर सुख स्वतः प्राप्त होता है ।।३७०½।।

व्याख्या श्री बलदेवजी तीर्थ यात्रा करने गए, जिसके प्रयोजन की सङ्गति बताते हैं । युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म हैं । बलराम ने देखा कि पाण्डव और कौरवों का युद्ध होने वाला है, जिसका परिणाम सुन्दर नहीं है तथा श्रीकृष्ण पाण्डवों के पक्ष में है, जो मैं नहीं चाहता हूँ । यदि मैं यहाँ रहूँगा, तो युद्ध में शामिल होना पड़ेगा । श्रीकृष्ण के विरुद्ध कौरवों के पक्ष में जाने से श्रीकृष्ण अप्रसन्न होंगे । अतः अब क्षात्र (वर्णाश्रम) धर्म युद्ध करने का त्याग करने से दोष होगा । अतः तीर्थों पर चलना ही श्रेयस्कर है, यों करने से सबको सुख प्राप्त होगा—सब दोष भी मिट जाएँगे ।।३७०½।।

कारिका – **स्वयं तु पाण्डवानां दुःखनाशं चकार ह ।।३७१।।**

एवं त्रिभिरिहाध्यायैर्दुःखनाशौ निरूप्यते ।

स्पष्टास्पष्टविभेदेन त्रिविधानां विशेषतः ।।३७२।।

कारिकार्थ—स्वयं (भगवान्) ने पाण्डवों का दुःख नाश किया । इसी तरह यहाँ इस प्रकरण में तीन अध्यायों से स्पष्ट तथा अस्पष्ट भेद से विशेषकर तीन प्रकार के जीवों का दुःख नाश निरूपण किया है ।।३७१-७२।।

व्याख्या—भगवान् ने दुःखनाश इसी तरह किया, जैसे फिर दुःख उत्पन्न न होवे । तीन अध्यायों से अर्थात् साधन-प्रकरणीय अध्यायों सहित शाल्वादि के नाश से यादवों का दुःख नाश स्पष्ट प्रकार से जानने में आता है और पाण्डव तथा अन्यों का दुःख नाश स्पष्ट जानने में नहीं आता है कि किस प्रकार स्वयं ने दुःख नाश किया ।।३७१-७२।।

कारिका – **कालदोषात्तु ऋषयो वक्तारं मेनिरेऽधमम् ।**

अतोऽज्ञात्वैव रामेण सूतो धर्मार्थिमाहतः ।।३७३।।

सन्तोषार्थमृषीणां च स्वावतारं विधाय हि ।

तत्र तं स्थापयामास कार्यं भागवते स्थितम् ।।३७४।।

शुकोक्तमन्यथा वाक्यं हृदयं न विशेत्क्वचित् ।

कारिकार्थ—ऋषियों ने जो अधम सूत को अपना ब्रह्मपन देकर वक्ता के आसन

पर बिठाया, यह दोष काल का था । श्रीराम ने धर्म-मर्यादा रक्षार्थ सूत का वध किया, फिर ऋषियों के सन्तोष के लिए तथा अपना अवतार होने का कारण विचार, उस आसन पर सूत पुत्र को स्थापित किया । जिसका प्रयोजन यह था कि भागवत सुना जाय, जो यों नहीं करते, तो शुकदेवजी का कहा हुआ वाक्य कभी भी हृदय में प्रविष्ट नहीं होता ।।३७३-७४½।।

व्याख्या—बलभद्र ने तीर्थ यात्रा करते हुए नेमिषारण्य में आकर देखा कि यज्ञ में अधम सूत ऋषियों को उपदेश दे रहा है । यह कार्य धर्म विरुद्ध जानकर सहसा सूत का वध कर दिया । तब ऋषियों ने राम को कहा कि यह वध जो आपने किया है, वह अनुचित किया है कारण कि हमने इसमें अपना ब्राह्मणत्व स्थापन कर इसको यह ब्रह्मासन दिया था । यह सुनकर श्रीराम ने ऋषि सन्तोषार्थ तथा अपने अवतार का प्रयोजन विचार कर सूत पुत्र उग्रश्रवा को ब्रह्मासन देकर कथा प्रारम्भ कराई । यदि बलराम यों न करते, तो उग्रश्रवासर्ज परीक्षित सभा में जाकर शुकदेवजी के मुख से भागवत का श्रवण न कर सकते । जिसका परिणाम यह होता कि भागवत का प्रचार होना बन्द हो जाता, यों साधारण दोष का नाश कहा । अब मुख्य दोष का नाश 'बल्वल' कारिका से कहते हैं ।।३७३-७४½।।

कारिका—**बल्वलस्य वधो मुख्यो दोषस्तेषां च नाशितः ।।३७५।।**

बल्वलो दोषसूतौ च त्रयोऽत्र विनिवारिताः ।

ज्ञानोपदेशो लीलार्थो यथा तीर्थाटनं तथा ।।३७६।।

कारिकार्थ—बल्वल का वध मुख्य है, ऋषियों का दोष नाश हुआ है । (१) बल्वल, (२) ऋषियों का दोष और (३) सूत—इन तीनों का नाश यहाँ कहा है । बलभद्र ने जैसे लीलार्थ तीर्थाटन किया, वैसे ही ऋषियों को ज्ञानोपदेश लीलार्थ किया ।।३७५-७६।।

व्याख्या—बलभद्र ने तीर्थाटन, ऋषियों को ज्ञानोपदेश आदि सर्व लीलार्थ ही किया ।।३७५-७६।।

कारिका—**शुद्धिस्तीर्थैस्तथा यज्ञैर्ज्ञानेनापि भवेद्ध्रुवम् ।**

ऋषीणां त्रितयं सिद्धमग्रे मोहनिवृत्तये ।।३७७।।

ज्ञानोपदेशोऽनन्यार्थो दोषा एवं विनाशिताः ।

द्वाभ्यां पञ्चभिरग्रे तु गुणैर्दोषनिवारणम् ।।३७८।।

कारिकार्थ—तीर्थों, यज्ञों और ज्ञान से भी निश्चय से शुद्धि होती है । आगे मोह की निवृत्ति के लिए ऋषियों को ये तीन ही सिद्ध हैं । तदर्थ बलराम ने ऋषियों को

उपदेश दिया, उस (उपदेश देने) का अन्य कोई प्रयोजन नहीं था। इस (दो अध्यायों में दिए हुए उपदेश) से दोषों को दूर किया है और फिर पाँच अध्यायों से तो गुणों द्वारा दोषों का नाश करेंगे ।।३७७ ७८।।

व्याख्या—दो अध्यायों से पहले में धर्मी लीला कही है और दूसरे में ज्ञान लीला कही है अथवा क्रमानुसार आगे के पाँच अध्यायों से दोष नाश तथा फल के होने का प्रकार समझाया है। तीर्थ, यज्ञ करने से तथा ज्ञान से अन्तःकरणादि की शुद्धि होती है। बलरामजी के उपदेश से इन (ऋषियों) को शुद्धि के तीनों ही साधन प्राप्त हो गए, जिनसे दोष नष्ट हुए। ३७७-७८।।

कारिका—**दारिद्र्यनाशः सम्पत्त्या द्वाभ्यां तत्र निरूप्यते ।**
त्रिभिश्च त्रिविधानां च पूर्वोक्तानां च सर्वशः ।।३७९।।

कारिकार्थ—पाँच अध्यायों में से दो अध्यायों (७७-७८) में सम्पत्ति देकर दरिद्रता नाश की है। शेष तीन अध्यायों (७९-८०-८१) से ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के जीवों के दोष सम्पूर्णतः नाश किए हैं।।३७९।।

व्याख्या—पाँच अध्यायों से अवान्तर-प्रकरणों का विभाग कहते हैं। 'दारिद्र्य' इत्यादि दो अध्यायों (७७-७८) से सुदामा की दरिद्रता नाश करने के लिए सम्पत्ति देने का वर्णन किया हैं। तीन अध्यायों (७९-८०-८१) से पूर्व जो त्रिविध तामस, राजस तथा सात्त्विक भक्त कहे हैं, उनका ही सर्व प्रकार से दोष नाशपूर्वक फल कहा है और उसी तरह यहाँ जो द्विप्रकरणी है, उससे सप्ताध्यायों में पूर्व दोनों के साथ त्रिप्रकरणी है।।३७९।।

कारिका—**सुदामा ब्राह्मणः कश्चिदर्धं च ऋषिसम्मतः ।**
भार्या तु ब्राह्मणी तस्य नर्षी दारिद्र्यदर्शनात् ।।३८०।।
विरुद्धमुभयं कालात्तत्रैकस्य निवारणम् ।

कारिकार्थ—सुदामा नाम वाला कोई ब्राह्मण था, वह आधा ऋषि समान था, उसकी पत्नी दरिद्रता के आभास से ऋषित्व से हीन थी। अतः दोनों समान भाव वाले नहीं थे। काल बल से एक (सुदामा) का ऋषिपन तिरोहित हो गया ।।३८०½।।

व्याख्या—उस ब्राह्मण का नाम 'सुदामा' है, यह अन्य पुराण में कहा है। जिसको आधा ऋषि इसलिए कहा है कि स्वयं तो मैं दरिद्र हूँ, हाय ! मेरे पास धन नहीं है—ऐसे धन के अभाव का प्रभाव नहीं पड़ा था। अतः स्वयं ऋषि था, किन्तु उसकी पत्नी पर दरिद्रता का पूर्ण प्रभाव था, धन के लिए उत्सुक थी। अतः उसमें ऋषिपन नहीं था। पति-पत्नी एक कहा जाता है, स्त्री अर्धाङ्गिनी है। उसमें ऋषित्व होने से ही सुदामा अर्द्ध ऋषि माना गया। योजना को कहते हैं कि सुदामा अर्द्ध ऋषि ग्रामवासी होने से होगा—यों भासता है।

ऋषित्व तथा दरिद्रता का प्रभाव—ये परस्पर विरुद्ध हो गए हैं। काल के प्रभाव से स्त्री के संसर्ग द्वारा सुदामा भी धनार्थी बना, जिससे उसका ऋषित्व तिरोहित हो गया। भगवान् के पास याचन करने के लिए स्त्री के कहने से गया ॥३८०½॥

कारिका—**तत्र कृष्णः पुष्टिमार्गे स्त्रीणां चैव हिते रतः ॥३८१॥**
अतोऽर्धजरतीयं तं भक्तं चक्रे स्वसङ्गिनम् ।

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण ने अनुग्रहमार्ग में स्थित होने से अर्धऋषि तथा अर्धसंसारी भक्त को अपना साथी बना लिया तथा आप स्त्रियों के हित में ही आसक्त हैं ॥३८१½॥

व्याख्या—सुदामा भगवान् का सखा एवं भक्त था तथा ऋषि भी था, किन्तु काल ने ऋषित्व का निवारण किया। यह ही प्रतिबन्ध था, यों होते हुए भी भगवान् ने तो सुदामा का पुष्टि(अनुग्रह) मार्ग में अङ्गीकार किया है और आप स्त्री हितकर्त्ता हैं। सुदामा में अब अर्द्ध जरतीय न्यायानुसार ऋषित्व तथा अऋषित्व दोनों धर्म हैं—ऐसे को अपना बताया ॥३८१½॥

कारिका - **यथा हि भगवानत्र पूर्णकामोऽपि तिष्ठति ॥३८२॥**
तत्सङ्गिभिस्तथैवात्र स्थेयमित्येव निश्चितम् ।

कारिकार्थ—इस लीला से यह निश्चय किया है कि पूर्ण काम भगवान् आप स्वयं जिस प्रकार स्थिति करते हैं, उनके सङ्गियों को भी उसी तरह यहाँ रहना चाहिए ॥३८२½॥

व्याख्या—इस कथानक से यह निश्चित् शिक्षा मिलती है कि पूर्णकाम भगवान् जब भूमि पर अवतार लेकर विराजते हैं, उस समय जिस तरह स्थिति करते हैं, उसी तरह उनके सङ्गी मित्र व भक्त को भी अपनी स्थिति करनी चाहिए ॥३८२½॥

कारिका—**नाशो न कोऽपि भविता ऋषीणां चापि मोचकः ॥३८३॥**
अलौकिकं च प्रददौ न दूषणमिहाण्वपि ।

कारिकार्थ—भगवान् ने सुदामा की पत्नी को अलौकिक धन दिया, जिससे उस (सुदामा) को किसी प्रकार की हानि न होगी कारण कि प्रभु ऋषियों की मुक्ति करने वाले हैं ॥३८३½॥

व्याख्या—मुक्तिकर्त्ता भगवान् ने मुक्ति में बन्धन करने वाला धन इस (सुदामा) को कैसे दिया? जिस शङ्का को मिटाने के लिए यह कारिका कही हैं, जिसमें कहा है कि यह धन सुदामा को न देकर उसकी स्त्री को दिया। अतः सुदामा की कोई हानि नहीं हुई—न सुदामा का ऋषित्व

नष्ट हुआ और न ही परलोक बिगड़ा । कारण कि सुदामा भगवान् के पास वास्तव में धन की प्राप्ति की प्रार्थना करने नहीं गए थे, केवल स्त्री के आग्रह से वहाँ गए । किन्तु अन्तःकरण में भगवद्-दर्शन हो जायेंगे—यह भावना रही थी । भगवान् ने प्रत्यक्ष में वहाँ धन नहीं दिया—इससे प्रसन्न ही हुआ । लौटते समय मार्ग में धन न देने से भगवान् की कृपालुता मानने लगा—आने के बाद वैभव देख उसका उपभोग अनासक्त होकर किया । पत्नी को सन्तुष्ट रखा—यों करने से किसी प्रकार परलोक की भी हानि न हुई ।।३८३½।।

कारिका—**स्वतुल्यत्वाय तु कथा पूर्वं जाता निरूपिता ।।३८४।।**
समक्षं भगवांस्तंतु ऋषिमेवाऽकरोत्स्वतः ।
अतो न किञ्चित्प्रददौ भार्यायै तत्र दत्तवान् ।।३८५ ।

कारिकार्थ—सुदामा को अपने समान दिखाने के लिए पहले हुई कथा कही । भगवान् ने उसको प्रत्यक्ष में (सामने) धन नहीं दिया; क्योंकि उसको अपने सामने स्वतः ऋषि ही कर रखा, इसलिए इसको कुछ भी नहीं दिया, परन्तु उसकी पत्नी को घर बैठे सर्व प्रकार की सम्पत्ति दे दी ।।३८४-८५।।

व्याख्या—यह ही लीला बृहदारण्यक में 'अत्रा दो वसुदान' श्रुति द्वारा सुनाई गई है । यदि दोष लेश नहीं, तो फिर 'प्रायो गृहेषु' इत्यादि अनिष्ट का अनुवाद कसे किया ? यों करने का क्या प्रयोजन था ? इसका प्रयोजन इस (सुदामा) को अपने समान सिद्ध करने का था । यदि यों हैं, तो समक्ष क्यों नहीं दिया ? यदि समक्ष देते, तो सुदामा अप्रसन्न होता । इस प्रकार का उसका स्वभाव जानकर समक्ष नहीं दिया । धन की चाहना स्त्री को थी, इसको नहीं थी, यह धन के लिए नहीं आया था किन्तु दर्शनार्थ आया था, भगवद्दर्शन हो जाने से मनोरथ पूर्ण हो गया जिससे भगवत्समक्ष पूर्ण ऋषि बन गया, धनेच्छा का अत्यन्ताभाव होने से धन नहीं दिया, धन न देकर भगवान् ने अपना और उसका क्या अभिप्राय है, वह प्रकट कर दिखाया, अतः स्त्री को घर बैठे देकर उसकी कामना पूर्ण की ।।३८५।।

कारिका—**अनभिप्रेतपक्षे हि दानाभावो विशिष्यते ।**
अतोऽदाने तस्य तोषो गच्छतो वर्ण्यते पथि ।।३८६।।

कारिकार्थ—लेने वाले की दान लेने की इच्छा न हो, तो दान नहीं देना उत्तम है । इसलिए ही अर्थात् दान न मिलने से सुदामा ने मार्ग में जाते हुए सन्तोष वर्णन किया है ।।३८६।।

व्याख्या—इस ७८वें अध्याय में सुदामा ने भगवान् द्वारा कुछ न मिलने पर सन्तोष प्रकट किया है ।।३८६।।

कारिका—**सांसर्गिकस्य दोषस्य निवृत्त्यै भगवत्परः ।**
भक्तिमार्गानुसारेण विषयान् बुभुजेवशः ।।३८७।।

कारिकार्थ—सुदामा ने अपना चित्त भगवान् में स्थिर कर, विषयों के अधीन न होकर भक्तिमार्गानुसार अनासक्ति से विषय भोग किया, वह भी इसलिए कि सांसर्गिक (संसर्ग से उत्पन्न) दोष मिट जावे ।।३८७।।

व्याख्या—भगवान् ने सुदामा की स्त्री को सर्व प्रकार की सम्पत्ति दान की, क्योंकि वह (पत्नी) उस सम्पत्ति का उपयोग कर आनन्द लेना चाहती थी. यद्यपि सुदामा भोगेच्छु नहीं था तो भी स्त्री के सांसर्गिक दोष की निवृत्ति के लिए अनासक्त हो भगवान् में तत्पर हो के स्त्री की राज-पिपासा पूर्ण करने के लिए विषयों का भोग करने लगा, जिससे संसर्ग दोष का प्रभाव इस पर न पड़ा ।।३८७।

कारिका– **एवमृषित्वं भक्तत्वं धनं दारिद्र्यमेव च ।**
विरुद्धं स्थापयामास स्वकीयत्व प्रसिद्धये ।।३८८।।

कारिकार्थ—भगवान् ने सुदामा में अपनी स्वकीयता प्रसिद्ध करने के लिए ऋषिपन व भक्तपन और धन व दरिद्रता—ये परस्पर विरुद्ध गुण स्थापित किए ।।३८८।।

व्याख्या—सुदामा में अपना भक्तत्व स्थिर करने तथा उसके भक्तपन की प्रसिद्धि हो, तदर्थ भगवान् स्वयं जैसे विरुद्धधर्माश्रयी हैं, वैसे ही अपना भक्त सुदामा भी विरुद्ध-धर्माश्रयी है, यह सिद्ध करने के लिए उसमें ऋषिपन, तथा भक्तपन दोनों विरुद्ध धर्म स्थापित किये हैं तथा धन और दरिद्रता भी परस्पर विरुद्ध धर्म हैं वे भी इसमें स्थापन किये हैं—ऋषिपन भक्तपन की विरुद्धता यह है कि ऋषि वेद को ही, सबसे 'पर' प्रमाण मानते हैं भक्तजन भगवान् को 'पर' मानते हैं, धन जहां है वहां दरिद्रता नहीं, जहां दरिद्रता है वहां धन नहीं है, यह इनकी विरुद्धता स्पष्ट ही है—इसी तरह सुदामा में विरुद्ध धर्म स्थापित कर अपने भक्तपन की प्रसिद्धि की है ।।३८८।।

कारिका—**त्रिभिरग्रे तु भगवान् पूर्णं फलमुदीर्यते ।**
द्वाभ्यां द्वाभ्यां त्रिभिश्चैव फलत्रयमुदीरितम् ।।३८९।।
दुःखाभावसुखोत्कर्षौ कृष्णश्च त्रिविधस्तथा ।
सर्वेषां वाञ्छिताकारः स्त्रीणामत्यन्तवल्लभः ।।३९०।।
ऋषिदेवपितॄणां च लौकिकालौकिकत्वतः ।
फलदाता सर्वभावैः सर्वतोऽत्र निरूप्यते ।।३९१।।

कारिकार्थ—इसके आगे ७९-८०-८१ इन तीन अध्यायों से भगवान् ही पूर्ण फल हैं—यों कहा जाता है । दो-दो अध्यायों से और तीन अध्यायों से तीन फल कहे हैं– १. दुःख का अभाव, २. सुख का उत्कर्ष और ३. कृष्ण तीन प्रकार के हैं; यों कहा

है कि (१) श्रीकृष्ण का आकार [स्वरूप] सभी का इच्छित आकार है, (२) स्त्रियों को वह अत्यन्त प्रिय है तथा (३) ऋषि, देव एवं पितृगण सबको लौकिक-अलौकिक सर्व प्रकार से सर्वतः फलदाता है — यों यहाँ निरूपण किया जाता है ।।३८९–९१।।

व्याख्या—यों नवश्लोकों से दोनों का अर्थ कहा अब आगे के तीनों का भावार्थ कहने के लिए उससे सिद्ध हुए फल के स्वरूप को 'त्रिभिः'— — ' तीन कारिकाओं से कहते हैं। —तीन प्रकरणों से सिद्ध फल का ज्ञान सरल रीति से हो इसलिए पहले 'द्वाभ्यां द्वाभ्यां' पदों से समझाया है कि ७५-७६ अध्याय से दुःख नाश रूप फल कहा है और दूसरे दो ७७-७८ अध्याय से सुख रूप उत्तम फल का वर्णन किया है, तथा ७९-८०-८१ तीन अध्यायों से श्री कृष्ण के त्रिविध स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है, पहले ७९ अध्याय में १—श्री कृष्ण का ऐसा सुन्दर स्वरूप है जिस स्वरूप के दर्शन की सकल लोग इच्छा करते हैं, दूसरा स्त्रियों को अत्यन्त वल्लभ (प्रिय) है और तीसरा ऋषिदेव तथा पितर सबको लौकिक अलौकिक प्रकार से सर्वभाव से पूर्ण फल देते हैं इसी तरह श्री कृष्ण के तीन स्वरूप सिद्ध किये हैं।

वाञ्छित सुन्दर आकार न होता तो उसके दर्शनसे आनन्द प्राप्ति नहीं होती यहां तो 'आसन्न-च्युत सन्दर्श परमानन्दनिवृताः;' उनके दर्शन से परमानन्द मग्न हो गये हैं ।।३८९-९०-९१।।

कारिका—**तत्कालस्थाः सर्व एव वर्णा एते च मानुषाः ।**
सर्वतस्ते समागत्य कृष्णसान्निध्यदर्शनैः ।।३९२।।
शुद्धसात्त्विकभावं ते प्राप्ता रोधनमागताः ।
देहादिकं जगत्सर्वं विस्मृत्य भगवत्पराः ।।३९३।।
जाता इति फलं तेषां हरिरेव न संशयः ।
अन्ते च गोपिकाः प्रोक्ताः शुद्धसत्त्व प्रसिद्धये ।।३९४।।

कारिकार्थ—उस काल में जो ये मनुष्य स्थित थे, वे सब ही वर्ण वाले थे। वे चारों ओर से आकर भगवान् कृष्ण के सान्निध्य को प्राप्त हुए और दर्शन किए, जिससे शुद्ध सात्त्विक भाव को प्राप्त कर निरुद्ध हो गए। इस (निरोध प्राप्त करने के) कारण से सर्व जगत् को भूल गए एवं भगवत्परायण हो गए, यों उनका फल हरि ही है — इसमें संशय नहीं। अध्याय के अन्त में गोपियों के शुद्ध सत्त्व की प्रसिद्ध्यर्थ गोपिकाओं की कथा कही है ।।३९२–९४।।

व्याख्या—तामस भक्तों को राजस भाव की प्राप्ति हुई यह पहले कहा गया है अब उनका सात्विकपन होने का कहने के लिए अन्त में व्रजस्थों की कथा कही हैं जिसमें उनके शुद्धसत्त्व की प्रसिद्धि की है—शुद्धसत्त्व की प्रसिद्धि इसलिए की है कि—सत्व, ज्ञान उत्पन्न करने वाला है, यदि वह सत्व शुद्ध है तो उससे भगवत्स्वरूप के याथात्म्य का ज्ञान हो जाता है ।।३९४।

कारिका—**निरोधश्चापि तासां हि सर्वभावेन रूपितः ।**
तदन्ताः सर्व एवैत तत्फला इति निश्चितम् ।।३६५।।

कारिकार्थ—उनका ही निरोध सर्व भाव से वर्णन किया गया है,तब तक वे सर्व उपाय जो भी किए जाते हैं, वे साधन हैं। जिनका फल श्रीकृष्ण में निरोध है ।।३६५।।

व्याख्या—स्वरूप से सम्बन्ध हो जाने रूप फल प्राप्ति की अवधि ही निरोध है, यह निरोध गोपियों का सर्वभाव से पहले सिद्ध हुआ है, फिर उनकी कथा कहने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तदन्ताः' ये सर्व आदि से लेकर ज्ञानोपदेश तक जो भी उपाय है वे सर्व वहां तक ही है, अर्थात् ज्ञान सहित सर्वभाव पूर्वक निरोध रूप फल जब तक न मिला है, तथा पहले सर्वभाव होते हुए भी एवं परोक्ष उपदेश से परोक्ष ज्ञान होने पर जब तक वह प्रत्यक्ष नहीं होता है तब तक सर्व भाव की दृढ़ता के अभाव के कारण पूर्ण रूप से अच्छी तरह निरोध सिद्धि नहीं क्योंकि, ऐसी दशा में सर्वभाव के अनुभव का अभाव रहता है, इस कथा के कहने से यह निश्चय हो गया है कि गोपियों को सर्व भाव का अनुभव सिद्ध है जिससे पूर्ण निरोध सिद्धि हुई है ।।३६५।।

कारिका—**संसारो भगवांश्चैव विरुद्धं द्वितयं फलम् ।**
उभयैर्यत्सुखं तद्धि तासां पुष्ट्याऽभवत्तदा ।।३६६।।
तथैव प्रार्थितं ताभिः सम्मतं चापि वै हरेः ।

कारिकार्थ—संसार और भगवान् ये दोनों फल परस्पर विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों फलों (संसार तथा भगवान्) से जो सुख होता है, वह सुख उन (गोपियों) को प्राप्त हुआ। जिसका कारण भगवान् का अनुग्रह है अर्थात् भगवदनुग्रह से दोनों फल गोपियों ने भोगे। जिसका कारण गोपियों ने दोनों फल की प्राप्ति की प्रार्थना की थी, जिससे भगवान् भी सम्मत हो गए थे ।।३६६½।।

व्याख्या—इसी तरह उसका विवेचन कर 'संसार . . . . . हरेः'। तक को १½ कारिका से समझाते हैं कि, संसार तथा भगवान् ये दोनों फल परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात जहां संसार होगा वहां भगवान् नहीं होंगे और जहां भगवान् होंगे वहां संसार नहीं होगा किन्तु गोपियों को दोनों (संसार और भगवान्) फल साथ में ही प्राप्त हुए थे कारण कि भगवान् ने अनुग्रह कर ये दोनों फल उनके सिद्ध किए थे क्योंकि उन्होंने ने (गोपियों ने) ऐसी ही प्रार्थना ('आहुश्च ते नलिननाभ' श्लोक से यह सिद्ध होता है।) की थी, जिससे हरि भी सम्मत हुए थे। उस समय प्रभु ने सर्वात्मक स्वरूप से अनुग्रह किया था जिससे गोपियां दोनों फल निर्विरोध भोग सकीं ।।३६६-½।।

कारिका—**'न ज्ञानं न च वैराग्यं' यतः प्राह हरिः स्वयम् ।।३६७।।**
'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं' 'ये तु सर्वाणि' चोक्तवान् ।

कारिकार्थ—'ज्ञान' तथा 'वैराग्य' कल्याणकारक नहीं हैं; क्योंकि स्वयं भगवान् ने ऐसा कहा है। व्यक्त स्वरूप श्रीकृष्ण को सर्व कर्म अर्पण कर जो भजते हैं, उनको सर्वोत्तम फल शीघ्र प्राप्त होता है ॥३९७½॥

व्याख्या—भगवान् ने एकादश स्कन्ध में कहा है कि—'जो मेरी कथा में श्रद्धावान है, सर्व-कर्मों से ऊब गया है, जानता है, कि दुःख रूप कामनाएं हैं, फिर भी उनको छोड़ने में असमर्थ है. ऐसी अवस्था में दृढ़ निश्चयी हो, भक्ति (प्रेम से निरन्तर मन लगा कर मुझे भजता है— — — उसकी सर्व-कामनाएँ जो भी हृदय में स्थित हैं वे नष्ट हो जाती हैं क्योंकि मैं उसके हृदय में विराज-मान् हो गया हूं। अखिलों (सब) की आत्मा जो मैं हूं उसका उसने दर्शन कर लिया जिससे उसके हृदय की ग्रन्थि टूट जाती हैं, सकल संशय मिट जाते हैं, इसलिये जो मेरी भक्ति से युक्त योगी है मेरे में ही जिसकी आत्मा व अन्तःकरण है उनके लिए ज्ञान या वैराग्य बहुत करके श्रेयस्कर नहीं हैं, कारण कि, आखिलात्मक भगवान् के साक्षात्कार रूप फल को प्राप्ति हो जाने पर साधन रूप ज्ञान तथा वैराग्य का कोई प्रयोजन नहीं रहने से उनको अश्रेयस्कर कहा है अर्थात् वे भक्त के लिए लाभ-दायी नहीं हैं। गीता में भी अव्यक्त की प्राप्ति दुःख से होती है यों कह कर उस फल का अपकर्ष (हीनत्व) सिद्ध कर अपने व्यक्त स्वरूप फल को प्राप्ति का उत्कर्ष एवं सुख साध्य बताया है—अव्यक्त के उपासक भी चक्कर काट अन्त में उत्कृष्ट अतिम फल जो मैं हूं उसको ही प्राप्त होता (पाता) है ॥३९७-½॥

कारिका—**जीवतश्च स्थितिर्मृग्या तथा वृत्त्यादि सर्वथा ॥३९८॥**

स्वाभाविकं न दुःखाय परत्रेह च निश्चितम् ।

कारिकार्थ – देहधारी को जीते समय अपनी स्थिति किस प्रकार रखनी चाहिए? इसको ढूंढना चाहिए तथा जीने के साधन भी सिद्ध करने चाहिए। इसी तरह जो जीव (देह) धारी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता है, उसको लोक तथा परलोक में दुःख नहीं होता है—यह निश्चित् है ॥३९८½॥

व्याख्या—जिनका कोश (लिङ्ग देह) नाश हो जाता है उसका फल विदेह कैवल्य है, कि निरोध ? फिर गोपियों का जब लिङ्ग देह नष्ट हो गया तो उनको विदेह कैवल्य होना चाहिये न कि निरोध ? ऐसी दशा में निरोध क्यों ? इस शङ्का निवारणार्थ 'जीवत' इत्यादि कारिका कही है, 'आहुश्चतेनलिननाम' ततःकामैः पूर्यमाणः स व्रजः सहबान्धवः.' यहां तक के ग्रन्थ से उनके देह की स्थिति का ज्ञान होता है कि ज्ञानियों की तरह इनकी स्थिति है इसलिए ये भक्तिमार्गीय भक्त हैं, जिनका फल निरोध रूप हो हैं, उनका लिङ्ग देह तो नाश हुआ किन्तु उस देह ने आधिदैविक रूप धारण कर लिया इसलिए वे ज्ञानिवत् विदेह नहीं, तथा ऐसे देह में आधिदैविक सर्व शक्तिमान् रस स्वरूप परमात्मा प्रकट हो गये हैं जिससे उनको जीवन तक अपना देह स्थिर रखता है जिसके द्वारा प्रभु कृपा से दोनों फल साथ-साथ भोगते हैं,—यही ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग की उत्कृष्टता (विशेषता) हैं। संसार भोगते हुए भी भक्तजनों को भगवान् में ही व्यसन बना रहता है, इसलिए ऐसी स्वा-भाविक स्थिति के कारण लोक एवं परलोक में दुःख नहीं, इसी तरह प्रथमाध्याय का विचार किया ॥३९८-½॥

कारिका—**लोकद्वयेष्टग्रहं तुल्यं हरेर्नान्यत्परं सुखम् ॥३६६॥**
विरोध्यन्योन्यमन्यत्र याचितं तेन तद्विधम् ।

कारिकार्थ—संसार तथा भगवान् दोनों इष्ट फल तब होते हैं, जब वे हरि से प्राप्त किए जाते हैं, अन्यथा परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिए गोपियों ने दोनों फल परस्पर विरुद्ध न बने, इस प्रकार से माँगे थे ॥३६६½॥

व्याख्या—'संसार और भगवान्' दोनों फल हमको साथ में हों, ऐसी इच्छा की पूर्ति वे ही कर सकते हैं जो सर्व शक्तिमान् हों वे श्री कृष्ण ही हैं अतः गोपियों ने भगवान् से ऐसा ही फल माँगा, यद्यपि संसार और भगवान् एकत्र स्थित नहीं होते हैं; क्योंकि परस्पर दोनों फल विरुद्ध हैं, किन्तु भक्ति मार्ग की यही उत्कृष्टता है कि भक्ति मार्ग में दोनों विरोधी भी साथी बन जाते हैं। अतः भक्ति (पुष्टि) मार्ग में भक्त संसार (गृहस्थ) में रहते हुए भी भगवान के चरणारविन्दों में मन को आसक्त रख, उनका मकरन्द रस पान करते रहते हैं ॥३६६½॥

कारिका— **अतिदेशार्थमन्येषां निकटे कथनं मतम् ॥४००॥**
स्त्रीणां स्वस्वपतौ स्नेहः सहजस्तन्निवृत्तये ।
कृष्ण स्त्रीणां विवाहानां कथा त्वत्र निरूप्यते ॥४०१॥

कारिकार्थ—अतिदेशार्थ अर्थात् जो अन्य भी मेरे निकट हैं, उनको भी इसके प्रभाव का ज्ञान हो। इसलिए दूसरों की भी कथा कही है। स्त्रियों को अपने-अपने पति में सहज प्रेम होता ही है, उसको मिटाने के लिए यहाँ कृष्ण की स्त्रियों के विवाह की कथा निरूपण की है ॥४००-१॥

व्याख्या—द्वितीय अध्याय का विचार 'अतिदेशार्थं' आदि कारिकाओं से अध्याय के आरम्भ में जो 'अथ' शब्द दिया है, उसका आशय है कि गोपियों की तरह युधिष्ठिरादि और स्त्रियों का भी अधिकारानुसार निरोध का ज्ञान हो जाय। इसलिए अनुवादपूर्वक यह कथन है—यों तात्पर्य है।

पूर्वाध्याय में गोपियों के निरोध की कथा कही, वह कथा दूसरों को भी हितप्रद (लाभदायक) हो, इसलिए दूसरे अध्याय में युधिष्ठिर आदि के निरोध की कथा कही गई है। कृष्ण की स्त्रियों के विवाहों की कथा से स्त्रियों का लौकिक पति में जो स्नेह था, उसकी निवृत्ति कराई गई है, जिससे लोक तथा वेद के दोष से वे मुक्त हो जाने से निरुद्ध हो गई। उनको लोक-वेद विरोध-दोष परिहार के लिए आगे 'लोकाद्भयं' कारिका द्वारा समझाते हैं ॥४००-१॥

कारिका—**लोकाद्भयं गोपिकाभिः पूर्वमेव निवारितम् ।**
पुरुषोत्तमभावेन वैदिकं च निवारितम् ॥४०२॥

कारिकार्थ—गोपियों का लोक से भय पहले ही मिटा दिया है। अब पुरुषोत्तम के भाव दृढ़ होने से वैदिक भय भी मिटा दिया है। ४०२।

व्याख्या:—भगवद्भक्ति करने में लोक भय और लोक लज्जा नहीं करनी चाहिये, जैसे गोपियों ने भगद्भक्ति करते हुए लोक भय पहले ही त्याग दिया था अब उनको यह ज्ञान भी हो गया कि श्री कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं इससे 'पर' अन्य कोई नहीं है वेद से भी उत्कृष्ट 'पर' यही है जिससे गोपियों का वेद भय भी मिट गया। अतः उन्होंने अपना सहज प्रेम पतियों से निकाल, भगवान से किया— पतियों से प्रेम न निकालने में लोक-वेद भय ही कारण है- जो भय उनका नष्ट हो गया ।।४०२।।

कारिका—**उत्कर्षे तु श्रुते स्त्रीणां पूर्वभावो विनश्यति ।**
पश्चात्तापश्च जायेत विवाहख्यापनं ततः ।।४०३।।

कारिकार्थ– स्त्रियों ने जब श्रीकृष्ण का उत्कर्ष सुना व समझा, तब उनका पहला भाव नाश हो गया और यों पहले प्रकार के भाव करने का पश्चात्ताप करने लगीं। अतः विवाह का वर्णन किया गया है ।।४०३।।

व्याख्या जब भगवान् का उत्कर्ष सुना जाय तब उसमे पूर्व जो भगवान् से प्रेम न करने का भाव था वह नाश हो जाता है और पहले प्रकार के भाव करने का पश्चात्ताप होता है अर्थात् हमने श्री कृष्ण से अब तक प्रेम नहीं किया वह बहुत बुरा किया, इसलिए भगवान् श्री कृष्ण) का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही उनकी पत्नियों के विवाहों की कथा प्रसिद्ध की है। ।।४०३।।

कारिका—**कृष्णे कामाद्यभावाय दास्यं सर्वत्र वर्ण्यते ।**
सर्वभावेन सर्वासां विवाहकरणे क्षमः ।।४०४।।
सुतरां भक्तियुक्तानां लक्ष्मणायाः कथा तता ।

कारिकार्थ– श्रीकृष्ण में कामादि का अभाव है, यों दिखाने के लिए सर्वत्र अपना दास भाव ही दिखाया है। सर्व भाव से सकल स्त्रियों के साथ विवाह करने में श्रीकृष्ण समर्थ हैं. भक्ति वाली स्त्रियों के साथ सुतरां (सुन्दर प्रकार से) विवाह करते हैं तथा लक्ष्मणा की कथा विस्तारपूर्वक कही है ।।४०४।।

व्याख्या - श्री कृष्ण में कामादि दोषों के अभाव का प्रमाण (सबूत विवाह के समय पत्निओं की प्रकट की हुई अपनी दास्यभाव की प्रार्थना है भगवान् सर्व भाव से सकल स्त्रियों के भावानुरूप विवाह करने में समर्थ हैं। आचार्य श्री ने श्री सुबोधिनी में भगवान् की आठ पटराणियों को आठ भक्तियों का स्वरूप कहा है, उन भक्तिरूपा आठ पटरानियों से श्रेष्ठ रीति से विवाह हुआ है। भौमासुर के यहां से लाई हुई स्त्रियाँ आत्म निवेदनरूप नवमी भक्ति के स्वरूप हैं, यों उनकी कथा से ज्ञात होता हैं लक्ष्मणा के विवाह का वर्णन विस्तार से किया है, इस विवाह से भगवान् ने द्रौपदी का गर्व मिटाया है. यों आचार्य श्री सुबोधिनी में कहते हैं ।। ४०४½ ।।

कारिका—**द्रौपदी पुष्टिमार्गस्था ततः पृच्छति यत्नतः ।।४०५।।**
तदुत्कण्ठपराः सर्वा रुक्मिण्यादिवदेव ताः ।
जाता इति पुरा प्रोक्तात्फलादेतद्विशिष्यते ।।४०६।।

कारिकार्थ—पुष्टिमार्गीया द्रौपदी प्रयत्नपूर्वक पूछती है कि ये विवाह कैसे हुए ? अन्य सब उत्कण्ठित होकर सुनती हैं। इन कथाओं के सुनने से सब रुक्मिणी जैसी हो गई ।।४०६।।

व्याख्या—आचार्य श्री ने सुबोधिनी में इसका स्पष्टीकरण किया है कि इन कथाओं के श्रवण से अन्यों का भी धीरे-धीरे भगवान् में रुक्मिणी जैसा प्रेम हो गया जिससे वे भी वैसी तन्मय हो गईं। ।४०५ ४०६ ।।

कारिका—**विस्मयाविष्टचित्तानां भविष्यति तथा हरिः ।**
पूर्वोक्तानामपि तथा क्रमवृद्ध्या क्षणे क्षणे ।।४०७।।
महिषीणां यथा भावस्तथा साधु भविष्यति ।

कारिकार्थ—पूर्व (पहिले) कही हुई विस्मययुक्त चित्त वाली स्त्रियों का भी हरि वैसे ही निरोधकर्त्ता होंगे, जिससे उनका भी हरि या प्रेम क्षण-क्षण में बढ़ता रहेगा एवं वह प्रेम पटरानियों के प्रेम के समान ही उत्तम प्रेम होगा ।।४०७।।

व्याख्या—साधन न करने पर भी अन्यों का यह भाव कैसे हुआ ? इस पर कहते हैं— 'विस्मयाविष्ट....... —... ... भविष्यति' पटरानियों के विवाह की कथा सुनते हुए जो अन्य स्त्रियाँ विस्मय युक्त हो गईं, उनका भी भगवान् ने कृपा से निरोध किया जिससे उनका भी भगवान् में वैसा ही उत्तम प्रेम धीरे-धीरे होने लगा जैसा पटराणियों का था, यों आठ कारिकाओं से दूसरे अध्याय का विचार किया ।४०७½।

कारिका—**लौकिकानखिलानेवं समुद्धृत्य मनीषया ।।४०८।।**
वैदिकानृषिदेवांश्च पूर्वभावस्य सिद्धये ।
ततः प्रभृति पूज्यन्त इति न्यायेन वै हरिः ।४०९।।
स्तोत्रं तेषां चकाराऽऽद्ये निरोधार्थं तु ते पुनः ।
विपरीत सर्वमाहुः शास्त्रार्थोऽयं हि पुष्टितः ।।४१०।।
सान्निध्यादेव सर्वेषां हृद्येवं समुपागतम् ।
अनेनैवोपदेशोऽभूत् फलं चाऽपि समं मतत् ।।४११।।

कारिकार्थ—सकल लौकिक पुरुषों का इस प्रकार उद्धार कर अनन्तर वैदिक ऋषि तथा देवों के पूर्व भाव की सिद्धि हो, जिससे वे पूजनीय बने—इस आशय से हरि ने प्रारम्भ में उनकी स्तुति की। वे तो अपने निरोध के लिए उससे जो विपरीत कहते हैं, वह शास्त्रों का अर्थ (तात्पर्य) है। उस समय भगवान् का सान्निध्य था। अतः अनुग्रह से यह समस्तों के हृदय में यों स्थिर हो गया अथवा समझ में आ गया ।।४११।।

व्याख्या—तीसरा अध्याय 'लौकिका नखिलानेवं'.... .. .. कारिकाओं से विचारते हैं, वैदिक ऋषि तथा देवों का आगे की तरह फिर पूजनादि हो इसलिए भगवान् ने आदि में ही इनकी बुद्धि पूर्वक स्तुति की है, यह न्याय भारत तथा पाद्म पुराणों आदि में प्रसिद्ध है, अर्थात् भगवद्भक्ति करने से जिनमें भगवदावेश आ जाता है और फिर जिनका भगवान् ने सन्मान् किया है वे जीव इस समय से सकला लोगों के पूज्य बनते हैं—? वे कारिका में 'तु' शब्द पूर्व पक्ष के निरासार्थ दिया है यों कहने का अभिप्राय 'ते पुन:" मे कहते हैं—ऋषि लोग भगवत्स्तुति से प्रसन्न नहीं हुए कारण कि वे अपना भगवान् में निरोध चाहते थे, इसलिए इसके (भगवान् के वचनों के) विरुद्ध कहने लगे, अर्थात भगवान् के स्वरूप का वर्णन कर उसको प्रणाम कर उनके दर्शनों से अपने को कृतकृत्य मानने लगे। ऋषि लोगों ने जो कहा वह ही शास्त्रों का तात्पर्य है। अत: वह तात्पर्य वहां जो भी उस समय उपस्थित थे उनके हृदय में वह स्थिर हो गया कारण की भगवान् स्वयं वहां उस समय विराजमान थे जिससे जाना जाता है. कि इसमे भगवान् की भी सम्मति थी। इस चरित्र व लीला से भगवान् ने दूसरा कार्य भी सिद्ध किया अर्थात् फल की भी प्राप्ति करवाई—इसी तरह सबको अधिकारानुसार निरोध सिद्ध हो गया। ।। ४०८-४११ ।।

कारिका—**प्रमेय बलमासाद्य यादवानां फलं पुनः।**
कृत सन्देहजननात्प्रमाणेनोच्यते पुनः ।।४१२।।

कारिकार्थ - प्रमेय बल द्वारा जो फल यादवों को प्राप्त कराया था, उसमें सन्देह उत्पन्न होने से पुनः वह प्रमाण से कहा जाता है ।।४१२।।

व्याख्या—जब सबको पूर्ण फल मिला तो फिर शेष क्या रहा था, जो वसुदेव जी के यज्ञ की कथा कहने में आई? ऐसी आकांक्षा होनेपर उसका प्रयोजन कहने के लिए पहले प्रश्न प्रयोजन 'प्रमेय --' कारिका से कहते हैं कि इस सात्विक प्रकरण के प्रमेय प्रकरण में प्रमेय बल से यादवों को दोषाभाव रूप फल प्राप्त कराया, किन्तु नीति से उसमें सन्देह उत्पन्न हुआ उनको सदोष कहा, इसलिए फिर प्रमाण से उनकी निर्दोषता सिद्ध की गई है। जिससे वसुदेव के यज्ञ की कथा कही है ।।४१२।।

कारिका—**वसुदेवस्य सम्प्रश्नस्ततो यागार्थमुच्यते।**
ईशलीलां सुदुर्बोधां मत्वा ते संशय गतः ।।४१३।।

कारिकार्थ—यज्ञ होना चाहिए, इसलिए वसुदेव का प्रश्न कहा है। भगवान् की लीला समझनी कठिन है, यों मानकर वे संशयग्रस्त हुए ।।४१३।।

व्याख्या—उस हेतु से यज्ञ के लिए वसुदेव का प्रश्न है। वे अर्थात् यादव भगवान् की दुर्बोध लीला न समझने से संशय को प्राप्त हुए। ।। ४१३ ।।

कारिका – **नारदः पूर्ववत्प्राह सर्वसन्देहवारकः।**
सात्त्विक प्रक्रियायां हि प्रमाणं न हि दर्शितम् ।।४१४।।
ततः कृष्णकृतं सर्वं लौकिकं मेनिरेऽखिलाः।

कारिकार्थ—सकल सन्देहों को मिटाने वाले नारद अब भी पहले की तरह कहते हैं अर्थात् सन्देह मिटा देते हैं। सात्त्विक प्रकरण में प्रमाण नहीं दिखाया है। इससे श्रीकृष्ण के किए हुए कार्यों (लीलाओं) को सब लोग लौकिक मानते थे—इस संशय को नारद ने मिटा दिया ॥४१४॥

व्याख्या—इतने से ही इस प्रकार संशय कैसे हुआ? इसका उत्तर 'सात्विक प्रक्रियायां' कारिका से देते हैं कि, सात्विक प्रकरण में प्रमाण नहीं दिखाया है इसलिए इनको (यादवों को) संशय हुआ, कारण कि ये खल हैं जैसे कहा है कि 'यादवनितरामपि' ॥ ४१४ ॥

कारिका— **अतो यागोत्सवो जातौ लौकिकं वैदिकं तथा ॥४१५॥**

एकीभूयाभवद्भक्तौ तेन सर्वेऽभवन् समाः ।

सर्वेषां सर्वभावो हि फलादपि हरिः फलम् ॥४१६॥

सात्त्विकप्रक्रियायां हि सर्व एव निरूपिताः ।

निर्गुणत्वं समापन्ना निरोधोऽत्रैव रूपितः ॥४१७॥

कारिकार्थ—इस कारण से यज्ञोत्सव हुआ, लौकिक तथा वैदिक दोनों साथ ही सर्व भक्ति में उपयोगी हुए, जिससे सब समान बने, सभी का भगवान् में सर्व भाव दृढ़ हो गया और समझने लगे कि सर्व फलों से उत्तम फल हरि ही है। इसी तरह सात्त्विक प्रकरण में सब सात्त्विक बन गए, यों निरूपित है। सात्त्विक होकर निर्गुणता को प्राप्त हुए, यहाँ ही निरोध बताया है ॥४१७॥

व्याख्या—अब संशय की निवृत्ति का प्रकार बताते हैं कि, अतः अर्थात् इस संशय निवृत्यर्थ ही लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार से यज्ञोत्सव सिद्ध हुआ, यह लौकिक वैदिक यज्ञ का सर्व कार्य भक्ति के लिए हुआ था, जिससे भक्ति में उपयोगी हुए इसमे अर्थात् यज्ञ क्रिया भक्ति में उपयोगी होने से सब यादव जो राजस हुए थे वे भी अब चित्त की विषमता दूर होने से समान हो गये अर्थात् सात्विक बन गये, राजसादिकों का सात्विक बनना शेष था इसलिए इस कथा का अवतरण किया गया है, इसी तरह सबकों पूर्ण फल निरूपण कर, उपसंहार करते हैं कि 'सर्वेषां ········ हरिः फलम्' सबों का भगवान् में सर्व भाव दृढ़ हो गया और समझ गये कि सकल फलों से उत्तम फल हरि ही हैं, इस प्रकार सात्विक प्रकरण में सब 'सात्विक बने', अनन्तर ही निर्गुणता को प्राप्त कर निरोध-सिद्धि को प्राप्त हुए, छान्दोग्य में जो दो भेद अहङ्कारादेशात्मा देश कहे हैं वे यहां जब पूर्ण सिद्ध हुए तब यहां स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध पूर्ण सिद्ध हुआ, यों अर्थ (तात्पर्य) है। इसी तरह ११३ कारिकाओं से सात्विक प्रकरण का विचार किया है।

॥ इति सात्विक-फल-उप-प्रकरणं-समाप्तम् ॥

॥ श्री हरिः ॥

• भूमिका •

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

इस सात्त्विक-फल-प्रकरण में स्पष्ट दुःखाभाव रूप फल देने के लिए श्रीकृष्ण ने तीन प्रकार के दुष्टों का वध कर जब पुर में प्रवेश किया, तब देव, मानव और मुनियों ने पुष्प वर्षा के साथ आपकी विजय का गान किया। यह कार्य ऐश्वर्य का बोधक है और जब आपने नगर में प्रवेश किया था, तब आपके हाथ में शस्त्र नहीं थे, तो भी यादवों ने आपकी आज्ञा का पालन किया—यह कार्य भी आपके ऐश्वर्य को प्रकट करता है। बलरामजी ने देखा कि अधम वक्ता से यदि कथा सुनी जावेगी, तो पाप लगेगा—उस पाप का स्पर्श सर्व साधारण को भी न होवे, हालांकि कलि काल के दोष के कारण ऋषियों ने अधम वक्ता को कथा करने के लिए स्थापित किया है, तो भी इसका वध करना उचित जान कर वध किया, फिर ऋषियों के सन्तोष के लिए सकल सामर्थ्य वाले, भागवत कथा श्रवण-कथन के अधिकारी, अपने अवतार रूप उसके पुत्र को स्थापित कर अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित किया है—इत्यादि से इस सात्त्विक-फल-प्रकरण के प्रथम अध्याय में अपने ऐश्वर्य धर्म का आविर्भाव किया है।

द्वितीय अध्याय में भगवान् ने पाण्डवों में अपना सामर्थ्य स्थापित कर सर्व प्रकार से सहायता देने से अपना वीर्य धर्म दिखाया है। बलरामजी ने भी ऋषियों के असाधारण दोष रूप बल्वल का वधकर तीर्थों में जो दैत्य सम्बन्ध से वर्णाश्रम धर्मनाशक दोष उत्पन्न हो गए थे। उनका तीर्थाभिषेक द्वारा नाश कर अपना वीर्य प्रकट कर दिखाया है और ऋषियों को ज्ञानोपदेश देकर उनका श्रीमद्भागवत श्रवण में अनन्य रूप उत्तम अधिकार सिद्ध किया है—यह भी वीर्य कार्य है। अतः इस अध्याय में वीर्य निरूपण हुआ है।

भगवान् ने तीन प्रकार के दुष्टों के वध से पाण्डव और यादवों के तीन गुणों द्वारा उत्पन्न दोषों की निवृत्ति की, जिससे उनके स्पष्ट और अस्पष्ट दुःख मिटा दिए। बलरामजी ने सूत के वध से काल दोष की निवृत्ति की। बल्वल के वध से और तीर्थाभिषेक से देश के दोषों की निवृत्ति की। यज्ञ और ज्ञान से आत्मा के दोष की निवृत्ति की, जिससे दुःख का अभाव हुआ। सूत के वध से ऋषियों का अस्पष्ट जो दुःख का हेतु था, उसको मिटाया। तीर्थ स्नान से दैत्य सम्बन्ध को हटा दिया और सर्व लोगों के जो अस्पष्ट दुःख के हेतु थे, उनको भी मिटाया—यों अध्याय द्वय का विभेद है। इस फल-प्रकरण के तीसरे अध्याय में सुदामा ब्राह्मण को सुखोत्कर्ष रूप फल के दान के लिए और पूर्ण ऋषित्व एवं भक्तत्व रूप अलौकिक सम्पत्ति सम्पानार्थ भगवान् ने भ्राता के समान सम्मान एवं सम्भाषणादि यशो रूप कार्य कर यश धर्म प्रकट किया है।

इस फल-प्रकरण के चतुर्थ अध्याय में सुखोत्कर्ष रूप फल को देने के लिए तण्डुल की मुष्टि आरोग कर परोक्ष में ही ब्राह्मण स्त्री को लौकिक सर्व प्रकार की समृद्धि दान कर अपना श्री रूप धर्म प्रकट किया है।

इस फल-प्रकरण के पाँचवें अध्याय में जिसकी जैसे स्वरूप के दर्शन की इच्छा थी अथवा अधिकार था, उसी आकार से श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में आए हुए सर्व मनुष्यों में अपने सान्निध्य एवं दर्शन आदि से शुद्ध सात्त्विक भाव उत्पन्न कर देह आदि समग्र जगत् उनको भुला दिया एवं मैं सबसे पर हूँ—यह भी जनाकर अधिकार अनुसार स्वरूपात्मक फल को देने के लिए सर्व लोक प्रसिद्ध वैसे काल को निमित्त बनाया, जिससे कुरुक्षेत्र में सर्व मनुष्यों का आना और अपना भी वहाँ जाना हुआ। समस्त मनुष्यों के निरोध के उपाय का ज्ञान ही जड़ है और गोपियों को सर्वात्म भाव से निरोध करने के लिए अन्त में साक्षात् ज्ञानोपदेश देने से ही इस पाँचवें अध्याय में ज्ञान धर्म का निरूपण हुआ है।

इस फल-प्रकरण के छट्ठे अध्याय में स्त्रियों को अत्यन्त प्रिय कृष्ण को ही फल रूप बताने के लिए सर्व स्त्रियों का अपने-अपने पति में विद्यमान जो सहज प्रेम था, उसकी निवृत्ति के लिए अपने प्रथम किए हुए का पश्चातापपूर्वक और कृष्ण में स्नेह वृद्धि के लिए द्रौपदी के पूछने पर श्रीकृष्ण की स्त्रियों ने लोक और वेद से भगवान् का उत्कर्ष प्रकट करने वाला अपने-अपने विवाह का ढङ्ग कह कर यह आशा व्यक्त करते हुए प्रार्थना की कि हमको भगवत्सेवोपयोगी देह को सम्पादन करने वाला जो दास भाव है, वह प्राप्त हो तथा चरण रज की प्राप्ति हो—यह प्रार्थना की। इससे उन्होंने यह सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण की हमारे में काम वासना नहीं है। अतः यहाँ वैराग्य धर्म प्रकट कर दिखाया है।

इस सप्तम अध्याय में सर्व साधन सम्पन्न ऋषि भगवान् के दर्शन करने के लिए आए और आकर भगवान् की स्तुति की, जिसमें आत्म समर्पण कहने से यह सिद्ध किया है कि ऋषि, देव और पितरों का अत्यन्त प्यारा श्रीकृष्ण का स्वरूप ही फल है। यादव सात्त्विक भगवदीय बने, तदर्थ भगवान् ने उनमें संस्कार मात्र से स्थित राजसत्व दोष को प्रमेय बल से मिटा दिया था तो भी जब भगवान् ने उद्धवजी से पूछा कि नारदजी युधिष्ठिर के यहाँ चलने के लिए कहते हैं और दूत राजाओं को मुक्त कराने के लिए प्रार्थना कर रहा है, अब हम क्या करें? ऐसा प्रश्न करते देख यादवों को कृष्ण में भगवत्व का सन्देह उत्पन्न हुआ और लौकिक बुद्धि जगी; क्योंकि उनका पूर्ण रीति से निश्चित् निरोध न हुआ था। अतः उनके दोषों का पुनः प्रमाण बल द्वारा नाश कर उसके बाद सात्त्विकपन और भगवदीयत्वपूर्वक सर्व भाव से पूर्ण निर्गुणता सम्पादक निरोध के लिए वसुदेवजी ने कर्म से कर्म निर्हार का उपाय ऋषियों से पूछा, अन्त मे नारदजी ने सर्व सन्देह निवृत्त कर समझाया कि कृष्ण ही यज्ञ फल रूप है, उनके लिए ही यज्ञादि करने से लौकिक-वैदिक साधनों की सफल सिद्धि होती है और एक ही भाव से सर्व दोष निवृत्ति हो गई जिससे यादवों में सात्त्विक और भगवदीयत्व सिद्ध हो गया। सर्वात्म भावपूर्वक पूर्ण निरोध तथा निर्गुणत्व भी सिद्ध हुआ। सात्त्विक-प्रकरण में सर्व ने अवभृथ स्नान से भी वही फल सिद्ध किया—स्वरूप से ही परमानन्द लक्षण रूप फल दान से धर्मी का निरूपण हुआ है।

॥ श्री हरिः ॥

दशम स्कन्ध की सुबोधिनीजी की महत्त्वपूर्ण पंक्तियों का अर्थ

श्रीकृष्ण अवतार किसी भी अंश से अथवा अज्ञात शक्तियुक्त अन्य अवतार जैसा नहीं है, परन्तु पूर्ण शक्ति वाले साक्षात् पुरुषोत्तम का ही है—(१०-७४-३१)। आपका अवतार इसलिए हैं कि दुष्टों का निराकरण करना, जिसके ऐसे दोष हों—जिनका निराकरण अशक्य हो, उनका स्वरूप से नाश करना, दूसरों को दोष सम्बन्ध से दूर करना ....आपके चरणों के अनुसरण का ही जिनका स्वभाव है, उनके उदय के लिए अथवा मुक्ति के लिए अथवा उनका संसार मिटाने के लिए या संसार के लिए आप ही अवतरित होते हैं—(१०-२४-६)। भक्तों के दुःख नाश करने के लिए ही श्रीकृष्ण अवतार माना गया है। जो भक्त शास्त्ररहित हैं, जो स्त्री हैं, जो शूद्र हैं, जो द्विजबन्धु (जन्म से ब्राह्मण; पर-कर्म से नहीं) हैं, उनके भी उद्धारक श्रीकृष्ण हैं—(१०-१-१७)। प्राणी मात्र को मोक्ष देने के लिए भगवान् प्रगट हुए हैं। इससे यह प्राकट्य मोक्ष के लिए ही हैं, नहीं तो असाधारण प्रयोजन न होने से प्राकट्य न हो। भूभार हरणादि तो अन्य रूप से भी सम्भव है। अतः भगवान् की अभिव्यक्ति प्रागट्य मोक्ष के लिए ही है...................अपना अथवा दूसरे का अन्य प्रयोजन न होने के कारण यदि साधन की अपेक्षारहित मुक्ति न दें, तो प्रागट्य का प्रयोजन ही न रहे—(१०-२६-१४)।

इस लोक में जो जन्म लेता है, वह सामान्य रूप से ही अपनी गति को नहीं जानता। यदि जान भी ले, तो उसके बाद दोष दूर करके उसे प्राप्त करने का ज्ञान, फिर शास्त्रानुसार क्रम से साधनों का अनुष्ठान, फिर आत्म प्राप्ति फिर ब्रह्मात्म भाव, फिर भगवद् ज्ञान, फिर भगवान् के स्थान का दर्शन; यह सब करोड़ों जन्मों के द्वारा भी नहीं हो सकता—(१०-२५-१३)।

अलौकिक (भौतिक विषयों से इतर) में भगवान् ही साधन है—(१०-६१-४)। यहाँ प्रमेय (भगवान्) में विधि नियामक नहीं है, इसलिए भगवान् के लिए कोई विहित या निषिद्ध (कोई कार्य करने योग्य या न करने योग्य नहीं है। भगवान् जिसका रक्षण करते हैं, उसका नाश नहीं होता है—(१०-२-२८)।

साधन सम्पत्ति से हरि किसी पर प्रसन्न नहीं होते हैं। भक्तों के लिए 'दैन्य' यही प्रसन्न करने का साधन है। प्रसन्न हुए भगवान् सब दुःखों का सब प्रकार से सर्वथा नाश करते हैं।

समर्पित अङ्गीकार:—मेरे लिए सम्पादन (प्राप्त) करके अपने अधिकारानुसार चाहे जहाँ जीव मुझे निवेदन करें, वहाँ मैं भक्षण करता हूँ................ऐसा करते समय स्थान से लाने से लगाकर मेरे समीप लाने तक स्नेह की अविच्छिन्नता (एक धारा) की आवश्यकता है—(१०-७८-४)।

संग्रहकर्त्ता— **गो०वा० श्री गोपालदासजी झालानी**
भूतपूर्व प्रधानमन्त्री : अ०भा०पु० वैष्णव परिषद्
सम्पादक : 'श्री वल्लभ विज्ञान'

राग सारंग

अर्थ करो पंडित अरु ज्ञानी ।
रवि के अन्त आगम दधि-सुत के, द्वै षट् चार अधिक छबि बानी ।।१।।
नहिं व्रजवनिता, नहिं सुर वनिता, नहिं राधा सहचरी सयानी ।
नहिं नर नारी भरम जिन भूलो ब्रह्म सृष्टि में यह नहीं उपानी ।।२।।
सारंग-सुत सारंग-चक्षु दीने, सारंग-सुता देख बिलखानी ।
कनक सहोदर वश कर लीने, सूर, गूढ निज संतन जानी ।।३।।

सूरदासजी कहते हैं कि जो पंडित (विद्वान और ज्ञानी हैं वे इस पद का अर्थ करें । 'रवि के अन्त'— सूर्य के अस्त होने पर तथा 'आगम दधिसुत के' चन्द्रमा के उदय होने पर अर्थात् संध्या के समय, "द्वै षट्" बारह अर्थात् बारह प्रकार के आभरण (उबटन, केश संवारण, मांग में सिन्दूर, लिलाट पर केसर की आड, भृकुटी के बीच में बिन्दी, नेत्र में अंजन', ताम्बूल (पान) चर्वण ठोडी पर श्याम बिन्दु, अत्तर अंगराग, पुष्प माला धारण, हाथों में मँहदी, चरणों में महावर) तथा चार अर्थात् १२ और ४ हुए १६ सो सोलह शृंगार (चरण-नख से शिखा तक स्वर्ण, जडाउ आभुषण एवं वस्त्रों से सुसज्जित) से अधिक शोभा युक्त (युवती) है (वह) "नहिं व्रज वनिता,"— व्रज की महिला नहीं है— 'नहिं सुर वनिता' कोई देवांगना नहीं है— 'नहिं राधा सहचरी सयानी'— वह राधिका जी अथवा उनकी कोई चतुर सहेलीं भी नहीं है— 'नहिं नर नारी'— किसी मनुष्य की स्त्री जैसे रूपवती दमयन्ती आदि नहीं है— भरम जिन भूलों—ऐसा भ्रम कर के भी मत भूलो— क्यों कि 'ब्रह्म सृष्टि में नहीं उपानी'— ब्रह्मा की सृष्टि में वह उत्पन्न नहीं हुई है ऐसी सुन्दरी, सारंग चक्षु—मृग के जैसे सुन्दर नेत्रों में—सारंग सुत–दीपक का सुत अर्थात् काजल धारण कर कटाक्ष कर रही है जिसे देख कर सारंग-सुता अर्थात् पर्वत की सुता–पार्वतीजी, बिलखानो-उदास हो गई तथा कनक सहोदर-ब्रह्माजी के भाई महादेवजी 'वश कर लीने'–उस सुन्दरी ने वश में कर लिए हैं— सूरदासजी कहते हैं कि इस का रहस्य भगवद्-भक्तों ने जाना है है कि प्रभु को गर्व (अभिमान) नहीं रुचता है इसलिए मोहिनी स्वरूप के दर्शन दिये, महादेवजी को अभिमान था कि मैंने कामदेव को भस्म कर दिया है सो कोई स्त्री मुझे वश में नहीं कर सकती है तथा पार्वतीजी को अपने सौन्दर्य का गर्व था सो उन दोनों के गर्व का हरण मोहिनी रूप से किया । अतः- दैन्य ही प्रभु को प्रसन्न करने का एक साधन है

न हि साधन सम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्य चित् ।
भक्तानाम् दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम् ।।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण

आसरो एक दृढ़ श्रीवल्लभाधीश को

क्वचित्पाण्डित्यं चेत् न निगम गतिः सापि यदि न क्रिया,
सा सापि स्यात् यदि न हरि मार्गे परिचयः।
यदि स्यात्सोपि श्रीव्रजपतिरर्तिनेति निखलै-
र्गुणौरन्यः को वा विलसति विना वल्लभ वरम् ॥

—श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

[कोई अवतार (बुद्धावतार) में पाण्डित्य है, परन्तु वेद में गति नहीं—अतएव कवि जयदेवजी कहते हैं कि 'श्रुति जातं निन्दसि'। "श्री ऋषभदेवजी" में पाण्डित्य है, वेद में गति भी है, परन्तु वैदिकी क्रिया नहीं है—मल-मूत्रादि का प्रक्षालन नहीं करते हैं। "कपिल" अवतार में पाण्डित्य, वेद-गति और कृति भी है, परन्तु हरि के मार्ग का परिचय नहीं—अतएव मातृचरण देवहूतिजी को तत्त्वज्ञान का और तदङ्गत्वेन भक्ति का उपदेश दिया। "व्यासावतार" में पाण्डित्य, वेद में गति, वैदिकी कृति और हरि-मार्ग का परिचय होते हुए भी व्रजपति में रति नहीं; क्योंकि व्यासजी 'ज्ञानावतार' हैं और ज्ञान तथा भक्ति का विरोध है—अतः ये पाँचों गुण केवल श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण महाप्रभुजी में विद्यमान हैं। इसलिए दूसरों का आश्रय छोड़ केवल इनका आश्रय करना ही जीव का कर्त्तव्य है।]

पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थ

(१) **धर्म** — सर्वदा सब भावों से युक्त व्रजाधिप (श्रीकृष्ण) की सेवा करना।

(२) **अर्थ** — भगवान् श्रीकृष्ण को ही सर्वस्व मानना; क्योंकि इस लोक एवं परलोक के कार्य आप बिना प्रार्थना किए स्वयं ही सिद्ध करेंगे।

(३) **काम** — भगवान् गोपीजन वल्लभ को हृदय-कमल में धारण करना; क्योंकि आप सर्व 'काम' पूरक हैं।

(४) **मोक्ष** — श्री गोकुलेश भगवान् श्रीकृष्ण को हृदय में धारण करने के पश्चात् सर्वात्मा करके उनकी सेवा व स्मरण का त्याग न करना ही 'मोक्ष' है।

॥ श्री हरिः ॥

शुद्धि - पत्र

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

पृष्ठ	पंक्ति	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
२	६	३	बमरामजी	बलरामजी	१३१	३३	१६	सर्व एव	सर्व एव भगवदीया:
६	३७	७	सिंहवद्व्यनत्	सिंहवद्व्यनदत्				भगवदीयाश्च	भगवदीयाश्च
७	१३	८	भावत:	भगवत:	१३६	२९	२७	वीक्ष्याविस्मिता	विक्ष्यविस्मिता:
८	१३	९	तस्तस्य	ततस्तस्य	१४०	३५	३१	नन्दस्त्रेति	नन्दस्तत्रेति
१८	२३	२६	करती	करोति	१४०	३९	३२	तत्रागमद्व्रतो	तत्रागमद्वृतो
९	२४	२७	साक्षानिषिद्धा-	साक्षान्निषिद्धा-	१६२	२९	४	कश्चित्पूर्वभव	कश्चित्पूर्वभावं
			चरणधर्म:	चरणधर्म:	१६२	३०	४	तद्‌तार	तद्दातारं
२	१५	३०	यावत्सत्र	यावत्सत्त्वं	१६४	४	७	प्रकर	प्रकार
३	८	३१	योनेश्वरो	योगेश्वरो	१७०	९	११	अर्जन	अर्जुन
४	१५	३३	उपपति	उत्पत्ति	१७१	४	१२	भ्रतृन्	भ्रातृन्
[illegible]	२९	३८	सत्रमेत्य	सत्त्रमेत्य	१७१	३४	१३	दुमदेति	दुर्मदेति
[illegible]	७	३८	सत्रमिति	सत्त्रमिति	१७७	१८	२१	पित्ता	पित्रा
	२५	३९	परश्रश्रूषण	परशुश्रुषण:	१८५	१९	३४	उंद्धतेस्वासा	उद्‌धुतेस्वासा:
	६	१	अदृष्ट	अदृश्या	१८६	२९	३६	प्रवेश	प्रवेशं
	२२	१६	कुलालय	कुलाचल	१९५	२९	१	थों	थे
	२०	३०	ऋतुभि:	क्रतुभि:	१९५	३८	१	माधनस्य	साधनस्य
	१७	३१	सत्रम्	सत्त्रम्	२०३	३५	१३	तीथ	तीर्थ
	१०	९	प्रापका	आपका	२१४	३०	२५	जन्ममरणेक्ष्ना	जन्ममरणाद्बिना
	१	३९	कृत चेत्तत्राह	कृत इति चेत्तत्राह	२१७	४	२७	प्रकियान्तरमा-	प्रक्रियान्तरमा-
	१२	४४	भवानेव	भवानेव देवदेव। नापि				रदीक्ष्यते	रभतेर्द्वीक्ष्येति
			जगद्गुरु .	गुरु प्रसादो मृग्यते	२१८	५	२९	मत्सवरूपं	मत्स्वरूपं
				यतो भवानेव जगद्गुरु:।	२१८	१७	२९	यतेन	यतेरन्
	१२	३	अभक्ताका	अभक्त की	२१८	२४	२९	ऋषांणां	ऋषीणां
	८	८	परमप्राणनं	परमप्रीणनं	२२०	१८	३१	प्रर	पर
	२८	१०	तावच्छीर्जगृहे	तावच्छ्रीर्जगृहे	२२७	१२	३८	गाहस्थ्ये	गार्हस्थ्ये
	५	१७	आभसार्थ	आभासार्थ	२२७	१४	३८	स्वर्गादि-	स्वर्गादि-
	८	२७	कररवाला	करनेवाला				लोकानामीषणा	लोकामीषणा
०	३०	३०	आस्तरणानि	आस्तरणानि च	२२८	२९	३९	जानमानो	जायमानो
२	३३		बाध	बोध	२३७	६	५२-५३	दवविवाहे	दैवविवाहे
६	४०		भगवत्सुहृदा	भगवत्सुहृद्वा	२३७	९	५२-५३	क्रप्यनुषय	क्राप्यनुषय
६	९		दानाद्यर्यं	दानाद्यर्थं					

⁘ श्री सुबोधिनी ⁘

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी
मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

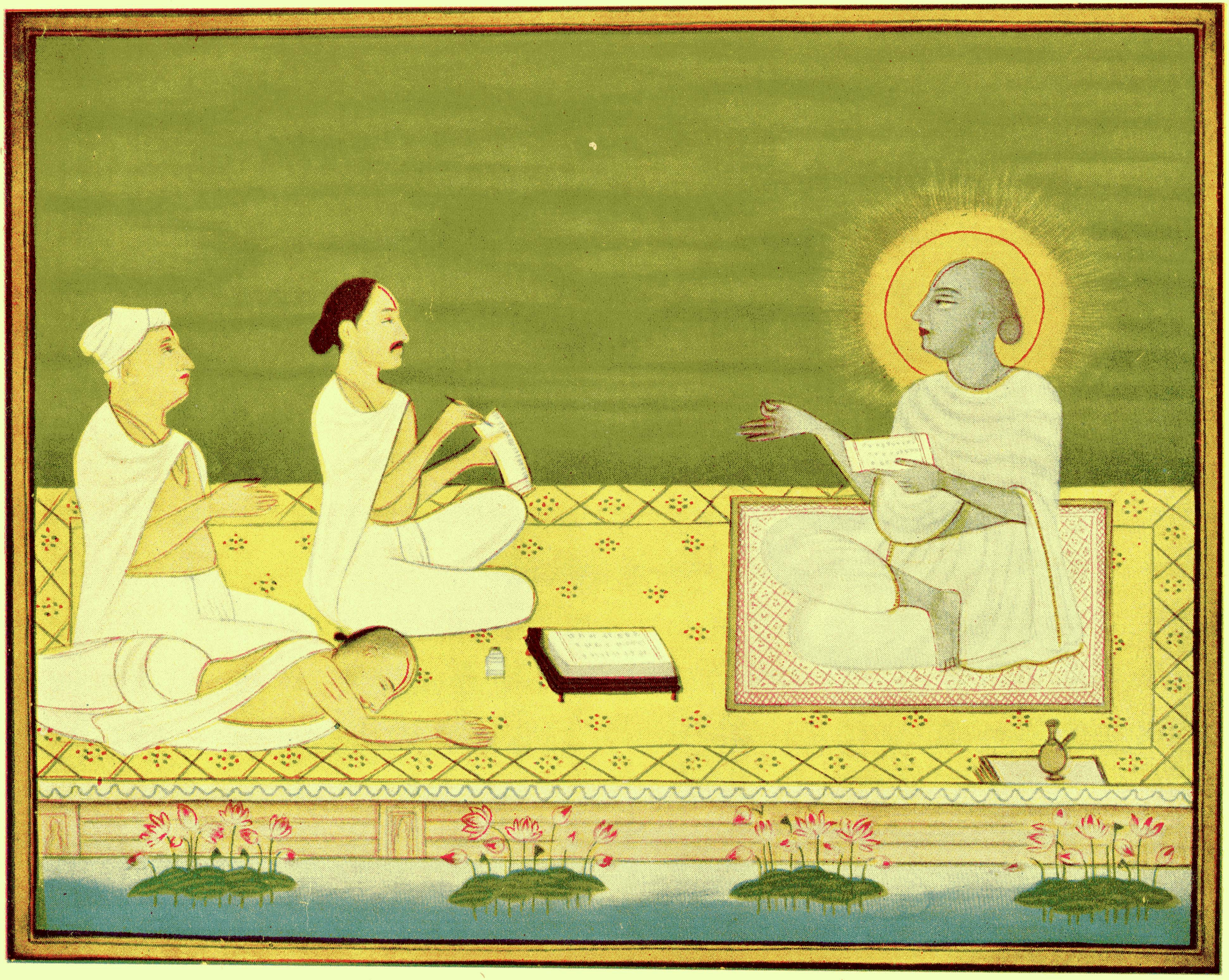

अखण्ड भूमण्डलाचार्य
चक्र चूडामणी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७८वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७५वां अध्याय

उत्तरार्ध २६वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" १

दन्तवक्र और विदूरथ का उद्धार तथा बलरामजी के हाथ से सूत का वध

कारिका—**बलभद्रस्य सत्कीर्तिरध्यायद्वितयेन हि ।**
निरूप्यते ऋषिप्रोक्ता येनासौ सुस्थिरीभवेत ॥१॥

कारिकार्थ—ऋषियों की कही हुई, बलभद्र की सत्कीर्त्ति दो अध्यायों से निरूपण की जाती है। ऋषियों ने इसकी कीर्ति की प्रशंसा की है जिससे इसकी कीर्ति पृथ्वी पर अच्छी तरह स्थिर होगी ॥१॥

कारिका **तीर्थाभिषेकाद् यज्ञाच्च ज्ञानस्याप्युपदेशतः ।**
कीर्तिर्जातानुभावाच्च माध्यस्थ्याच्चेति वर्ण्यते ॥२॥

कारिकार्थ—तीर्थों के अभिषेक से, यज्ञ करने से, अपने प्रभाव से और ज्ञान के उपदेश करने से भी कीर्ति बढ़ती है, भीम और दुर्योधन के युद्ध के समय, ये (बल-

रामजी) मध्यस्थ थे, उस समय भी आपने सत्य निर्णय दिया कि 'तुम दोनों तुल्य बल वाले हो' दुर्योधन जामाता थे तो भी इसका पक्ष नहीं लिया इस सत्य निर्णय से भी आपकी कीर्ति का सर्वत्र फैलाव हुआ है जिसका वर्णन किया जाता है।

कारिका—**विजयोयं यथा रामस्ततोऽध्याये निरूपितः।**
रामस्य कीर्तिरूपे च तद्भ्राता च तथाविधः ॥३॥

कारिकार्थ—बमरामजी की कीर्ति का जिस अध्याय में निरूपण हुवा है उसमें दन्तवक्र[1] की कथा भी कही है, जिसका कारण यह है कि जैसे बलराम[2] वैसे वह भी भगवान् का दास ही है और उसके भ्राता विदूरथ भी भक्त हैं। बलराम भक्त है, अतः उसकी (बलराम) की कीर्ति भगवान् की ही कीर्ति है ॥३॥

कारिका—**अतो भगवतो भृत्यास्त्रय एकत्र रूपिताः।**

कारिकार्थ—तीन ही भगवान् के भक्त हैं इस कारण से तीनों का ही वर्णन एक स्थान पर किया है ॥३½॥

आभास—तत्र प्रथमं भगवतः क्रियाशक्तिसमाप्त्यर्थं दन्तवक्त्र वधो निरूप्यते। दन्तवक्त्रस्यापि भगवत्सेवकत्वात्तन्मुक्तिश्च भगवत्कर्तव्येति अवतारप्रयोजनत्वेन निरूप्यते, पूर्वाध्यायान्ते दन्तवक्त्र समागत इत्युक्तं तत्किमर्थं केन प्रकारेणेति विस्तरेण निरूप्यते।

आभासार्थ—पहले दन्तवक्र का वध इसलिए निरूपण करते हैं कि भगवान् को यहाँ ही क्रिया शक्ति समाप्त कर देनी है, आगे क्रियाशक्ति से कार्य नहीं लेना है, दन्तवक्र भी भक्त है, इसलिए भगवान् को उसकी मुक्ति करनी है। मुक्ति करना भगवान् के अवतार होने का प्रयोजन है। जिसका निरूपण करते हैं। पूर्व अध्याय के अन्त में दन्तवक्र के आने का कहा है, अब वह क्यों आया? और किस प्रकार आया जिसका यहाँ विस्तार से निरूपण किया जाता है।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः।**
परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे, शिशुपाल शाल्व और पौण्ड्रक, इनके मर

१—दन्तवक्र विजयपार्षद है। २—बलराम, 'शेष' रूप से दास भृत्य है, दन्तवक्र विजय पार्षद होने से दास है।

जाने पर परोक्ष में अपना सुहृदयपन बताने के लिए (दुर्मति दन्तवक्र आया) ।।१।।

सुबोधिनी—यथा पत्नी भर्तृनिमित्तं प्रवृत्ता तन्मरणे स्वयमेव म्रियते तथा शिशुपालाद्यर्थं तन्मित्रम्, अयमपि जानन् मरणार्थमेवाऽऽगतः, न ह्यस्मिन्मृते तेषामुपकारो भवति तथापि **दुर्मतित्वात्**तथा कृतवान् । तत्र **शिशुपालो** राजसः, **दन्तवक्त्र**स्तामसः **पौण्ड्रकः** सात्त्विकः, एवंविधा बहव एव **अपि**शब्देन संगृहीताः । पतिव्रता च दुर्गतिं प्राप्तानामुद्धारार्थं म्रियत इति चेत्तत्राह **परलोकगतानामि**ति । तेषां भगवद्धस्तेन मरणात् परलोकः सिद्धः । **चकारा**दगतानामपि मुक्तानां वा । सौहृदं हि तैर्ज्ञातं तेषां सुकृतं भवति । प्रकृते तदभावेपि कृतवानित्याह **पारोक्ष्यसौहृद**मिति ।।१।।

व्याख्यार्थ—जैसे स्त्री पति के मरने पर स्वयं भी परोक्ष में पातिव्रत्य दिखाने के लिए मरती है, वैसे ही यह भी अपने मित्र शिशुपाल आदि के मर जाने पर अपना मित्रत्व दिखाने के लिए मरने के लिए ही आया । यद्यपि इसके मरने से उनका कोई उपकार नहीं होगा तो भी, मूर्ख दुर्मति होने से यों करने लगा । वहाँ उनमें से शिशुपाल राजस है, दन्तवक्र तामस है, पौण्ड्रक सात्विक है, इस प्रकार के बहुत ही 'अपि' शब्द से लिए गए हैं । पतिव्रता तो दुर्गति को जो प्राप्त हुए हैं उनको तारने के लिए मरती है, यदि यों कहते हो, तो यह भी परलोक गए हुए मित्रों के लिए ही मरने के लिए आया है । वे तो दुर्गति को प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु भगवान् के हस्त से मरने से उनका परलोक तो सिद्ध हो गया है । 'च' पद से यह बताया है कि जो नहीं गए हैं वा जो मुक्त हुवे हैं उन्होंने सौहृद ही जाना है उनका सुकृत ही होगा । किञ्च प्रकृत प्रकरण में उसका अभाव है तो भी यह मरने के लिए आया है, जिसका कारण बताते हैं कि 'पारोक्ष्यसौहृदम्' परोक्ष में भी मित्रता का धर्म पालन करता हूँ यों सिद्ध करने लिए ही आया है ।।१।।

'एकः पदाति' श्लोक में किस प्रकार आया है वह कहते हैं ।

श्लोक—**एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।**
पद्भ्यामिलां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ।।२।।

श्लोकार्थ—इकल्ला, प्यादल (पैदल) महान् बलिष्ठ, हाथ में गदा धारण किए, पाँवों से भूमि को कम्पाता, महान् क्रोध से युक्त दुर्मति दन्तवक्र देखने में आया ।।२।।

सुबोधिनी—मरणमेव चेद्वाञ्छितं किं सहायेनेत्ये**कः** । तत्रापि **पदातिः** । क्रोधाभावे पलायनं च स्यादिति **संक्रुद्धः** । निकटे गदया युद्धं भवतीति शीघ्रं मरणपर्यवसायी । तथापि भगवान्नमारयिष्यतीत्याशङ्क्य मारणार्थ**मिलां पद्भ्यां प्रकम्पयन्** इत्युक्तम् । **महाराजेति** तादृशो हन्यत इति बोधितम् । **महासत्त्व** इति तस्य युद्धार्थं प्रवृत्तौ साहसम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—जब मरना ही इच्छित है तो सहायकों की कौनसी आवश्यकता है ? अतः इकल्ला ही आया, उस पर भी प्यादल आया, मनमें क्रोध का जोश न होवे तो कदाचित् (शायद) लौट जाए इस पर कहते हैं कि महान् क्रोध से पूर्ण होकर आया था, इसलिए लौटने का विचार

करना ही व्यर्थ है। शीघ्र मरने के लिए युद्ध सामीप्य में होती है, अतः गदा ले आया जिससे युद्ध समीप हो, तो भी भगवान् न मारे, इसलिए पृथ्वी को पैरों से कम्पाता हुआ आ रहा था। हे महाराज! इस सम्बोधन से यह सूचित किया है कि भगवान् ऐसे का भी वध नहीं करते हैं, 'महासत्त्व' विशेषण से यह बताया है कि महान् बलिष्ठ होने के कारण ही युद्ध के लिए प्रवृत्त हुआ है ॥२॥

आभास—ततो भगवान् धर्मयुद्धमेव कर्तव्यमिति स्वयमपि तथाविधो जात इत्याह **तं तथायान्तमालोक्येति**।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने विचार किया, कि धर्मयुद्ध करना चाहिए, इसलिए आप भी वैसे ही हुवे वह 'तं तथा' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः।**
अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् ॥३॥

श्लोकार्थ—इस तरह आते हुए उस (दन्तवक्र) को देख भगवान् शीघ्र ही रथ से उतर कर गदा ले जैसे वेला (तट या किनारा) समुद्र को, वैसे उसको रोका ॥३॥

सुबोधिनी—**सत्वर** इति आगमनेन तस्य क्लेशाभावार्थमुक्तम्। **अवप्लुत्येति**, दर्शनानन्तरं न कोऽपि विलम्बः कृत इति वक्तुं **रथादुत्प्लवन**मुक्तम्। यतः **कृष्णः** कालरूपः। अतः सर्वयादवमारणार्थं प्रवृत्तं **सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात्** प्रतिधानं कृतवान् ॥३॥

व्याख्यार्थ—'सत्वर' शब्द से यह बताया है कि आने से कोई क्लेश नहीं हुआ। भगवान् ने उसको देखा, देखने के बाद कुछ भी देरी नहीं की। यह दिखाने के लिए कहा, कि देखते ही रथ से उतर पड़े, क्योंकि इस समय कृष्ण काल रूप थे, अतः सर्व यादवों के नाश वास्ते प्रवृत्त उस (दन्तवक्र) को ऐसे रोक लिया जैसे समुद्र को वेला (तट या किनारा) रोकती है ॥३॥

आभास—शीघ्रं भगवति समागते कदाचिद्भगवान् शाल्वस्य अयं पदातिः कश्चिदिति अवहेलया मुक्तिं न दद्यादिति स्वप्रयोजनप्रवृत्तिस्वरूपाणि निर्दिशति **गदामुद्यम्य कारूष** इति।

आभासार्थ—भगवान् शीघ्र आए, कदाचित् इसको शाल्व का यह कोई पदाति (पैदल) है, यों समझ मुक्ति न देवें, इसलिए अपने प्रयोजन के स्वरूपों का निर्देश करते हैं 'गदामुद्यम्य' श्लोक में।

श्लोक—**गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः।**
दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥४॥

श्लोकार्थ—मदोन्मत्त दन्तवक्र गदा उठाकर भगवान् को कहने लगा कि तूं आज मेरी दृष्टि में आया वह बहुत अच्छा हुआ ॥४॥

सुबोधिनी—स हि करूषदेशाधिपतिः । **मुकुन्दं** मोक्षदातारम् । **गदामुद्यम्य** स्वाधिकारं प्रदर्शयन् द्वारपालकत्वं वा ख्यापयन् उत्तमाधिकारी, स्नेहेनैव सायुज्यं प्राप्तुं योग्यः विरोधेन प्राप्तुमिच्छतीति **दुर्मदः**। अत एव विरुद्धमाह **दिष्ट्या दिष्ट्ये**ति। एतावानर्थः उभयत्रापि तुल्यः । **मम दृष्टिपथं गत** इति यदेतन्मम भाग्येन यस्तु मनोरथप्रकारेणान्विष्यते स जात इति ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह (दन्तवक्र) करूष देश का अधिपति है, मुकुन्द (मोक्ष देने वाले) को कहने लगा, अपने अधिकार को दिखाने के लिए अथवा अपना द्वारपालकपन प्रसिद्ध करते हुए अपने को अधिकारी बताना था, जिससे स्नेह से ही सायुज्य पाने के योग्य था किन्तु मदोन्मत्त होने से गदा उठाकर सामने आया जिससे समझा जाता है कि स्नेह नहीं, किन्तु विरोध से सायुज्य पाना चाहता है, अतएव विरुद्ध शब्द कहने लगा कि 'दिष्ट्या-दिष्ट्या' इतना अर्थ दोनों तरफ समान है, **मेरे भाग्य** से मेरे दृष्टि पथ पर आ गए, जिसको मैं मनोरथ कर ढूंढ रहा था वह आप सामने आ गए यह मेरा भाग्य ही है ॥४॥

आभास—आत्मानं स्थापयन् भगवत्संबन्धमाह **त्वं मातुलेय इति** ।

आभासार्थ—अपने को प्रकट करता हुवा भगवान् से सम्बन्ध बताता है 'त्वं मातुलेयो' श्लोक में ।

श्लोक—**त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मा जिघांससि ।**
अतस्त्वां गदया मदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥५॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! तुम हमारे मामे के पुत्र हो और मित्रद्रोही भी हो । हे मन्द ! मुझे मारना चाहते हो, इसलिए मैं वज्र जैसी इस गदा से तुझे मारूंगा ॥५॥

सुबोधिनी— नोस्माकं शिशुपालादीनाम्, **मातुलेयः** सुतरां नोस्माकम् । **कृष्णे**ति स्नेहात्संबोधनम् । **मित्रध्रुगि**त्युपालम्भः । वस्तुतस्तु कृष्णमित्राणि द्रोग्धीति सर्वसखा शिक्षक इत्युक्तम् । अत एव **मां जिघांससि** । अहमपि कृष्णमित्रमिति अपराधव्यतिरेकेण न मारयिष्यतीति प्रथममहमपराधं करिष्यामीत्याह **अतस्त्वां गदयेति** । **अमन्दे**ति छेदः । **हनिष्ये** प्राप्स्यामि । **गदया** सुषुम्णया । **वज्रकल्पया** । यथा वज्रेण वृत्रस्त्वां प्राप्तवान् ॥५॥

व्याख्यार्थ—तुम हमारे अर्थात् शिशुपाल आदि के मामे के पुत्र हो, कृष्ण ! यह सम्बोधन स्नेह के कारण दिया है । 'मित्रध्रुक' मित्र से द्रोह किया है यों कह कर उपालम्भ (ताना) दिया है, वास्तव में तो इस पद के कहने के भाव यह हैं कि 'कृष्णमित्राणि द्रोग्धि' इति कृष्ण मित्रध्रुक् अर्थात् सर्व के सखा तथा शिक्षक हो अतएव मुझे मारते हो, मैं भी कृष्ण का मित्र हूँ इसलिए बिना अपराध के तो नहीं मारेंगे, इसलिए पहले मैं अपराध करूँगा (करता हूं) इस वास्ते तुझे वज्र समान गदा से मारूँगा, अर्थात् प्राप्त करूँगा । जैसे वृत्र ने वज्र से तुझे प्राप्त किया, 'मन्द' के स्थान पर 'अमन्द' पदछेद करना, हे अमन्द ! हे सयाने ! अर्थात् आप सब जानते हैं ॥५॥

श्लोक—**तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।**
बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥६॥

श्लोकार्थ—हे मूर्ख ! देह में प्रेमवाला भी, देह में उत्पन्न रोग को नाश करता है, तब स्वस्थ हो जाता है। वैसे ही मैं भी, मित्र में प्रेम होते हुए भी बन्धुरूप शत्रु का नाश करूंगा। तब मित्रों के ऋण से उऋण होकर स्वस्थ हो जाऊंगा ।।६।।

सुबोधिनी— एवं सति 'तत्रानृणो भूतबलिं विधाय' इतिवत् **मित्राणामनृणो** भविष्यामि। यतोऽहं **मित्रवत्सलः** त्वं वा अमित्रवत्सलः दैत्येस्वपि कृपाकरणात्, मित्रवत्सलो वा सर्वेषामेव मित्रत्वात्। किं कृत्वा अनृणो भविष्यसीत्याकाङ्क्षामाह **बन्धुरूपमरिं हत्वेति**। बन्धुरूपो देहः बन्धो रूपमिव रूपं यस्य हितकर्तृत्वात् वस्तुतस्त्वरिः 'पृष्ठास्य बीजम्।' इति न्यायात्। नन्वात्मतया स्वीकृतः कथं मारणीय इति चेत्तत्र दृष्टान्तमाह **व्याधिं देहचरं यथेति**। अयं स्तुतिपक्षो व्याख्यातः। निन्दापक्षस्तु स्पष्टः। बन्धुरूपं मातुलपुत्रत्वात् मारकत्वादरिम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—जब यों होगा तब, जैसे भूतबलि देने से मनुष्य उऋण होता है वैसे ही मैं भी मित्रों के ऋण से उऋण बनूँगा। क्योंकि मैं मित्र वत्सल हूँ। तुम अमित्र वत्सल हो, कारण कि दैत्यों पर भी कृपा करते हो, अथवा मित्र वत्सल हो। क्योंकि आप किसी को शत्रु नहीं समझते, सबको मित्र ही जानते। तूं क्या करके उऋण होगा? जिसके उत्तर में कहता है कि यह अपना देह बन्धु रूप दीखती है क्योंकि हित करती है, वास्तविक तो 'पृस्ट्त्रास्य बीजम्' इस न्याय से शत्रु है जिसको अपनाया गया है उसको कैसे मारा जाएगा, इसका उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'व्याधि देहचरं यथा' जैसे शरीर में उत्पन्न रोग को नाश किया जाता है वैसे ही अपनेपन से अपनाया हुआ यदि शत्रु दुःखदायी होता है तो उसका भी नाश करना चाहिए यह स्तुति पक्ष की व्याख्या की, निन्दा पक्ष तो स्पष्ट है, मातुल पुत्र होने से बन्धुरूप है मारक होने से अरि है।।६।।

श्लोक—**एवं रूक्षैस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम्।**
गदया ताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ।।७।।

श्लोकार्थ—जैसे अंकुशों से हाथी को पीड़ित किया जाता है वैसे ही रूखे वचनों से श्रीकृष्ण को पीड़ित करते हुए दन्तवक्र ने श्रीकृष्णचन्द्र के शिर पर गदा का प्रहार किया बाद में सिंह के समान गर्जना की ।।७।।

सुबोधिनी—निन्दायां रूक्षता। **तुदन्** मर्मभेदं कुर्वन्। **कृष्णं** तुदन्निति स्तुतौ स्वदोषं दूरीकुर्वन्। **तोत्रं** अङ्कुशपृष्ठभागस्तेन यथा अग्रे गमनार्थं प्रेर्यते द्विपः एवं कृष्णोऽपि शीघ्रं कर्तुं मारयितुं मृत्युं वा दातुं प्रेर्यत इति। एवं वाक्यापराधं कृत्वा कायिकापराधं कृतवानित्याह **गदयेति**। **मूर्ध्नि** समीपे सुषुम्णाया ब्रह्मरन्ध्रभेदनं वा ततः **सिंहवद्व्यनत्**। आत्मानं कृतार्थं मन्यमानः यतः **स** पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तः शूरो वा ।।७।।

व्याख्यार्थ—निन्दा में रूखापन होता है, निन्दा के वाक्यों से मर्म स्थानों को मानो तोड़ डालता था। कृष्ण की निन्दा से मानो स्तुति से दोषों का नाश करता था। जैसे अंकुश के पृष्ठ भाग से हस्ती को शीघ्र गमन के लिए प्रेरणा की जाती है, वैसे ही कृष्ण भी शीघ्र मारने के लिए

तैयार हो जावे, इसलिए निन्दा आदि द्वारा प्रेरे जाते हैं । इस प्रकार वाणी से अपराध कर कायिक अपराध करने लगा वह कहते हैं–गदा मस्तक पर सुषुम्ना के समीप लगाई अथवा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन किया, पश्चात् सिंह के समान गर्जना करने लगा, कारण कि अपने को कृतार्थ समझने लगा क्योंकि वह पूर्व कहे हुए प्रकार से भक्त अथवा शूरवीर है ॥७॥

श्लोक— **गदया निहतोप्याजौ न चचाल यदूद्वहः ।**
कृष्णोऽपि तमहन्गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे ॥८॥

श्लोकार्थ—गदा के लगने पर भी यदुश्रेष्ठ वहां से विचलित न हुए, श्रीकृष्ण ने भी कौमोद की भारी गदा से उसकी छाती पर प्रहार किया ॥८॥

सुबोधिनी—एतावता स्वकृतकृत्यता जातेति **गदया निहतो** वा **आजौ** क्रोधो भवतीति प्रहारस्य क्रूरत्वं दर्शितम् । **यदूद्वह** इति यादवलीला स्वीकृतेति तथा वर्ण्यत इत्यर्थः । एवमपराधं तस्योक्त्वा ततोऽपराधशान्त्यर्थं भावतः कृपामाह **कृष्णोऽपीति** । **गुर्व्येति** साधनमाहात्म्यम् । **कौमोदक्येति** स्वकीयया प्रसिद्धया । तेन मोक्षः सुप्रसिद्धः । तत्रापि **स्तनान्तरे**, यथा जीवस्य निर्गमने षट्चक्रभेदनक्लेशो न भवेत् ॥८॥

व्याख्यार्थ—दन्तवक्र ने इससे अपने को कृतकृत्य समझा गदा के प्रहार से क्रोध होगा, इससे प्रहार की क्रूरता सूचन की है । 'यदूद्वह' पद से यह सूचन किया है कि श्रीकृष्ण ने अब यादव लीला का स्वीकार किया है, इस प्रकार उसके अपराध का वर्णन कर, बाद में उसके अपराध की शान्ति के लिए भगवान् की कृपा का वर्णन करते हैं कि' कृष्णोऽपि' कृष्ण ने भी अपनी प्रसिद्ध कौमोद की गदा से छाती पर प्रहार किया, प्रहार का साधन गदा का माहत्मय बताने के लिए 'गुर्वी' विशेषण दिया है अर्थात् वह गदा बहुत भारी थी, ऐसी गदा के प्रहार से मोक्ष होना तो प्रसिद्ध है ही । भगवान् की कृपा से मोक्ष तो हुआ किन्तु मरने के समय जो षट्चक्र भेदन की क्रिया से दुःख होता है वह भी दन्तवक्र को न होवे इसलिए भगवान् ने गदा का छाती पर प्रहार किया जिससे प्राण बिना क्लेश से निकल कर मुक्त हो गया ॥८॥

. **आभास—**ततो यज्ञातं तदाह **गाढनिर्भिन्नहृदय** इति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह 'गाढ निर्भिन्न' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**गाढनिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् ।**
प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन्धरण्यां न्यपतत् व्यसुः ॥९॥

श्लोकार्थ—गदा के लगते ही उसका हृदय फट गया और मुंह से रुधिर को उगलते हुए वह दैत्य पृथ्वी पर केश, बाहु और पांव पसार कर प्राणहीन होते ही गिर पड़ा ॥९॥

सुबोधिनी—मुखतो रुधिरोद्गमनं वाक्पारुष्य-दोषपरिहारार्थम् । ततो दयोत्पत्त्यर्थमिव **केशान् बाह्वङ्घ्रींश्च प्रसार्य, धरण्यां** भगवच्चरणारविन्दे **विशिष्ठा**र्त्तुर्विगतासुर्वा **न्यपतत्** । आदौ तत्रैव समवनयनम्, द्वितीये भोगापेक्षाभावात् प्राणानां परित्यागः ।।९।।

व्याख्यार्थ—मुँह से रुधिर निकलने का कारण यह था कि खून निकलने के साथ उसके पाप[1] भी बाहर निकल रहे थे, पश्चात् दया की उत्पत्ति हो अर्थात् मुझ पर दया होवे इसी तरह व इसलिए केश, भुजा और चरण पसार कर वहाँ पृथ्वी पर स्थित हुआ, जहाँ भगवान् के चरणारविन्द थे प्राण निकल जाने से वहाँ ही गिर गया जिससे आदि में वहां ही भगवान् से सायुज्य हो गया, द्वितीय पक्ष यह है कि अब भोग की अपेक्षा का अभाव था, इसलिए प्राणों का त्याग कर दिया, अर्थात् सर्व कर्म भस्म हो जाने से फिर प्राणों को प्राप्त नहीं करना था क्योंकि प्रभु कृपा से उसको भगवत्सायुज्य की प्राप्ति हुई ।।९।।

आभास—तस्तस्य सायुज्यं जातमित्याह **ततः सूक्ष्मतरंज्योतिरिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् उसको सायुज्य मुक्ति प्राप्ति हुई, यह 'ततः सूक्ष्म' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।**
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ।।१०।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जैसे शिशुपाल का तेज भगवान् में प्रविष्ट हुआ, वैसे दन्तवक्र का अति सूक्ष्म तेज भी सब लोगों के देखते हुए भगवान् में प्रवेश कर गया ।

सुबोधिनी—आत्मज्**योतिः कृष्णं** भगवच्चरणारविन्दम् । अत्र सर्वे साक्षिण इत्याह **पश्यतांमिति** । **यथा चैद्यवध** इति चैद्यवधे तत्तेजः दश दिशो भासयद् भगवन्तं प्रविवेश, एवमयमपीत्यर्थः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—दन्तवक्र की ज्योति 'कृष्णं' भगवान् के चरणारविन्द में जैसे शिशुपाल के वध के समय में उसकी ज्योति दश दिशाओं को प्रकाशित करती हुई भगवान् में प्रविष्ट हुई, वैसे ही दन्तवक्र की अत्यन्त सूक्ष्म ज्योति भी भगवान् के चरणारविन्द में प्रवेश कर गई, जिसके सब साक्षी हैं यों बताने के लिए 'पश्यतां सर्व भूतानां' पद कहा है जिसका अर्थ है, सर्व प्राणियों के देखते हुए ज्योति ने भगवान् के पाद कमलों में प्रवेश किया ।।१०।।

आभास—तस्य सायुज्यं दृष्ट्वा तद्भ्राता विदूरथोऽपि तथा कर्तुं प्रवृत्त इत्याह **विदूरथस्त्विति** ।

१—वाणी से अपशब्द बोलने से जो दोष व पाप हृदय में उत्पन्न होकर रह गये थे वे सब नष्ट हो गए ।

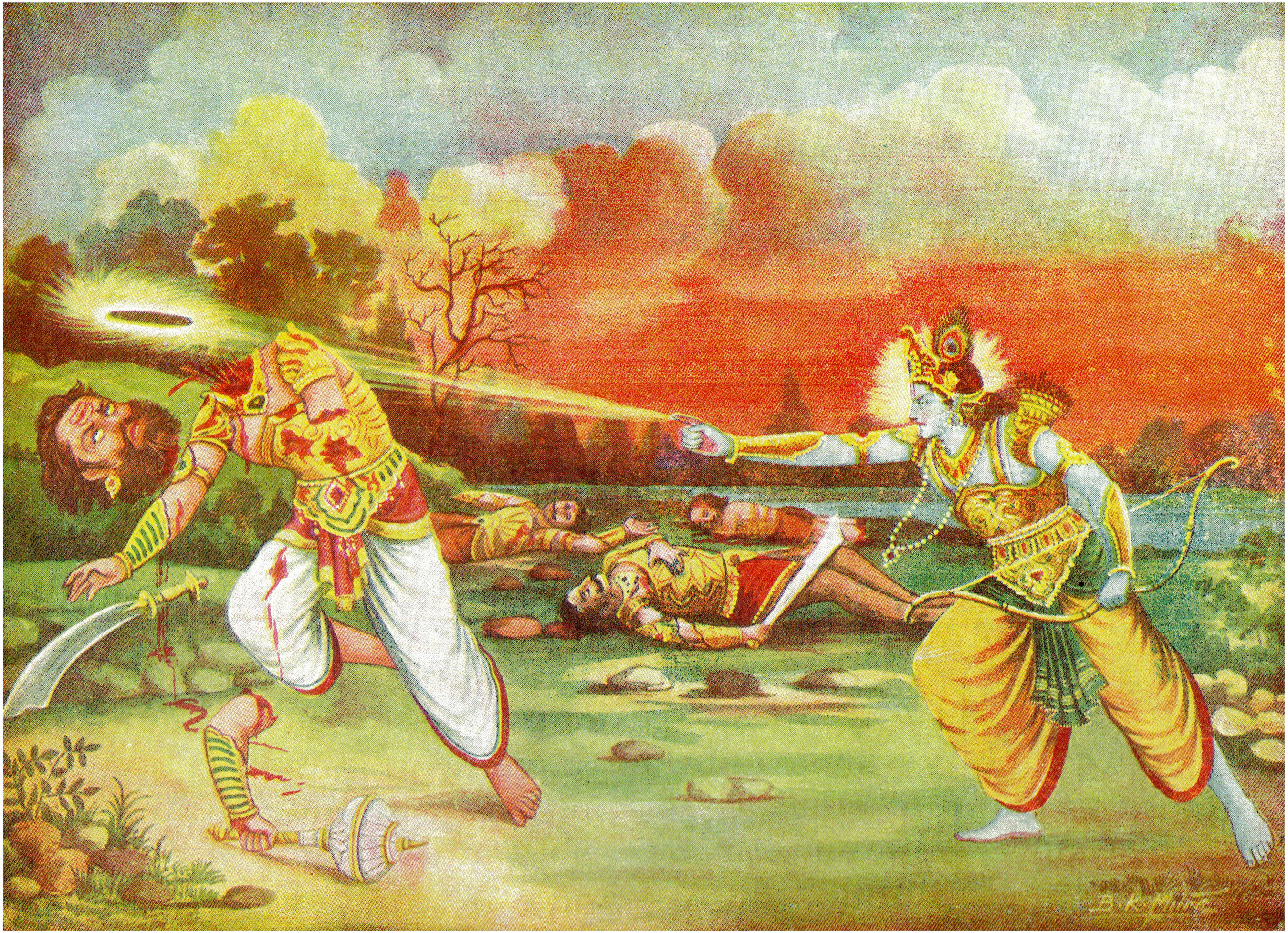

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

दन्तवक्त्र और विदूरथका उद्धार

आभासार्थ—उसकी सायुज्य मुक्ति देख कर उसका भ्राता विदूरथ भी यों करने लगा, जिसका वर्णन 'विदूरथस्तु' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।**
आगच्छदसिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥११॥

श्लोकार्थ—भ्राता के शोक से व्याप्त, दन्तवक्र का भाई विदूरथ भगवान् को मारने के विचार से हाँफता हाँफता ढाल तलवार लेकर आया ॥११॥

सुबोधिनी—अक्षरच्युतकालंकारः । **विदूरथ** इति विकटो भवति दूरादेव रथ इति माहात्म्यम् । **तद्भ्राता** दन्तवक्त्रभ्राता । **भ्रातृशोकेन परितः** प्लुतः मग्नः सन्, **असिचर्मभ्यामुच्छ्वसन्**नागतः । अनेन सर्प इव तस्य क्रोधो निरूपितः । **तज्जिघांसये**ति आगमनाभिप्रायः । भ्रान्तोऽपि प्रवर्तकः ॥११॥

व्याख्यार्थ—यहां अक्षरच्युत अलङ्कार है इसके नाम से ही इसका माहात्म्य प्रकट होता है, दूर से ही जिसका रथ विकट दीखने में आता है वह विदूरथ 'तद्-भ्राता' उसका अर्थात् दन्तवक्र का भाई भ्राता के शोक नद में डूबा हुआ, ढाल तलवार ले हाँफता हुआ आया, यों कहने से, सर्प के समान क्रोध का निरूपण किया, क्यों आया ? तो कहते हैं कि 'तज्जिघांसया' उसको अर्थात् श्रीकृष्ण को मारने की इच्छा से आया, यद्यपि भ्रम में पड़ने से व्याकुल था तो भी मारने के लिए प्रवृत हुआ ॥११॥

श्लोक—**तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।**
शिरो जहार राजेन्द्र सकीरीटं सकुण्डलम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र ! इस विदूरथ के आते ही श्रीकृष्ण ने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से, किरीट कुण्डल सहित इसका सिर काट डाला ॥१२॥

सुबोधिनी—ततः स भृत्यसंबन्धीति **आपतत** एव प्रहारात्पूर्वमेव **चक्रेण शिरो जहार** । **क्षुरनेमिने**ति स्वालौकिकसामर्थ्याभावः । **जहार** दूरीकृतवान् । **सकुण्डलं सकिरीटमिति** देवाधिष्ठानं तेन मुक्तियोग्यता निरूपिता ॥१२॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् वह भृत्य का सम्बन्धी था, इसलिए आते ही अर्थात् प्रहार करने से पहिले ही चक्र से उसका शिर काट डाला, कैसे काटा ? तो कहते हैं कि तीक्ष्ण धार वाले चक्र से, यों कहने से यह बतलाया कि भगवान् ने यहाँ अपना अलौकिक सामर्थ्य प्रकट नहीं किया, 'जहार' दूर कर दिए अर्थात् धड़ से दूर कर दिया । किरीट और कुण्डल सहित शिर कहने से उसका देवाधिष्ठानपन बताया, उससे मुक्ति की योग्यता कही ॥१२॥

आभास—मारितान् सात्त्विकराजसतामसान् उपसंहरति **एवं सौभमिति** ।

आभासार्थ— मारे हुए सात्विक राजस और तामसों के चरित्र की 'एवं सौभं' श्लोक से समाप्ति करते हैं ।

श्लोक—**एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम् ।**
हत्वा दुर्विषहैरन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥१३॥

श्लोकार्थ—इस तरह सौभ, शाल्व, छोटे भाई समेत दन्तवक्र को और जो अजेय शूरवीर थे उनको भी साथ में मार डाला, तब देव और मनुष्य भगवान् की स्तुति करने लगे ॥१३॥

सुबोधिनी— **चकार**स्तत्सेनापरिग्रहार्थः । शाल्वे **चकारः** तन्मायादेवतावरनाशार्थः । दन्तवक्त्रो विदूरथसहितः **दुर्विषहैरन्यैः** शूरैः सह तेपि मारिता इति । **हत्वा** स्थित **ईडित** इति क्रियाध्याहारोऽपि अर्थाद्भवति । **सुरैर्मानवैश्च दुर्विषहैरन्यै**रिति यादववाचकत्वं वा ॥१३॥

व्याख्यार्थ—'च' शब्द सेना परिग्रह के लिए दिया गया है, शाल्व के साथ चकार दिया है जिसका आशय है कि उसके माया देवता का वर नाश करना था, विदूरथ के साथ दन्तबक्र और जो अजय अन्य शूरवीर थे उनके साथ वे भी मारे गए, मार कर खड़े हो गए तब उनकी स्तुति की गई, उस प्रकार यहाँ यह क्रियाध्याहार भी होता है अथवा ऊपर के सुरैः मानवैश्च दुर्विषहैः अन्यैः' ये यादव वाचक भी हो सकते हैं ॥१३॥

श्लोक—**मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैविद्याधरमहोरगैः ।**
अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किंनरचारणैः ॥१४॥
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः ।
वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालंकृतां पुरीम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—मुनि, सिद्ध, गन्धर्व विद्याधर, बड़े बड़े नाग, अप्सरा, पितृगण, यक्ष, किन्नर और चारण ये सब भगवान् की विजय को गा गाकर फूलों की वर्षा कर रहे थे, तब भगवान् यादवों के साथ शोभायमान पुरी में प्रविष्ट हुए ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—तथा **मुनि**प्रभृतिभिरपि । **कुसुमैरभिवर्षित** इत्यन्तं महती स्तुतिः भगवतो युद्धलीला समाप्यत इति संतोषात्कृता, श्रोतृऋणां युद्धलीलाभिनिवेशो भवत्विति । ततो भगवतः पुरप्रवेशमाह **वृतश्च वृष्णिप्रवरै**रिति । हत्वा स्तुतः **विवेशे**ति तस्य क्रियात्रयं निरूपितं त्रिगुणम् ॥१४॥ ॥१५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने युद्ध लीला समाप्त की, जिससे मुनि और सिद्ध आदिको कों सन्तोष हुवा जिससे, उन्होंने भगवान् के विजय को गाकर पुष्पों की वर्षा आदि से महती स्तुति की जिससे श्रोताओं को युद्ध लीला में अभिनिवेश होवे, पश्चात् भगवान् अपनी पुरी में पधारे जिसका वर्णन

करते हैं। यादवोत्तमों से घिरे हुए भगवान् उन दैत्यों को मारकर, और देव मनुष्यों से स्तुत होते हुए अलङ्कृत स्वपुरी में प्रविष्ट हुए। १-हत्वा २-स्तुतः ३-विवेश इन तीन क्रियाओं से तीन गुण प्रकट किए ॥१४-१५॥

आभास—भगवतः क्रियालीलामुपसंहरन् दोषाभावमाह **एवं योगेश्वर** इति ।

आभासार्थ—भगवान् की क्रिया लीला का उपसंहार करते हुए 'एवं योगेश्वरः' श्लोक में दोषों का अभाव बताते हैं—

श्लोक—**एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः ।**
ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥१६॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार योगेश्वर व जगदीश्वर श्रीकृष्ण भगवान् सदा जय ही पाते हैं पर किसी समय पशु बुद्धि यों प्रतीत करते हैं कि भगवान जरासन्ध से हार गए।

सुबोधिनी— **योगेश्वर**त्वात् ये योगभ्रष्टास्ते मोचिता इति एकं प्रयोजनम् । **कृष्ण**त्वाद्भूभारो हृत इत्यपरम्, **भगवा**निति सामर्थ्यम्, **जगदीश्वर** इत्यावश्यकत्वम् । एवं क्रिया करणे हेतूनुक्त्वा लौकिकबुद्ध्या प्राप्तान् हेतून् निन्दति **ईयते पशुदृष्टीना**मिति । पशुदृष्टिभि**र्निर्जितो भगवान् जय**तीति **ईयते** ज्ञायते, कदाचि**न्निर्जितः** कंचि**ज्जय**तीति । एतदुभयमपि पूर्वापरानुसंधानरहितानामेव । त एव पशवः, यतः **स** पुरुषोत्तमः । न तु केनाप्यंशेन भावान्तरं प्राप्त इत्यर्थः । अत्र भगवतः शस्त्रसंन्यासः पुराणान्तरे निरूपितः । स एवात्रोपसंहारेणापि सूचितः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—'योगेश्वर' विशेषण से बताया है, कि जो योगभ्रष्ट थे उनको संसार से उबार कर मुक्ति दी, यह एक प्रयोजन कहा 'कृष्ण' पन से दिखाया कि भूभार हरण कार्य किया, यह दूसरा प्रयोजन कहा, भगवान् शब्द से सामर्थ्य प्रकट किया, 'जगदीश्वर' कह कर यह सूचित किया है कि ये सब कार्य आपको ही करने हैं (थे) इस प्रकार क्रिया के करने के हेतुओं को बता कर लौकिक बुद्धि से जो हेतु कहे जाते हैं उनकी निन्दा करते हैं। जिनकी दृष्टि पशुओं (मूर्खों-अज्ञों) जैसी हैं वे कहते हैं, कि देखा जाता है कि भगवान् कभी हार जाता है कभी किसी को जीतता है इस प्रकार दोनों तरह का कहना उनका है जो आगे पीछे का विचार करना जानते ही नहीं वे ही पशु हैं। अतः (क्योंकि) वे पुरुषोत्तम हैं, इसलिए किसी भी अंश से अन्य भाव को प्राप्त नहीं होते हैं, इस प्रकार तात्पर्य है, भगवान् का शस्त्र संन्यास अन्य पुराण में निरूपण किया है वह ही यहां उपसंहार से भी सूचित किया है ॥१६॥

आभास—एवं भगवतः क्रियाशक्तिमुपसंहृत्य बलभद्रस्यापि कीर्तिसिद्ध्यर्थं धर्मक्रियामाह **श्रुत्वा युद्धोद्यम**मिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की क्रिया शक्ति का उपसंहार कर "श्रुत्वा युद्धोद्यमं' श्लोक में बलभद्र की कीर्ति सिद्ध करने लिए उनके धर्म की क्रिया को कहते हैं।

श्लोक—**श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।**
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥१७॥

श्लोकार्थ—कौरव और पाण्डुवों के युद्ध का उद्यम सुनकर मध्यस्थ बलदेवजी तीर्थ यात्रा का मिस कर द्वारका से रवाना हुए ॥१७॥

सुबोधिनी—अनर्थपर्यवसानं तत्परित्याग एव आदौ धर्मः तत्रापि तद्व्याजेन तीर्थाचरणं सुतरामेव । अतो **युद्धोद्यमं श्रुत्वा** भगवान्पाण्डवपक्षपातीति स्वस्य कौरवपक्षपाते अन्योन्यमेव विरोधो भवतीति **तीर्थाभिषेकव्याजेन,** वस्तुतस्तीर्थयात्रा नाभिप्रेतेति निमित्ताभावात्तद्व्याजेनैव । उभयो**र्मध्यस्थः प्रययौ**, तीर्थदेशानेव । **किले**ति प्रमाणम् । जीववत्तस्य तीर्थाचरणं भगवत्त्वविरोधीति स्वतः अनुक्त्वा किलेत्युक्तं हृदये व्याजेऽपि लोकप्रतीत्यर्थम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—जहां अनर्थों का नाश होता है और अनर्थों का पूर्णतया त्याग करना ही प्रथम धर्म है, वहां भी उस मिससे तीर्थों पर जाना ही चाहिए अतः युद्ध का उद्यम सुनकर, श्रीकृष्ण तो पाण्डवों के पक्षपाती हैं और मैं कौरवों के पक्ष में हूँ, इससे दोनों में विरोध जगेगा, इसलिए तीर्थ यात्रा के मिष से द्वारका से निकले । वास्तव में तीर्थ यात्रा करने की इच्छा न थी । द्वारका से बाहर जाने का अन्य कारण न होने से इस मिष से ही निकले किसी की तरफदारी न कर मध्यस्थ होकर सत्य कहूंगा यह मन में विचार कर ही तीर्थों के लिए रवाने हुए, 'किल' निश्चय से अर्थात् यह प्रमाण है । आप भगवान् हैं इसलिए जीव की तरह तीर्थ करना भगवत्व से विरुद्ध है । आपने यह स्वयं प्रकट न कह कर 'किल' शब्द से हृदय में यों कहा, यद्यपि मिष से जा रहे थे किन्तु लोक में तो ऐसी प्रतीति कराई ॥१७॥

आभास—प्रभासे गत्वा संकल्पं कृत्वा ततो निर्गत इत्याह **स्नात्वा प्रभास** इति ।

आभासार्थ—प्रभास तीर्थ में जाकर सङ्कल्प कर वहां से रवाने हुए यह 'स्नात्वा प्रभासे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षिपितृमानवान् ।**
सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी ने प्रभास में स्नान किया और देव, ऋषि तथा पितर एवं मनुष्यों को तर्पण आदि से तृप्त किया, अनन्तर ब्राह्मणों को साथ में लेकर सरस्वती नदी के प्रवाह के सन्मुख चले ॥१८॥

सुबोधिनी—भगवता सात्त्विकप्रकरणे धर्मः कर्तव्यः स च प्रवृत्त्यात्मकः स धर्मो यज्ञस्तीर्थानि च । तदुक्तम्, 'यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः' इति यज्ञाः कृताः तीर्थानि च पुनस्तत्समानानि च कृतानि तत्र वसुदेवः जीवतीति न स्वतो यागकरणं संभवतीति सुतरां

राजसूयादिकरणं ततो भगवान् साहाय्यमेव कृतवान् । बलभद्रस्तु तीर्थयात्रां यज्ञसमानां मन्यत इति तामेव कर्तुं प्रवृत्तः व्याजेन करणं धर्मो न भवतीति पश्चाद्भगवान् निमित्तं संपादयिष्यति अन्यथा अनधिकारिणा कृतमकृतमिति धर्म एव न भवेत् । **प्रभासे** अग्निकुण्डे संगमे वा **स्नात्वा**, ततो **देवर्षिपितृमानवान्** ब्राह्मणभोजनादिना **संतर्प्य** सरस्वतीतीरे तीर एव **प्रतिस्रोतं** यथा भवति तथा **ययौ**, **ब्राह्मणसंवृत** इति तत्पूर्त्यर्थम् । ब्राह्मणाभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेण तीर्थपूर्त्यभावात् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने सात्त्विक प्रकरण में प्रवृत्त्यात्मक धर्म कहा है, वह यज्ञ और तीर्थ हैं। जैसा कि कहा है कि 'यज्ञस्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः' हरि ने यज्ञ और तीर्थ दोनों समान किए हैं। वसुदेवजी जीवित हैं, इसलिए पुत्रों को यज्ञ करने का जैसे अधिकार नहीं वैसे तीर्थ करने का भी अधिकार नहीं है। राजसूय यज्ञ हुआ, उसमें भगवान् ने सहायता की है। बलभद्रजी तीर्थों को भी यज्ञ के समान समझते हैं तो, फिर उनके करने में प्रवृत्त क्यों हुवे ? तो कहते हैं कि यद्यपि यों तीर्थ यात्रा मिष से करनी पड़ी है, वह यात्रा धर्मरूप न होगी, किन्तु भगवान् तीर्थ यात्रा करने का पीछे निमित्त उत्पन्न कर लेंगे, यदि भगवान् निमित्त न बनावें तो अनधिकारी का किया हुआ कर्म न करने के समान है इसलिए वह धर्म नहीं हो सकता है। प्रभास में अग्निकुण्ड में अथवा सङ्गम में स्नान कर, पश्चात् देव, ऋषि, पितर और मनुष्यों को ब्राह्मण भोजन आदि से तृप्त कर सरस्वती के किनारे किनारे चलते स्रोत के सम्मुख जैसे हो वैसे जाने लगे, ब्राह्मणों को साथ में लिया था क्योंकि बिना ब्राह्मणों की आज्ञा के तीर्थ कर्म की सम्पूर्णता नहीं होती है ॥१८॥

श्लोक—**पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।**
विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, प्राची सरस्वती ॥१६॥

सुबोधिनी—यद्यपि प्रतिस्रोतोगमने क्रमेण **पृथूदकादीनि** तीर्थानि न सन्ति तथापि तीर्थमाहात्म्यं पुरस्कृत्य तेषां गणना तस्मिन् कल्पे वा तथा संनिवेशः । पृथूदकादीनि षट् तीर्थानि सर्वत्र **प्राची सरस्वती** एवं प्लक्षजाता **सरस्वती** यावत् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि प्रवाह के सामने किनारे किनारे जाते हुए पृथूदक आदि तीर्थ क्रमशः नहीं हैं, तो भी, तीर्थ माहात्म्य को लेकर उनकी गणना की है, अथवा उस कल्प में इस प्रकार तीर्थ होंगे, प्रथूदक आदि छः तीर्थ सर्वत्र प्राची सरस्वती के किनारे पर हैं, प्राची सरस्वती का आशय यह है कि जो सरस्वती प्लक्ष से उत्पन्न हुई है ॥१६॥

श्लोक—**यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।**
जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासत ॥२०॥

श्लोकार्थ—(उन तीर्थों के अनन्तर) यमुना के तट के प्रवाहानुकूल चलते हुए जो तीर्थ आये उनमें घूमते-घूमते गङ्गा के प्रवाह के अनुसरण करने वाले तीर्थों में होते हुए नैमिष क्षेत्र में आए जहां ऋषि लोग सत्र कर रहे थे ।।२०।।

सुबोधिनी—ततो **यमुनां** प्राप्य **अनुस्रोतन्या**-येन प्रयागे समागतः । ततो **गङ्गामनु** हरिद्वारपर्यन्तं बद्रिकाश्रमपर्यन्तंवा गतः । ततः पुनः गोमतीतीरे नैमिषपर्यन्तं **समागतः** । तत्र विलम्बे कारणमाह **यत्र ऋषय** इति । **सत्रं** यत्किंचिद**दासत** ।।२०।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् यमुना पर पहुँच अनुस्रोत न्याय से प्रयाग में आए, अनन्तर गङ्गा के बाद हरिद्वार अथवा बद्रिकाश्रम तक गए, बाद में फिर गोमती तट से नौमिषारण्य पहुँचे, वहां समय विशेष लग जाने का कारण यह था कि ऋषि लोगों ने कोई सत्र प्रारम्भ किया था ।।२०।।

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **तमागतमभिप्रेत्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह 'तमागत' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।**
अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ।।२१।।

श्लोकार्थ—दीर्घ सत्र करने वाले मुनि लोग उनको आए हुए देखकर पहिले क्षत्रियानुरूप अभिनन्दन करने लगे, पश्चात् भगवान् जानकर शास्त्रानुसार प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे ।।२१।।

सुबोधिनी—**मुनयः** अग्रेस्मात् ज्ञानोपदेशो भविष्यतीत्येष्यज्ञानयुक्ताः । अत एव तदर्थं **दीर्घ-सत्रिणः** तस्यागमन**मभिनन्द्य यथान्यायं** यथा क्षत्रियोत्तमे समागते कर्तुमुचितं तथा कृतवन्तः । ततो भगवद्बुद्धया **प्रणम्य उत्थाय च आर्चयन्** ।।२१।।

व्याख्यार्थ—मुनि यह सोच कर आगे हमको ज्ञान का उपदेश प्राप्त होगा, इस प्रकार के ज्ञान वाले थे, इस कारण से ही उस उपदेश प्राप्ति के लिए दीर्घ काल का सत्र प्रारम्भ किया था, अतः उनके आने का अभिनन्दन कर, नीति के अनुसार उत्तम क्षत्रिय के आने पर जैसा करना योग्य था वैसा किया, पश्चात् भगवान् हैं इस बुद्धि से प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे ।।२१।।

आभास—स हि व्याजेन प्रवृत्तः मुख्यस्वाम्यभिप्रायाभावात् भगवच्छास्त्रपर्यालोचनभावाच्च स्मृतिन्यायेन धर्ममप्यधर्मं ज्ञात्वा धर्मस्थाने अधर्मो न युक्त इति तेषां सत्कारफलसिद्धयर्थं उपकारमिव कुर्वन् सूतनिराकरणार्थं तं दृष्टवानित्याह **सोऽर्चित इति** ।

आभासार्थ—मुख्य स्वामी के अभिप्राय को बिना जान लेने के और भगवत् शास्त्र के विचार

किये बिना वे (बलभद्र) मिष से यात्रा करने चले थे। स्मृतिन्यायानुसार धर्म को भी अधर्म समझा, धर्म स्थान पर अधर्म करना योग्य नहीं है, इसलिए उनके सत्कार के फल की सिद्धि के लिए मानो उपकार करता हुआ सूत का निराकरण करने के लिए उसको देखने लगे, यह सोऽर्चितः' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।**
रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ।।२२।।

श्लोकार्थ—परिवार (साथ आए हुए ब्राह्मणों) सहित बलदेवजी का पूजन किया, पश्चात् आसन आदि दिया, महर्षि के शिष्य रोमहर्षण नाम वाले सूत को बलराम ने उच्च आसन पर बैठा हुआ देखा ।।२२।।

सुबोधिनी—**सपरीवारः** ब्राह्मणसहितः । **कृतः आसनपरिग्रहो** येन, स्थिरतायै उपदेशयोग्यत्वायाभिमानाय चोक्तम् । **रोमहर्षणः** सूतः । ब्राह्मणानामग्रे उच्चासने स्थितः न चायं बालः यतो **महर्षे शिष्यः** ।।२२।।

व्याख्यार्थ—मुनियों ने बलरामजी का ब्राह्मण सहित पूजन आदि कर आसन आदि बिराजने के लिए दिए, किन्तु बलरामजी ने वहाँ देखा तो महर्षि का शिष्य, रोमहर्षण नाम वाला सूत ब्राह्मणों के सामने उच्चासन पर बैठा है, यह न आयु से बालक है और न विद्या से भी बालक है क्योंकि महर्षि का शिष्य है, उसकी स्थिरता, उपदेश करने की योग्यता और अभिमान देख निम्न वचन कहने लगे ।।२२।।

आभास—एवमपि स्मृतिविरुद्धं करोतीति तस्मिन् क्रोधं कृतवानित्याह **अप्रत्युत्थायिन**मिति ।

आभासार्थ—यह सूत जो कर रहा है वह स्मृतिशास्त्रों के विरुद्ध कर रहा है, इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, यह 'अप्रत्युत्थायिनं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।**
अध्यासीनं च तान्विप्रांश्चकोपोद्वीक्ष्य माधवः ।।२३।।

श्लोकार्थ—वह सूत जाति का होकर उन सब ब्राह्मणों से उच्च आसन पर बैठा था, बलदेवजी के पधारने पर न खड़ा हुआ न हाथ जोड़े और न प्रणाम किया जिससे बलदेवजी को क्रोध उत्पन्न हुआ ।।२३।।

सुबोधिनी—वस्तुतो ब्राह्मणातिक्रम एव तस्य दण्डे हेतुः । तथापि ब्राह्मणैः केनचित्प्रकारेण तस्य दोषोऽङ्गीकृतः तस्य मात्सर्याजनकत्वात् अप्रत्युत्थानमेव हेतुं मन्यते । यद्यस्य महत्त्वं

केनापि प्रकारेण जातं तथापि ब्राह्मणोत्तमादधिकं भवति । ब्राह्मणाश्चेदभ्युत्थानादिकं कृतवन्तः तत्रास्याभ्युत्थाने कः सन्देहः अतो नास्मिन् धर्मः मार्गाभावात् । अतः पाषण्डे केनचिल्लोभादिना पुष्टः धर्माभासः गर्वजनकत्वाद् अपकार्येव जात इति । तस्मिन् विद्यमानं धर्मं पाषण्डत्वेनाभिप्रेत्य क्रोधं कृतवान् । **सूत** इति जात्या हीनः । न कृतः **प्रह्वणार्थमञ्जलिर्येन** । व्रतस्थेनाप्येतावत्कर्तव्यमिति द्वितीयो दोष उक्तः । तृतीयमाह **अध्यासीनं** चेति । आधिक्येनोच्चासनेन ब्राह्मणान् हीनान् कृत्वा आसीनः । ते च **विप्राः** विशेषेण पूरकाः सर्वसुहृदः अतस्तेषां तूष्णींभावो न दोषायेति । स्वयं दण्डाधिकृत इति क्रोधोपपत्तिरुक्ता । **माधवो** मधुवंशोत्पन्नः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—सूत को जो दण्ड मिला, उसमें हेतु ब्राह्मणों का अतिक्रम करना ही है, ब्राह्मणों ने एक प्रकार से ही उसका दोष अङ्गीकार किया, उसको मात्सर्य पैदा न हुआ, अतः न उठना ही हेतु माना जाता है ।

अगर किसी भी प्रकार से इसका महत्त्व हो गया है तो भी क्या यह ब्राह्मणों से उत्तम हो सकता है ? जब ब्राह्मण अभ्युत्थान आदि से सत्कार करते है तब इसको यों करने में कौनसा सन्देह था ? अतः इसमें धर्म नहीं रहा है, क्योंकि धर्म मार्ग के ज्ञान का इसमें अभाव ही है । इस कारण से पाषण्ड होने पर किसी लोभ आदि से पुष्ट जो धर्म दीखता है वह धर्म नहीं है किन्तु धर्माभास ही है, जिससे ही गर्व उत्पन्न हुवा है अतः वह पाषण्ड धर्म, हानिकारक ही हुवा है । उसमें जो धर्म है वह पाषण्डी है इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, 'सूत' है इसलिए १-दोष-जाति से भी हीन है, फिर नमस्कार आदि कुछ नहीं किया, २-दोष-व्रत में स्थित हो तो भी उसको इतना करना ही चाहिए, ३-दोष दिखाते हैं कि उत्तम ब्राह्मणों के सामने उच्च आसन पर बैठा है, जिससे दिखाया है कि ब्राह्मण हीन हैं मैं उत्तम हूँ, जब यों है तो वे उत्तम ब्राह्मण चुपकर क्यों बैठे हैं ? वे विप्र हैं सबका हित करने वाले सबके सुहृद हैं, अतः उनका मौन दोष के लिए नहीं है, आप स्वयं दण्ड देने के अधिकारी हैं, इस कारण से ही क्रोध का युक्ति युक्त हेतु कहा है, मधुवंश में उत्पन्न हुए हैं ।।२३।।

आभास—तस्यालोचनमाह **कस्मादिति** ।

आभासार्थ—उसके आलोचना दर्शन का वर्णन 'कस्माद सा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**कस्मादसाविमान्विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।**
धर्मपालांस्तथैवास्मान्वधमर्हति दुर्मतिः ।।२४।।

श्लोकार्थ—यह प्रतिलोम जाति में उत्पन्न सूत, ब्राह्मणों के और धर्मपाल हम लोगों के सामने ऊँचे स्थान पर स्थित आसन पर कैसे बैठा है ? अतः यह दुर्मति वध करने के ही योग्य है ।।२४।।

सुबोधिनी—**असाविति** नास्मिन् तेजो दृश्यत इति ज्ञापितम् । **इमान् विप्रानिति** तेजोदर्शनं, न चायमपि महान् यतः **प्रतिलोमजः**, अनेन ज्ञानाधिक्यादुपविष्ट इति पक्षो निराकृतः । विप्राणामेव ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यमिति भावः । किंच । **धर्मपालांस्तथैवास्मानिति** ऐहिकभयमामुष्मिकभयं च

नास्त्यस्मिन् इति द्वयं निरूपितम् । तत्र दण्डो वध एवेत्याह **वधमर्हतीति** । ननु बोधनीय एवायं किमिति वधः क्रियत इत्याशङ्क्याह **दुर्मतिरिति** दुष्टबुद्धिः, उक्तमपि न ग्रहीष्यति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—'असौ' पद से यह कहा है कि इसमें किसी प्रकार का कोई तेज नहीं है 'इमान् विप्रान्' पद से सूचित करते हैं कि ये ब्राह्मण सर्व सुहृद हैं अतः इनमें तेज का दर्शन हो रहा है, यों भी नहीं है कि यह भी महान् है किन्तु प्रतिलोम जाति का होने से निम्न कक्षा का है, यों कह कर यह बताया है कि इसमें विशेष ज्ञान है इसलिए बिठाया है, इस पक्ष का भी निराकरण किया है अर्थात् विप्रों में ही ज्ञान से बड़प्पन होता है, धर्म पालकों का वैसे ही हम लोगों का भी इसके मनमें भय वा आदर नहीं है जिसका सारांश है कि इसको इस लोक का और परलोक का भी भय नहीं है, ऐसी हालत में इसका दण्ड वध ही है अर्थात् मारने के योग्य है, यदि कहो कि मारते क्यों हो ? इसको ज्ञान देकर समझाओ उसका उत्तर देते हैं, कि यह दुष्ट बुद्धि वाला है अतः समझाने पर भी मानेगा नहीं ॥। २४॥

आभास—नन्वयमनुपासितवृद्धः बालवत्प्रबोधनीय एवेति चेत्तत्राऽह **ऋषेर्भगवतो भूत्वेति** ।

आभासार्थ—इसने वृद्धों की सेवाकर अनुभव प्राप्त नहीं किया है अतः इसको बालक की तरह समझाना चाहिए इस पर 'ऋषेर्भगवतो' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योधीत्य बहूनि च ।**
सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥२५॥

श्लोकार्थ—भगवान् वेदव्यासजी का शिष्य बन कर इसने इतिहास व पुराण सहित सर्व प्रकार के धर्मशास्त्र पढ़े हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—**ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा** तस्य **शिष्योऽ**प्यलौकिकार्थज्ञो भवितुमर्हति तत्रापि **भगवतः** सानुभावस्य । न केवलं शिष्यत्वमात्रं किंतु **बहून्यधीत्येति** । चकारादध्यापनाभ्यासौ । वेदाध्ययनं शङ्कितं भविष्यतीति तन्निराकरणार्थ**मितिहासपुराणानी**त्याह, इतिहासश्रवणेन नीतिज्ञानं भवति, तदभावे केवलधर्मेऽप्यनर्थः स्यात् गजेन्द्रवत् । पुराणाध्ययनात्साभिप्रायधर्मज्ञानम् । **धर्मशास्त्रैः** देशकालकुलादिधर्मा आधुधिका अपि सर्व एव ज्ञाता भवन्ति । **सर्वशः** इति तत्तदभिप्रायोऽपि बहूनां मुखादवगतः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—'ऋषि' वह होता है जिसने मन्त्रों के साक्षात् दर्शन किए हैं फिर यह ऋषि तो 'भगवान्' है अर्थात् प्रभावशाली ज्ञानावतार है, उसका शिष्य भी अलौकिक अर्थ को जानने वाला होता है, न केवल मात्र शिष्यपन है, किन्तु बहुत पढा है, पढ़ने के साथ उसका अभ्यास भी किया है, इससे वेद पढा किन्तु उसमें शङ्काएँ रह जायगी, उसके निराकरण के लिए कहते हैं कि इतिहास और पुराण भी पढे हैं, इतिहास के श्रवण (पढ़ने) से नीति का ज्ञान होता है, उसका यदि अभाव होता है तो केवल धर्म में भी गजेन्द्र की तरह अनर्थ होता है और पुराणों के अध्ययन से अभिप्राय

सहित धर्म का ज्ञान होता है तथा धर्म शास्त्रों के पढ़ने से देश, काल और कुल आदि के धर्मों का ज्ञान होता है 'सर्वशः' पद से यह बताया है कि उन पढे हुए इतिहास, पुराण और धर्म शास्त्रों के अभिप्राय भी बहुतों के मुख से प्राप्त किए हैं ।।२५।।

आभास—ननु विद्यया कथमस्य गुणा नोत्पादिताः कथमयमेतादृशो जात इत्याह **अदान्तस्येति** ।

आभासार्थ—इतनी विद्या पाकर भी इसमें सद्‌गुण क्यों नहीं प्रकट हुए ? यह इस प्रकार का कैसे हुआ ? जिसका उत्तर 'अदान्तस्य' श्लोक में समझा कर देते हैं ।

श्लोक—**अदान्तस्याविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः**
न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ।।२६।।

श्लोकार्थ—जो नट की तरह वेष धरने वाला, अजितेन्द्रिय, अजितात्मा, विनयरहित, वृथा पण्डितमानी है, उसको शास्त्राभ्यास भी गुणकारक नहीं होता है ।।२६।।

सुबोधिनी—विद्या गुणोत्पादिका आश्रयदोषाभावे भवति । तत्र अजितेन्द्रियत्वं महानाश्रयदोषः 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इति सहजबहिर्मुखानि, विद्या ह्यन्तर्मुखं कर्तुमिच्छति । तदिन्द्रियाणां प्रतिबन्धे न भवतीति इन्द्रियजयो मृग्यते । किंच । विद्याग्रहणे विद्याबाधकोधर्माभावो हेतुः । विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यववी तथा स्याम्' इति । **अविनीतस्य** विद्या निर्वीर्येति न गुणजननसामर्थ्यम् । किंच । **वृथापण्डितमानिन** इति । विद्या बुद्ध्या गृहीता सती स्वकार्यं करति तदभिमानात्तस्याग्रहणमेव यस्तु पाठव्यतिरेकेणापि मन्यते पण्डितोऽहमिति स प्रयोजनाभावात् स्वार्थं विद्यां न ग्रहीष्यत्येव कथं विद्याफलं जनयेत् अतो **न गुणाय भवन्ति** पुराणादीनि । किञ्च **नटस्येवे**ति परप्रदर्शनार्थमेव यो विद्यां गृह्णाति तस्य न विद्यातः फलं यथा नटस्य । किंच । **अजितात्मनः** अन्तःकरणजयाभावे उत्पादिता अपि गुणाः तामसैर्भावैस्तिरोहिता भवन्ति अतोऽस्य सर्वमेव वर्तत तति दोषपञ्चकसद्भावान्नास्मिन्विद्याफलम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—विद्या गुणों को पैदा करने वाली तब होती है जब विद्यार्थी जिसमें विद्या को आश्रय करता है उसमें दोष नहीं हो, उन दोषों में, इन्द्रियों को न जीतना यह महान् आश्रयदोष है, जैसा कि 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इस श्रुति में कहा है इससे उनकी स्वाभाविक बहिर्मुखता कही है, विद्या विद्यार्थी को अन्तर्मुख करना चाहती हैं वह अन्तर्मुखता तब हो सकती है जब इन्द्रियाँ उसमें रुकावट करने वाली न होवें, इसलिए विद्या इन्द्रिय जय चाहती है, विद्या प्राप्ति में विद्या में रुकावट डालने वाले धर्मों का अभाव ही कारण है 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि' 'असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्' इति, जों अनम्र है उसमें विद्या आती है तो निर्वीर्य हो जाती जिससे गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकती है और विशेष कहते हैं कि विद्या जब बुद्धि से ग्रहण की जाती है तब वह अपना कार्य करती है, उसका अभिमान होने से उसका अग्रहण ही है अर्थात् अभिमान होने से विद्या से प्राप्त गुण व उसके कार्य तिरोहित

हो जाते हैं, जो बिना पढ़ने के भी समझता है कि मैं पण्डित हूँ, वह प्रयोजन के न होने से अपने लिए विद्या का ग्रहण न करेगा ही, फिर विद्या का फल कैसे होगा ? अतः ऐसे पुरुषों को पुराणादि के पठन गुण-जनक नहीं होते हैं किञ्च नट की तरह दूसरों को दिखाने के लिए ही जो विद्या ग्रहण करता है, उसको विद्या से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है जैसे नट को नाट्य करने से कोई फल प्राप्त नही होता है फिर यदि वह अजितात्मा है तो पैदा हुए गुण भी तामस भावों से तिरोहित हो जाते हैं अतः इसमें सब हैं, इसलिए पाँचों दोषों के होने से इसमें विद्या फलीभूत नहीं हुई है ॥२६॥

आभास—नन्वस्य दोषेणायमेव नष्टो भवतु किं तव । यथास्य बिनयो **धर्मः** एव तव क्षमापि तदभावे तवापि दोष एवेत्याशङ्क्याह **एतदर्थं** इति ।

आभासार्थ—वह अपने दोषों से आप ही नष्ट होगा, इसमें आपका क्या जाता है ? जैसे विनय धारण करना इसका धर्म है वैसे आपका भी क्षमा करना धर्म है, यदि आप क्षमा नहीं करते हो तो आप भी दोषी बनोगे, इस प्रकार की शङ्का होने पर 'एतदर्थ' श्लोक में उत्तर देते हैं ।

श्लोक—**एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।**
वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोधिकाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—धर्मध्वजी (पाषण्डी-पापी) पुरुषों के नाशार्थ ही मैंने अवतार लिया है, मुझे धर्मध्वजी मारने चाहिए क्योंकि निश्चय से वे ही अधिक पापी हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—इदं नाधिकारिभिः कर्तुं शक्य-मन्यथाधिकारस्वीकारो व्यर्थः स्यात्, यथा परम-हंसानां सर्वातिक्रमसहनं युक्तं एवं राज्ञोऽपि चेत्तदा सर्वनाशः स्यात् । **एतदर्थमेव मम अवतारः** येन धर्मो रक्षितो भवति । अतस्तदेव मम कर्त-व्यम् । धर्मे च प्रतिपक्षा निराकर्तव्याः । तत्रा धर्मकारिभ्योपि **धर्मध्वजिनो** दुष्टाः अन्यानपि नाशयन्तीति तेषां दोषाधिक्यमाह **ते हि पातकिनो-ऽधिका** इति । **ते अधिकाः पातकिनः** साक्षान्निषि-द्धाचरणमधर्मः, तस्योत्कर्षो महापातकम्,तेभ्यो-ऽपि धर्मध्वजिनः अधिकाः । **'विधर्मः परधर्मश्च'** इति वाक्ये एतन्निरूपितम् । उपधर्मास्ते तद्धर्म-निवृत्तीच्छायामपि न निवर्तन्ते नापि प्रतीकारा-र्थमिच्छामपि कुर्वन्ति अतोस्मिन्विद्यमाने अधर्मा-नुवृत्तिर्भविष्यतीति वधावश्यकता निरूपिता ।२७।

व्याख्यार्थ—अधिकारियों को यों करना योग्य नहीं है, यदि क्षमा करें तो उनका अधिकारी बनना ही व्यर्थ है, जैसे परमहंस सर्व प्रकार के अतिक्रमणों को सहन करे अर्थात् अतिक्रम करने वाले दोषी को क्षमा करे, यह उनका धर्म है वैसे यदि राजा भी दोष करने वालों को दण्ड न देकर क्षमा करे तो सर्व प्रजा का नाश हो जावे, अतः सर्व प्रजा की रक्षार्थ दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही मेरा अवतार है, जिससे ही धर्म रक्षित होता है, अतः वह ही मेरा कर्त्तव्य है, धर्म पालन में अधर्मियों का निराकरण ही करना चाहिए, उसमें अधर्म करने वालों से भी धर्मध्वजी (पाखंडी) दुष्ट हैं क्योंकि अधर्म करने वाले अपने को नष्ट करते हैं, किन्तु धर्मध्वजी दूसरों को भी नाश करते हैं इस कारण से वे अधिक पातकी हैं । शास्त्र में निषिद्ध आचरणों को पालन करना अधर्म है, उस अधर्म का उत्कर्ष महान् पातक है, उनसे भी धर्मध्वजी अधिक पापी हैं इसका निरूपण 'विधर्मः परधर्मश्च'

वाक्य में किया है, वे उपधर्म उनसे निवृत्ति की इच्छा करने पर भी नहीं निवृत्त होते हैं और प्रतीकार के वास्ते इच्छा भी नहीं करते हैं, अतः इसके विद्यमान रहने पर अधर्म बढ़ता ही रहेगा, इसलिए वध की आवश्यकता निरूपण की है ।।२७।

आभास—ततो यत्कृतवांस्तदाह **एतावदुक्त्वेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो किया वह 'एतावदुक्त्वा' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**एतावदुक्त्वा भगवान्निवृत्तोसद्वधादपि ।**
भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत्प्रभुः ।।२८।।

श्लोकार्थ—यद्यपि बलरामजी ने दुष्टों का वध करना त्याग दिया था तो भी भावी प्रबल है, ऐसा होना ही था, इसलिए इतना कहकर सर्वसमर्थ ने अपने हाथ में धरे हुए दर्भ के अग्र भाग से उसको मार डाला ।।२८।।

सुबोधिनी—स हि सङ्कल्पमारभ्य **असद्वधादपि निवृत्तः** । व्रतिनो वध्यवधोपि निषिद्ध इति तथापि क्षोभाधिक्यात्, तथैव **भावित्वात्**, धर्मपरीक्षार्थं लौकिकं शस्त्रं परित्यज्य तत्रापि स्वहस्तस्थितं सूक्ष्ममेव कुशं मारणार्थं गृहीतवान् । हस्तस्थितौ तस्मिन् क्रियाशक्त्यध्यासः । मरणे तथा मारणे च हेतुः **प्रभुरिति** ।।२८।।

व्याख्यार्थ—वह (बलरामजी) निश्चय पूर्वक सङ्कल्प कर असत्पुरुषों के वध से निवृत्त हो गए थे, जिसने ऐसा व्रत ले लिया है उसको मारने के योग्य को भी मारना निषिद्ध है, तो भी अधिक क्षोभ होने से तथा ऐसी भावी बननी ही थी इसलिए धर्म की परीक्षा के लिए लौकिक शस्त्र त्याग कर, उसमें भी अपने हस्त में धरे हुए सूक्ष्म कुश को मारने का साधन बनाया, कुश, हस्त में रखा हुआ था, इसलिए उसमें क्रिया शक्ति का अध्यास था प्रभु होने से मरने और मारने में कारण हैं, यों, ।।२८।।

आभास—यद्यपि तन्मारणं धर्मः तथापि धर्मप्रवर्तकानां नाभिप्रेतः, अतस्ते खिन्ना जाता इत्याह **हाहेति** ।

आभासार्थ—यद्यपि उसका वध धर्म था किन्तु ऋषियों को वह इच्छित नहीं था, अतः वे खिन्न (अप्रसन्न) हुए जिसका वर्णन 'हाहेति' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।**
ऊचुः संकर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभोः ।।२९।।

श्लोकार्थ—तब सब मुनि हाहाकार करने लगे और खिन्न चित्त हो बलरामजी को कहने लगे कि हे प्रभुः आपने यह अधर्म किया है ।।२९।।

सुबोधिनी—**सर्व** एव स्वाभिलषितनाशात् **हाहेतिवादिनः**। ते हि भगवत्कथां शृण्वानाः तद्विघातो जात इति **खिन्नमानसा** जाताः। यतो **मुनयः**। श्रुतो हि भगवान् मन्तव्यो भवति। साक्षाद्गुरोः सकाशादध्ययनव्यापारे मननं बाधितं भवेत्। अतोयं प्रसङ्गाद्गृहे समागतः सर्वं श्रावयतीत्यनायासेनाभिलषितसिद्धिः तन्नाशान्मनः खेद। तथापि जात एवानर्थ इति तूष्णीं स्थातव्यं किमित्युपालम्भः क्रियत इति तत्राह **संकर्षण**मिति। स ह्यन्यधर्ममन्यत्र प्रयोजयितुं शक्तः द्रष्टृदृश्ययोर्मेलकत्वात्। तत्रापि **देवः** अलौकिकमपि योजयेत्। अतः स वक्तव्य एवेत्यूचुः। **न** त्वया **अधर्मः कृत** इति। अयमधर्मस्तवैव जातो नास्माकमयमभिप्रायः **प्रभो**रिति सामर्थ्यमेव त्वया प्रकटितं न तु ज्ञानमिति सूचितम्॥२९॥

व्याख्यार्थ—सब ही मुनिलोग, अपने इच्छित कार्य नाश हो जाने से हाहाकार करने लगे, वे निश्चय पूर्वक भगवत्कथा सुन रहे थे उसका नाश हो गया, अब कैसे सुनेंगें? इससे खिन्न हृदय वाले हुए क्योंकि 'मुनि' हैं भगवत्कथा सुनकर मनन करने वाले हैं, भगवान् के गुण गान जब सुने जाते हैं तब ही उनमें प्रेम उत्पन्न होता है जिससे वे पूजनीय समझे जाते हैं।

साक्षात् गुरु की सन्निधि में बैठे जब पढा जाता है तब उसका मनन करना नहीं बन पाता है, अतः यह प्रसङ्ग से घर पधार गया, जो भी हम पूछेंगे वह सुनाएगा, जिससे बिना श्रम के अभिलषित[1] की सिद्धि हो जाती, उसका नाश हो गया इससे मनको खेद हुआ, तो भी जो होना था वह अनर्थ हो ही गया इसलिए अब मौन ही धारण करना उचित है, उपालम्भ क्यों देते हो? इसका उत्तर देते हैं कि ये सङ्कर्षण हैं इनमें वह शक्ति एक का धर्म (कर्म वा शक्ति) दूसरे में स्थापित कर सकते हैं द्रष्टा[2] व दृश्य[3] दोनों को मिला सकते हैं, उसमें भी फिर विशेषता यह है कि देव हैं। जिससे अलौकिक कार्य भी कर सकते हैं, इसलिए इनको कहना ही चाहिए, तुमने इसका जो वध किया वह अधर्म कार्य किया है, यों कहने का भाव यह है, इसके मारने से जो अधर्म हुआ, अधर्म का पाप आपको ही लगेगा न कि हमको, 'प्रभो' विशेषण से यह बताया है कि आपने अपना सामर्थ्य ही प्रकट कर दिखाया है, न कि ज्ञान प्रकट किया है॥२९॥

आभास—कथमधर्म इत्याशङ्कायामाह **अस्य ब्रह्मासनं** दत्तमिति।

आभासार्थ—यह वध अधर्म कैसे हैं उसका उत्तर 'अस्य ब्रह्मासन' श्लोक में देते हैं—

श्लोक - **अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन।**
आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत्सत्रं समाप्यते॥३०॥

श्लोकार्थ—हे यदुनन्दन! हम लोगों ने इसको ब्रह्मासन दिया है और इसकी आयु कम थी, इसलिए जब तक हमारा यह सत्र (कथा-यज्ञ) समाप्त न होवे तब तक यह जीवित रहे॥३०॥

१-जो हम चाहते हैं उसकी सिद्धि २-भगवान् ३-जगत् इन दोनों को संहार से मिलाने वाले अर्थात् एक करने वाले हैं।

सुबोधिनी—अन्यस्मात्कथाश्रवणं दोषायेति **ब्रह्मासनं** दत्तवन्तः। यावदयमासने उपविश्य तिष्ठति तावद्ब्राह्मण एवेति अत एवानेन नोत्थितम्, तैस्तु स्वब्रह्मत्वमत्र स्थापितामिति तेषामुत्थानेप्यस्यानुत्थानं न हि ब्राह्मणः क्षत्रियं मन्यते, धर्मस्तु अयुक्ते ब्रह्मत्वं स्थापितमिति वधे सानुकूलः। **अस्माभिरिति** स्वसामर्थ्यं ख्यापयति। **यदुनन्दनेति** ब्राह्मणहृदयानभिज्ञत्वम्। 'पितापुत्रौ विजानीयाद्'ति वाक्यात् क्षत्रियः पुत्रो भवति। ततः पितुरभिप्रायाज्ञानं तव युक्तमिति गूढोऽभिप्रायः। किंच। अस्मद्वाक्यमपि त्वया नाशितमित्याह **आयुश्चे**ति। यद्यपि ब्राह्मणानां कृतिः अन्यथापि भवेत् तथापि वाक् मृषा भवितुं नार्हति। अस्माभिश्च अल्पायुरयं ज्ञात्वा अस्मा आयुर्दत्तम्। **यावत्सत्रं समाप्यते** तावदस्मदायुरत्र तिष्ठति अतोस्माकमायुषोपि क्षयो जातः। सूर्यो धर्मादिकरणदशायां आयुर्न गृह्णति इत्यवोचाम। किंच। **आत्मावलमं च** आत्मनो देहस्य क्लमाभावः। अतः स्वकीयदानमलौकिकदानं च स्वयं नष्टमित्याक्रोशो जातः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण के सिवाय दूसरे से कथा सुननी दोष देने वाली है इसलिए हमने इसको ब्रह्मासन दिया है जिससे यह जब तक इस आसन पर बैठा रहे तब तक ब्राह्मण ही है। अत एव यह आपके आने पर उठकर खड़ा नहीं हुआ है। मुनियों ने अपना ब्रह्मपन इसमें स्थापित किया जिससे यह अब ब्राह्मण है, किन्तु जिन मुनियों ने इसको ब्राह्मणत्व दिया वे तो उठ खड़े हुवे तो भी यह नहीं उठा, कोई भी सुज्ञ जन क्षत्रिय को ब्राह्मण नहीं मानता है। अयोग्य में ब्राह्मणत्व स्थापित किया, इसलिए ऐसे के वध में धर्म अनुकुल ही है। 'अस्माभिः' बहुवचन देकर अपनी समर्थता प्रकट कर दिखाई है, 'यदुनन्दन' विशेषण से जताया है कि ब्राह्मणों का हार्द नहीं समझते हैं 'पिता पुत्रौ विजानीयात्' इस वाक्यानुसार पुत्र क्षत्रिय हो तो ब्राह्मण पिता के अभिप्राय को नहीं जान सकता है, कहने का यह गुप्त आशय है कि तुम्हें जो पिता के अभिप्राय का अज्ञान है वह उचित ही है और विशेष यह है कि तुमने हमारी वाणी का भी नाश किया है, यद्यपि ब्राह्मणों की कृति अन्यथा हो भी सकती है किन्तु वाणी झूठी होने योग्य नहीं है। हम लोगों ने इसकी आयु थोड़ी देखकर इसको आयु का दान किया कि जहां तक हमारा सत्र समाप्त नहीं होगा तहां तक तुम्हारी मृत्यु भी न होगी अर्थात् तुम तब तक जीवित रहोगे तब तक हमारी दी हुई आयु रहेगी, इसका वध होने से हम लोगों के आयु का भी क्षय हो गया। सूर्य भी धर्मादि करने की दशा में आयु को ग्रहण नहीं करता है, यों हम कहते हैं, किञ्च आत्मा का अर्थात् देह के नाश का अभाव है अतः अपना किया हुआ दान और अलौकिक दान स्वयं नष्ट हो गए, इस कारण से हाहाकार हुआ ॥३०॥

आभास—तर्हि किं पर्यवसितं जातमित्याकाङ्क्षायामाहुः **अजानतैवाचरित** इति।

आभासार्थ—ऐसा होने पर क्या परिणाम निकला? इस आकाङ्क्षा का (अजानतैव) श्लोक में उत्तर देते हैं।

श्लोक—**अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा।**
योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोपि नियामकः ॥३१॥

श्लोकार्थ—जैसे ब्राह्मण का वध, वैसे यह भी है इसलिए यह वध महान् पातक के

समान है, किन्तु आपने यह अनजान होके किया है, इसका जो प्रायश्चित होना चाहिए वह आपको लगता नहीं है क्योंकि आप योगेश्वर होने से वेद के भी नियामक हैं ।३१।

सुबोधिनी—**यथा ब्रह्मवध**: तथास्य वध इति महापातकसमत्वम् । अज्ञानात्कृतमिति प्रायश्चित्तार्हता, कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विवक्षितेति । तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **योगेश्वरस्येति** । यो हि जीवः तस्यैव कर्मणा गुणदोषौ भवतः भवांस्तु योगेश्वरो ब्रह्म । अतो **भवतो नियामक आम्नायोऽपि न** भवति, वेदेन हि सर्वार्थो नियम्यते । अतो यद्यपि तव न वधदोषः प्रकारान्तरेण धर्माभीप्सितमप्युक्तम् ।।३१।।

व्याख्यार्थ—यह वध ब्राह्मण वध के समान होने से महापातक के तुल्य है किन्तु अज्ञान से किया है, अतः प्रायश्चित्त के योग्य है, जानकर ब्राह्मण का वध किया जावे तो उसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है, तो अब क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप योगेश्वर अर्थात् ब्रह्म हैं, जो जीव होता है उसको उसके कर्म के गुण और दोष लगते हैं आपको नहीं, कारण कि वेद, जीव का नियामक है आपका नहीं है, वेद से ही सर्व अर्थों का नियमन होता है, अतः यद्यपि आपको वध का दोष नहीं लगता है प्रकारान्तर से धर्म अभीप्सित था यों कहा है ।।३१।।

आभास—तथापि प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याहुः **यद्येतद्ब्रह्महत्याया** इति ।

आभासार्थ—तो भी प्रायश्चित्त करना चाहिए यह 'यद्येतद्ब्रह्म' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन ।**
चरिष्यति भवाँल्लोकसंग्रहोनन्यचोदितः ।।३२।।

श्लोकार्थ—हे लोकपावन ! जो आप ब्रह्महत्या के पाप को मिटाकर पवित्र करने वाला प्रायश्चित करोगे तो जगत् की मर्यादा रहेगी ! जिससे लोक संग्रह होगा और लोक पवित्र होंगे ।।३२।।

सुबोधिनी - एतादृश **ब्रह्महत्यायाः पावनं** प्रायश्चित्तं तदा तव **लोकसंग्रहः** नान्यथा, अन्यैश्चोक्तः **लोकसंग्रहो** न भवति अस्मद्विरोधात् । ननु मास्तु लोकसंग्रह इति चेत्तत्राहुः **लोकपावन** इति लोकपावित्र्यार्थमेव त्वया समागतमिति । यथा वधाभावे त्वया अवतारवैयर्थ्यमुक्तं तथा प्रायश्चित्ताकरणेऽपि लोकोपकाराभावादवतारवैयर्थ्यमिति भावः ।।३२।।

व्याख्यार्थ -ऐसी ब्राह्महत्या का प्रायश्चित आप लोक संग्रह के लिए करोगे, अपने पाप धोने के लिए नहीं क्योंकि आपको तो पाप स्पर्श ही नहीं कर सकते हैं, यदि 'हमारे विरोध से लोकसंग्रह नहीं होगा यों दूसरे कहें' तो भी लोक पावन के लिए आपका अवतार है अतः यह प्रायश्चित्त लोक को तो पवित्र करेगा ही, जैसे वध न करने से आपने कहा कि मेरा अवतार लेना व्यर्थ होगा वैसे प्रायश्चित के न करने से लोगों पर उपकार भी न होगा जिससे भी अवतार की व्यर्थता होगी यों भाव है ।।३२।।

आभास—ऋषिप्रोक्तं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमिति निश्चित्य पृच्छति **चरिष्य** इति ।

आभासार्थ—जो प्रायश्चित्त ऋषि लोग कहे वह करना चाहिए यह निश्चय कर निम्न श्लोक में ऋषियों से पूछते हैं—

श्लोक—श्री बलदेव उवाच—**चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।**
नियम प्रथमे कल्पे यावान्स तु विधीयताम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—श्री बलदेवजी कहने लगे कि लोकानुग्रह की कामना से वध का प्रायश्चित करूंगा, प्रथम कल्प में जो नियम था वह बताईये ।।३३।।

सुबोधिनी—**वधनिर्वेशो** वधप्रायश्चित्तम् । लोकपावनोपपत्तिमङ्गीकृत्याह **लोकानुग्रहकाम्ययेति** । ततश्चानुकल्पं परित्यज्य मुख्यकल्पमेव वदन्त्वित्याह **नियमः प्रथमे कल्प** इति । मुख्यकल्पे यावद्व्रतं तावद्वेदो न वदतीति सङ्कोचं परित्यज्य **स विधीयताम्** ।।३३।।

व्याख्यार्थ—'वधनिर्वेश' का तात्पर्य है वध का प्रायश्चित्त, जिससे लोक पवित्र होंगे यह उपपत्ति मानकर कहते हैं कि लोकानुग्रह की कामना से प्रायश्चित करूँगा, मुख्य कल्प में जो प्रायश्चित्त करने के नियम थे वे मुझे कहिये, मुख्य कल्प में जो नियम थे वे वेद इस समय नहीं कहता है, इस सङ्कोच का त्याग कर मुख्य कल्प के नियम बतलाईये ।।३३।।

आभास—अथान्यदप्यभिलषितं भवतां करिष्यामीत्याह **दीर्घमायुरि**ति ।

आभासार्थ—आपको अन्य भी कुछ अभिलषित हो तो वह कहिए मैं वह भी पूर्ण करूंगा-यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।**
आशंसितं यत्तद्ब्रूत साधये योगमायया ।।३४।।

श्लोकार्थ—इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रिय सामर्थ्य जो भी आपकी इच्छा हो वह कहिए मैं अपने योगबल से सर्व पूर्ण करूंगा ।।३४।।

सुबोधिनी—यथैतस्य दीर्घमायुः सत्त्वं बलं **इन्द्रियसामर्थ्यं** च । चकारादन्यदपि यदेव किंचद्भवता**माशंसितं चका**रात्पूर्वमनाशंसितं च तत्सर्वं **योगमायया** साधयिष्यामि ।।३४।।

व्याख्यार्थ—जैसे कि इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रियों में सामर्थ्य हो वह अन्य भी जो कुछ आपकी इच्छा हो, 'च' पद से कहते हैं कि आगे इच्छा न भी हो, अब हुई हो वह भी कहिए तो मैं सब अपने योगबल से सिद्ध करूंगा ।।३४।।

आभास—तदा संतुष्टा ऋषय ऊचुः परीक्षार्थं संदिहाना विरुद्धद्वयमस्माभिर्वक्तव्यम्,

तत्र यदि समाधानं ज्ञास्यति तदा अस्योक्तं भविष्यतीति तादृशमाहुः **अस्त्रस्येति** ।

आभासार्थ—बलरामजी के ये वाक्य सुनकर प्रसन्न हुए ऋषि कहने लगे इनकी परीक्षा लेवें वा नहीं ? हम एक दूसरे के विरुद्ध बाते कहें, उसमें यदि समाधान समझ जाएगें तो इसका यों कहना सिद्ध होगा यह 'अस्त्रस्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— ऋषयः ऊचुः—**अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।**
यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ।।३५।।

श्लोकार्थ—ऋषि कहने लगे-आपके अस्त्र की, पराक्रम की और मृत्यु की सत्यता हो जाय और हमको भी बाध न होवे जो कुछ कहा है वह सत्य हो वैसे करिये ।३५।

सुबोधिनी—चत्वारोत्र व्यापृताः **अस्त्रं, तव वीर्यम्, मृत्युर्वयं** चेति तत्र तस्य जीवने त्रयं बाधितं भवेत्, अजीवने तु वयं चकारात्तव वाक्यं च । यथैतच्चतुष्टयमपि सत्यं **भवेत् तथा राम विधीयतामिति** ।।३५।।

व्याख्यार्थ—यहाँ चार विषय मिले हुए हैं , अस्त्र , आपका वीर्य (पराक्रम) मृत्यु और हम , इसमें उसके जीने में तीन बाधित हैं और अजीवन में तो हम , ' च ' पद से , और आपका वाक्य , जैसे ये चार भी सत्य हो जाय हे राम ! वैसे कीजिए ।। ३५ ।।

आभास – एकेनैव चतुर्णां दूषणानां निर्द्धारमाह **आत्मा वै पुत्र उत्पन्नः** इति ।

आभासार्थ—एक ' आत्मा वै ' श्लोक से चारों दूषणों का निर्णय करते हैं—

श्लोक - श्री बलदेव उवाच—**आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।**
तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान् ।।३६।।

श्लोकार्थ—श्री बलदेवजी कहने लगे कि इसका पुत्र उग्रश्रवा तुमको पुराण सुनावेगा क्योंकि वेद की आज्ञा है कि पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है वह आयु, वीर्य और इन्द्रिय बलवान होगा ।।३६।।

सुबोधिनी—'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्' इति । यद्यप्ययमनुकल्पः तथापि मुख्याभावे विधीयते यतो **वेदानुशासनम्** । **तस्मादस्य** पुराणस्य **वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान्** अयमेव भवेत्तदा अस्त्रस्य, मम वीर्यस्य **तस्मादस्य** मृत्योश्च न बाधा भवति । सामान्यात्प्रतिनिधिस्तद्धर्मजः स्यादिति न्यायात् । अस्यापि तथाविधा भवत्विति बोधितम् ।।३६।।

व्याख्यार्थ—'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्'

इस श्रुति के अनुसार पुत्र पिता के अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होने से पिता का ही रूप है, उसमें आशीर्वाद रूप से कहा है कि वह १०० वर्ष जीवित रहे, यद्यपि यह अनुकल्प है, तो भी मुख्य के अभाव में उसीसे कार्य चलाना चाहिए क्योंकि वेद की आज्ञा है, इस कारण से इस पुराण का कहने वाला आयु, इन्द्रिय सामर्थ्य और वीर्यवाला यह ही होवे तब अस्त्र, मेरे वीर्य, उससे इसके मृत्यु में बाधा न होगी . सामान्यतया उस धर्म से उत्पन्न प्रतिनिधि होना चाहिए, इस न्याय से इसका भी यही प्रकार होना चाहिए, यों समझाया हैं ।। ३६ ।।

आभास—किंच । यद्यपीदं भवतां सर्वथा नाभिप्रेतं तथाप्येतत्प्रतिनिधित्वेनान्यद्वक्तव्यमित्याह **किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा** इति ।

आभासार्थ—और कुछ यद्यपि, यह जो मैंने बताया वह आपको सर्वथा इच्छित हो वह कहिए यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।**
अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ।।३७।।

श्लोकार्थ—हे मुनिश्रेष्ठों ! आपकी कौनसी इच्छा है वह कहिये तो मैं करूंगा, क्या प्रायश्चित करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूँ इसलिए आप विचार कर मुझे बतलाइए ।।३७।।

सुबोधिनी—**अथ** तदनन्तरं शीघ्रमेव तत्करवाणि । तर्हि स्वेच्छयैव किंचित् कर्तव्यमिति चेत्तत्राह **अजानतस्त्वपचितिमिति** । विधाय **यथा** यथावत् । यतो भवन्तो **बुधाः** । अतः **अपचितिम**पराधदूरीकरणोपायं **चिन्त्यताम्**, तदनूच्यतामित्यर्थः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—आपके कहने के अनन्तर, आपका कहा हुआ शीघ्र ही करूंगा, यदि कहो कि हमसे क्यों पूछते हो अपनी इच्छा से कीजिए, इसके उत्तर में कहते हैं कि, क्या प्रायश्चित करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूँ अतः जैसा प्रायश्चित का प्रकार हो वह विचार कर मुझे आप कहें क्योंकि आप बुध हो अर्थात् इसको जानते हो अतः अपराध के दूर करने का उपाय विचारिये, विचार करने के अनन्तर मुझे बताइए ।। ३७ ।

आभास—तदाहुः **इल्वलस्येति** ।

आभासार्थ—ऋषि लोग निम्न 'इल्वलस्य' श्लोक में वह अपना इच्छित कार्य बताते हैं—

श्लोक—ऋषय ऊचुः - **इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।**
स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ।।३८।।

श्लोकार्थ—ऋषि कहने लगे कि, इल्वल का पुत्र बल्वल नामवाला दानव प्रत्येक

पर्व पर आके हमारे यज्ञ को दूषित करता है ।।३८।।

सुबोधिनी—समानमेव निष्कृतिहेतुर्भवति । इल्वलोऽपि ब्रह्मवेषधरो भवति ऋषिवेषेणैव क्वचित् स्थित्वा 'अगस्त्यायातिथये पेचे वातापिम्' स इल्वलः, तस्य **सुतो बल्वलः** । स स्वभावतोऽपि वध्य इति ज्ञापयितुमाह **दानव** इति । किमतस्त्राह **सः दूषयति नः सत्रमिति** । **पर्वणि पर्वणि** पूर्णमास्यां सुत्यादिवसे ।।३८।।

व्याख्यार्थ—बराबर वाला ही निष्कृति का हेतु होता है , इल्वल[1] भी ब्राह्मण वेष धारण कर ऋषि रूप से कहीं ठहरा था उसका पुत्र बल्वल है , वह मारने योग्य है कारण कि एक तो वह दानव है , इससे वध के योग्य है और दूसरा कारण यह है कि वह पुर्णमासी आदि प्रत्येक पर्व पर आकर हमारे यज्ञ को अपवित्र वस्तुओं द्वारा दूषित करता है ।। ३८ ।।

आभास—एवं तस्यापराधमुक्त्वा कर्तव्यमाह **तं पापं जहीति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसका अपराध कहकर अनन्तर निम्न श्लोक में कर्तव्य कहते हैं—

श्लोक—**तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम्**
पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षणम् ।।३९।।

श्लोकार्थ—उस पापी दैत्य का वध करो, कारण कि यह हमारे यज्ञ को पूय, रुधिर, विष्टा, मूत्र, मद्य और मांस की वर्षा से भ्रष्ट करता है इसका वध ही हमारी बड़ी सेवा आपने की, यों हम मानेंगे ।।३९।।

सुबोधिनी— पापत्वादवश्यं मारणीयः । **दाशार्हेति** स्वस्य शरणागतत्वं तस्य तत्पालकत्वं च बोधितम् । तदेव **नः शुश्रूषणम्**, अपेक्षितत्वाद्दुःखनिवारकत्वाच्च । यद्यपि पादसंबाहनादिकमपि भवति शुश्रूषणं तथापि **तत्परम्** । तस्य दूषणप्रकारमाहुः **पूयशोणितेति** । परशुश्रूषणत्वायैतदग्रे कथितम् । पूयादिषण्णाम**भितो वर्षणम्** यस्मादिति ।।३९।।

व्याख्यार्थ—पापी होने से यह अवश्य मारने योग्य है , दाशार्ह ! संबोधन से यह बताया है कि , हम आपके शरण आए हुए हैं , हमको पालना यह आपका धर्म है , यों करना ही , हमारी सेवा है, यह हमारी अपेक्षा है अर्थात् हम यों चाहते हैं और दुःख निवारक होने से भी यह कार्य आपको अवश्य करना चाहिए यद्यपि पाद[2] संवाहन आदि भी सेवा है किन्तु यह उससे श्रेष्ठ है , उसके (बल्वल के) दूषण कहते हैं- पूयादि षट अमेध्य वस्तुओं की वर्षा यज्ञ में करते हैं- परशुश्रूषेणत्व[3] के लिए यह पहले कहा है ।। ३९ ।।

आभास—एवं स्वाभिलषितमुक्त्वा तत्करणेनास्मत्संतोषे सुगममेव प्रायश्चित्तं त्वया कर्तव्यमित्याह **ततश्च भारतं वर्षमिति** ।

१- 'अगस्त्यायातिथये पेचे वातापिम्' स इल्वलः २- चरण चाँपना ३- बड़ी सेवा

आभासार्थ—इस प्रकार अपना अभिलषित कह कर, उसके करने से हम प्रसन्न होंगे, फिर आप सुगम ही प्रायश्चित्त करना, वह प्रायश्चित नीचे के श्लोक में सुनाते हैं—

श्लोक—**ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।**
चरित्वा द्वादशान् मासांस्तीर्थस्नायी विशुध्यसे ।।४०।।

श्लोकार्थ—इसके बाद मन स्थिर कर, एक वर्ष पर्यन्त भारत में भ्रमण करते हुए तीर्थों में स्नान करने से आप ब्रह्महत्या के पाप को धोकर शुद्ध हो जाओगे ।४०।

सुबोधिनी—**भारतवर्षस्य** संपूर्णस्य **परिभ्रमणं** कर्तव्यम् । अयं मुख्यः कल्पः । तत्र प्रकारः **सुसमाहित** इति । **द्वादशान्मासान्** व्रतं **चरित्वेति** शूद्रहत्याव्रतमुपदिष्टम् । ततः वर्षपर्यन्तं तीर्थस्नानेनान्तिमेन वा **विशुध्यसे** शुद्धो भविष्यसि । यात्रा ब्रह्महत्यायाः प्रायश्चित्तं भवति कालस्तु शूद्रहत्यायाः, अस्मत्संतोषो बल्वलवधेन, वाक्यादीनां सत्यता प्रतिनिधिस्थापनेनेति सर्वं यथास्थितं जातमिति **विशुध्यसे** ।।४०।।

व्याख्यार्थ—सम्पूर्ण भारतवर्ष की परिक्रमा करनी, यह मुख्य कल्प है, उसमें क्या करना वह प्रकार बताते है, १-एक चित्त हो . २-एक वर्ष पर्यन्त वह व्रत रखना है, यह व्रत, शूद्रहत्या के पाप का नाशक है, इसके बाद साल भर तीर्थों में स्नान करना, सम्पूर्ण स्नान होने के बाद जब अन्तिम स्नान करोगे तब शुद्ध हो जाओगे, भारत समग्र की यात्रा ब्रह्महत्या का प्रायश्चित है, एक वर्ष का काल शूद्रहत्या का प्रायश्चित है, बल्वल के वध से हमारा सन्तोष होगा, प्रतिनिधी के स्थापित होने से आपके वाक्य की सत्यता सिद्ध होगी; यों सब यथास्थित हो जाएगा, अर्थात् जैसा था वैसा सब हो जायगा, जिससे आप शुद्ध हो जाओगे ।। ४० ।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ।। २५ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७५वें अध्याय (उत्तरार्ध के २९वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

—: दंतवक्र वध :—

राग मारू—

हरि निकट सुभट दंतवक्र आयौ ।
कह्यौ सिसुपाल तुम राजसू में हत्यौ, धन्य सोइ हेत मैं दरस पायौ ।
मरत तुम हाथ संसै नहीं कछु हमैं, दोउ बिधि आहिं प्रमुदित हमारें ।।
जिएँ तौ राजसुख भोग पावैं जगत, मुएँ निरवान निरखत तुम्हारे ।।
बहुरि लै गदा परहार कियौ स्याम पर, लग्यौ ज्यौं लगै अंबुज पहारै ।
हरि गदा लगत गए प्रान ताके निकसि, बहुरि हरि निज बदन माहिं धारे ।।
अनुज ताकौ बिदूरथ लग्यौ फिरन पुनि, चक्र सौं सीस ताकौं प्रहारयौ ।
सूर प्रभु जुद्ध निरखि भयौ मुनि जन हरष, सुर पुहुप बरषि जै जै उचारयौ ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७९वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७६वां अध्याय

उत्तरार्ध ३०वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" २

बल्वल का उद्धार और बलरामजी की तीर्थ यात्रा

कारिका—**कीर्त्यभावे सुसंसिद्धे कीर्तिहेतुन् बल. स्वयम् ।**
त्रिंशत्तमे तथाध्याये चकारेति निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्व अध्याय में बलरामजी ने सूत को मारा जिससे उनकी जैसे अपकीर्ति हुई, वैसे ही इस अध्याय में बलरामजी स्वयं ऐसे कर्म करेंगे जिनसे आपका यश फैलेगा ॥१॥

आभास—तत्र प्रथमं बल्वलवधार्थं कालप्रतीक्षा कृता । ततो बल्वलसमागमनमाह **ततः पर्वण्युपावृत्त** इति ।

आभासार्थ—उसमें पहले बल्वल के वध के लिए काल की प्रतीक्षा की पश्चात् बल्वल आया, जिसका वर्णन 'ततः' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः ।**
भीमो वायुरभूद्राजन्पूयगन्धस्तु सर्वतः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, हे राजा ! जब पूर्णिमा का पर्व आया तब उस दिन भयंकर और प्रचण्ड पवन चलने लगा और साथ में धूलि बरसने लगी तथा चारों ओर पूय की बदबू फैल गई ॥१॥

सुबोधिनी—दानवा अदृष्टं एवेति तत्कार्यमेव दृष्टं वर्णयति **ततः प्रचण्डः पांशुवर्षणः** पांशुवृष्टिं वर्षन् भयानको **वायुराविर्भूतः**। एतत्तेषां प्रथमकार्यम्। **राजन्निति** संबोधनं महती सेना पश्चात्समायातीति ज्ञापनार्थम्। ततः **पूयगन्धश्च सर्वतो** जातः। ॥१॥

व्याख्यार्थ - दानव स्वयं (खुद) तो अदृश्य ही होते हैं, इसलिए उसने जो दृष्ट कार्य किया उसका वर्णन करते हैं, पश्चात् धूल की वर्षा करता हुआ प्रचण्ड पवन चलने लगा, वह इनका प्रथम कार्य था, हे राजन् ! यह संबोधन इस आशय को जताने के लिए दिया कि इसके बाद बड़ी सेना आ रही है, अनन्तर चारों तरफ पूय की बदबू फैल गई।

आभास—वृष्ट्यर्थं सुरामांसादीनामानयनात् ।

आभासार्थ—वर्षा के लिए मद्य मांस आदि ले आया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ।**
अभवद्यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् ॥२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् यज्ञशाला में, बल्वल की बरसायी हुई अपवित्र मांसादि पदार्थों की वर्षा होने लगी, त्रिशूल धारण किए वह भी दीख पड़ा ॥२॥

सुबोधिनी—**ततो यज्ञशालायाममेध्यमयं वर्षमभूत्तेन** स एवोपद्रव इति निश्चितम्। ततः **सोऽप्यन्वदृश्यत। शूलधृगिति** युद्धार्थं महादेवाल्लब्धवरत्वं ख्यापयितुम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर यज्ञशाला में अपवित्र मांस पूयादि की वर्षा होने लगी, बलरामजी जान गए कि यह ही निश्चय उपद्रव है, बाद में त्रिशूलधारी वह बल्वल भी दीख पड़ा, त्रिशूल लेने का कारण यह था कि मुझे महादेवजी ने वर दिया है इसकी प्रसिद्धि होवे ॥२॥

आभास—ततो बलदर्शनेन तस्य स्वरूपं वर्णयति **तं विलोक्येति**।

आभासार्थ—पश्चात् उसका बल देख उसके स्वरूप का 'तं विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।**
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ।।३।।

श्लोकार्थ— महाकाय टूटे हुए अञ्जन (काजल) पर्वत के समान रंग वाले तपे हुए ताम्र समान लाल शिखा और दाढ़ी मूछ वाले, दाढें और भ्रुकुटी से भयंकर मुख वाले उसको देख राम ने निश्चय किया कि यह सर्वथा मार डालने के योग्य है— अनन्तर क्या किया ? उसका वर्णन ४ श्लोक में करते हैं ।

सुबोधिनी— आदौ मूर्तिस्थौल्यं दृष्ट्वापि भयजनकम् । बलाधिकत्वं च । वर्णेनापि तथात्वमाह **भिन्नाञ्जनचयोपम**मिति । अञ्जनचयोञ्जनपर्वतः प्रसिद्धाञ्जनपर्वताद्भिन्नश्चेन्मूर्तिमानञ्जनपर्वतो भवति । तस्याधिदैविकः पृथक् पर्वतः स्थितः तदायं तत्तुल्यो भवति । एवं तस्मिन् तामसभावमुक्त्वा तथा सति जडो भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्य स्वरूपे वर्णे च राजसं भावमाह **तप्तताम्रशिखाश्मश्रु**मिति । अग्नितप्तताम्रवच्छिखाः केशाः श्मश्रूणि च यस्य **तम्**। दंष्ट्राभिः **उग्रभृकुट्या** च सहितम्, **मुखं** च भ्रुकुटीसहितम्, मुखं दंष्ट्राभिरुग्रं वा अयं सर्वथा वध्य एवेति ।।३।।

व्याख्यार्थ—पहले उसकी मूर्ति की स्थूलता ही भय जनक थी, जिससे उसमें विशेष बल है यह समझा जाता है, फिर उसका रंग भी वैसा ही भयावह था, जिसका वर्णन 'भिन्नानञ्जचयोपमं' पद से करते हैं, अञ्जनचय का आशय है अञ्जन (काजल) का पर्वत, उस प्रसिद्ध अञ्जन पर्वत से टूटा हुआ भाग मूर्तिधारी अञ्जन का पर्वत हो जाता है, उसका आधिदैविक स्वरूप, अलग पर्वत रूप में स्थित होता है, तब यह उसके समान है । इस प्रकार उसमें तामस भाव है, यह कहा । यदि यों है तो वह जड़ होगा, इस प्रकार की शङ्का कर, उसके स्वरूप तथा वर्णन में राजस भाव का वर्णन करते हैं, अग्नि से तपाए हुए तांबे के समान केश, और दाढ़ी मूछ वाला है, और उसका मुख भी दाढ़ों से तथा उग्रभृकुटी से विकराल है, अतः यह सर्वथा मारने के योग्य ही है ।।३।।

श्लोक—**सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ।**
हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ।।४।।

श्लोकार्थ—शत्रु की सेना को नाश करने वाले मूसल और दैत्यों को दमन करने वाले हल का बलदेवजी ने स्मरण किया, जिससे वे दोनों हल और मूसल आ के उपस्थित हुए ।।४।।

सुबोधिनी—स्वशस्त्रं **मुसल**लाङ्गलात्मकं द्वारकायां स्थितं पाताले वैकुण्ठे वा स्थितं **सस्मार** यतो **रामः** सर्वेषां रतिजनकः पूर्ववद्विशेषणम् । **परसैन्यविदारण**मिति शत्रुसेनाविनाशकं **हलं च** तादृशम् । चकारेण तद्धर्मानुत्कर्षः **स्मरणा**नन्तरमेव बलभद्र**मुपतस्थतुः** तत्समीपमागते ।।४।।

व्याख्यार्थ—अपने दो शस्त्र, मूसल और हल नामक थे, जो द्वारका में, पाताल में, अथवा वैकुण्ठ में पड़े थे, उनका राम ने स्मरण किया, क्योंकि 'राम' सर्व को रति देने वाले हैं, आगे की

तरह यह विशेषण है, शत्रु सेना का जो नाश करे वैसा हल था, 'च' पद से उसके धर्म का अनुत्कर्ष कहा, स्मरण के बाद शीघ्र वे दोनों बलरामजी के पास आके खड़े हुए ।।४।।

आभास—ततो लीलायाः कर्तव्याभावात् एकेनैव प्रहारेण तं मारितवानित्याह **तमाकृष्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् लीला करनी नहीं थी. इसलिए एक ही प्रहार से उसको मार डाला. यह 'तमाकृष्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।**
मुसलेनाहनत्क्रुद्धोमूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ।।५।।

श्लोकार्थ—बलदेवजी ने क्रोध में आकर, आकाश में विचरते हुए उस ब्रह्मद्रोही बल्वल दैत्य को हल के अग्र से खींच कर, उसके शिर में मूसल का प्रहार किया ।।५।।

सुबोधिनी—**गगनेचरं** दूरे वर्तमानमपि । भगवत्त्वेऽपि क्रुद्धत्वान्मारणम् । क्रोधे हेतुः **ब्रह्मद्रुहमिति** । **बल** इति सामर्थ्यम् ।।५।।

व्याख्यार्थ—' गगनेचरं ' आकाश में विचरण कर रहा था इसलिए दूर था , तो भी बल्वल को हल के अग्र से खींच लिया , बलराम भगवत्व होने से नहीं मारते , किन्तु क्रोध आगया इसलिए क्रोध के कारण मूसल से प्रहार किया । क्रोध क्यों आया ? जिस के उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म द्रोही था , राम में ऐसा सामर्थ्य था ।। ५ ।।

आभास—तस्य पराक्रमः कोपि जात इति वक्तुं शीघ्रं तस्य पतनमेवोच्यते ।

आभासार्थ—उसका कोई पराक्रम देखने में न आया , यों कहने के लिए बताया है कि वह तुरन्त ही गिर गया यों ' सोऽपतद्भुवि ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**सोपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोसृक्समुत्सृजन् ।**
मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ।।६।।

श्लोकार्थ—मूसल के प्रहार से ललाट टूट गया, जिससे रुधिर की धारा बहाता हुआ पृथ्वी पर ऐसे गिर गया, जैसे वज्र के प्रहार से टूटा हुआ अरुण वर्ण का पर्वत गिरता है, गिरने के समय आर्तस्वर करते ही प्राण निकल गए ।।६।।

सुबोधिनी—**भुवीति** तस्यापि मुक्तिः । **निर्भिन्नललाटत्वं** प्रहारज्ञापकम् । **असृक् समुत्सृजन्निति** महाप्रहारः । प्रतीकाराकरणे ज्ञापकः **आर्तस्वरं मुञ्चन्निति** । मुक्त्यर्थं स्वस्मिन् दया ख्यापिता । तादृशोपि हन्तव्य एवेति दृष्टान्तमाह **शैलो यथा वज्रहत** इति । **अरुणः**अरुणवर्णः पर्वतः ।।६।।

व्याख्यार्थ—पृथ्वी पर गिरे, इससे ज्ञात होता है कि इसकी भी मुक्ति हुई। ललाट फूटना जनाता है कि मूसल का प्रहार है रुधिर (खून) बहता है जिससे समझ में आता है कि जबर्दस्त प्रहार हुआ है उसका किसी प्रकार प्रतिकार न हुआ, यह बताने के लिए आर्तस्वर करने लगा, इस प्रकार से भगवान् को प्रार्थना की कि दया कर मेरी मुक्ति कीजिए वैसे को भी मारना ही चाहिए इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे अरुण पर्वत वज्र से मारा गया वैसे इसका भी वध होना चाहिए ॥ ६ ॥

आभास—ततः इष्टस्य सिद्धत्वात् मुनयः स्तोत्रादिकं कृतवन्त इत्याह **संस्तुत्येति** ।

आभासार्थ—इष्ट सिद्ध होने के पश्चात् प्रसन्न मुनिगण स्तुति करने लगे, जिसका वर्णन 'संस्तुत्य' श्लोक में करते हैं :

श्लोक—**संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः ।**
अभ्यषिञ्चन्महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥७॥

श्लोकार्थ—मुनियों ने राम की स्तुति कर, सत्य आशीर्वाद देकर, जैसे देवताओं ने इन्द्र का अभिषेक किया वैसे इन्होंने बलरामजी का अभिषेक किया ॥७॥

सुबोधिनी – स्तोत्रं स्वसंतोषख्यापकम् । ततः प्रीतानां सत्याशीर्दानम् । ततः सर्वपुरुषार्थ सिद्ध्यर्थं **अभ्यसिञ्चन्** कीर्त्यर्थं पापनिवृत्त्यर्थं वा । परमदयालुर्व्रतस्थः कथमेवं कृतवानित्याशङ्कां वारयितुं महत्या प्रार्थनया केवलं मारितवान् । न तु स्वत एवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **वृत्रघ्नं विबुधा यथेति** । वृत्रे हते यथा देवा इन्द्राभिषेकं चक्रुरित्यर्थः । अनेन तस्य सर्वपापक्षयो निरूपितः ॥७॥

व्याख्यार्थ—स्तुति करने का तात्पर्य है अपने को संतुष्ट करना अतः बलरामजी की स्तुति कर मुनि लोग प्रसन्न हुए। बाद में सत्य आशीर्वाद भी दिए अनन्तर सर्व पुरुषार्थ सिद्धि के लिए राम का अभिषेक करने लगे। बलरामजी परम दयालु हैं और इस समय व्रतधारी भी हैं, ऐसी हालत में, वध जैसा कार्य कैसे किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि बहुत प्रार्थना करने से केवल मारा, स्वतः ही नहीं मारा इसको समझाने के लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे वृत्र को मारने से देव प्रसन्न हुए, जिससे उन्होंने इन्द्र का अभिषेक किया वैसे ही बल्वल दैत्य के नाश से मुनि प्रसन्न हुए, क्योंकि अब हमारा यज्ञकर्म शुद्धि एवं निर्विघ्न होगा, जिसके लिए ऋषियों ने भी अभिषेक किया ॥७॥

श्लोक—**वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।**
रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ॥८॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी की निवासवाली, जिसके पुष्प कभी मुरझाते नहीं, ऐसी वैजयन्तीमाला, दिव्य वस्त्र और दिव्य आभरण राम को दिये ॥८॥

सुबोधिनी—ततः कीर्त्याद्युपचयार्थं **वैजयन्तीं मालां ददुः**। आपादलम्बिनी वैजयन्ती, **श्रीधामेति** स्थिरलक्ष्मीत्वम् । **अम्लानेति** दोषाभावः । **पङ्कजेति** गुणाः । ततो **रामाय** सर्वरमणरूपाय, **दिव्ये वाससी दिव्यानि चाभरणानि** लौकिकशोभातिशोभितं **ददुः** ॥८॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् कीर्ति बढ़ाने के लिए, मुनियों ने राम को पैरों तक लटकती, लक्ष्मी का निवास स्थान, जिसके पुष्प कभी कुम्हलाते नहीं, ऐसी वैजयन्तीमाला दी, पुष्पों का न मुरझाना सिद्ध करता है कि इस माला में किसी प्रकार का दोष नहीं है, किन्तु 'पङ्कज' पद से कहते है सर्वगुण इसमें हैं। 'राम' शब्द से यह भाव बताया है कि यह स्वरूप सबको आनन्द कराने वाला है, वस्त्र और आभरणों को दिव्य कहने से उनकी, लौकिक शोभा से विशेष शोभा प्रकट की है इनके धारण करने से आपकी अलौकिक शोभा होगी ॥८॥

श्लोक—अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।
स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयुरास्रवत् ॥९॥
अनुस्रोतेन सरयुं प्रयागमुपगम्य सः ।
स्नात्वा संतर्प्य देवादीञ्जगाम पुलहाश्रमम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मुनि लोगों से आज्ञा ले, ब्राह्मणों के साथ कौशिकी नदी पर आकर वहाँ स्नान कर, मानस सरोवर गए वहाँ से सरयु के प्रवाह के साथ साथ आते प्रयाग पहुँचे, वहाँ त्रिवेणी में स्नान कर देव आदि का तर्पण कर, पुलह के आश्रम आए ।

सुबोधिनी—एवं लौकिकालौकिकशोभातिशयसंयुक्तः सन् तदाज्ञापालनार्थं **तैरभ्यनुज्ञातः** तीर्थयात्रार्थमाज्ञप्तः **ब्राह्मणैः** सह **कौशिकीं** नदीं ययौ । तत उत्तरभागे या कोटाग्रामादायाति सा **कौशिकी** तत्र **स्नात्वा** तेनैव मार्गेण मानस**सरोवरमगात्** । तस्मात्सरोवरात् बह्व्यो नद्यः प्रसृताः । ततः **सरयुरपि** प्रसृता । अतस्तत्सङ्गे **अनुस्रोतेन सरयुमयोध्यापर्यन्तमागत्य** पश्चात् प्रयागे समागतः । सरयुशब्दः सरयूशब्दश्च । सर इत्युदकनाम सरो युनक्तीति । ततस्तीर्थराजः **प्रयाग** इति तत्र विशेषस्नानादिकमाह **स्नात्वा संतर्प्येति** । तत उत्तरभागे **पुलहाश्रमं** हरिक्षेत्रं गतः ॥९॥१०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार बलरामजी लौकिक और अलौकिक शोभा वाले बनकर, मुनियों की आज्ञा पालने के लिए, उनसे आज्ञा प्राप्त कर तीर्थ यात्रा पर, ब्राह्मणों के साथ पधारे । पहले कौशिकी नदी पर पहुँचे, कौशिकी नदी वह है जो उत्तर भाग में कोटा ग्राम से आती है, उसमें स्नान कर, उसी ही मार्ग से मानस सरोवर गए ।

उस सरोवर से अनेक नदियां निकल कर बहती हैं। उससे सरयु भी निकली है, अतः उस सरयु के प्रवाह के साथ-साथ आते हुए अयोध्या पर्यन्त आकर, अनन्तर प्रयाग आए, सरयु और सरयू शब्द के दोनों प्रकार हैं, 'सर' यह जल का नाम है, जल को जो जोड़ती है वह 'सरयु' कहलाती है, वहां से तीर्थराज प्रयाग में विशेष स्नान तर्पण आदि किए, पश्चात् उत्तर भाग में पुलह के आश्रम हरिहर क्षेत्र में गए ॥९-१०॥

श्लोक—**गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः ।**
गयां गत्वा पितृनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमम् ॥११॥

श्लोकार्थ—गोमती, गण्डकी और विपाशा में स्नान कर फिर शोणनद में न्हाए, पश्चात् 'गयाजी' में जाकर पितृतर्पण किया अनन्तर गङ्गासागर संगम पर भी जाके तर्पण किया ॥११॥

सुबोधिनी—गमनमध्य एव **गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा**। **विपाशा** काचित् क्षुद्रा पञ्चनद्यां प्रविष्टा हरिक्षेत्रनिकट एव, अन्या तु **विपाशा** काश्मीरदेशे, ततः शोणे समागतः। गङ्गामुत्तीर्य सोऽपि महानद इति **शोणे आप्लुत** इत्युक्तम्। ततो **गयां गत्वा** सामान्य-**पितृनिष्ट्वा** पितामहपि ता दीन्वा, केवलगयाभिगमनं जीवत्पितृकस्य निषिद्धम्। यात्रायां तु न निषिद्धमिति विभागः। ततो **गङ्गासागरसङ्गमं** गतः। सर्वत्र स्नानतर्पणादि ॥११॥

व्याख्यार्थ—जाते-जाते बीच में गोमती और गण्डकी में स्नान कर फिर विपाशा में भी स्नान किया। विपाशा कोई क्षुद्र नदी हरि क्षेत्र के समीप पञ्च नदी में मिली हुई है, दूसरी विपाशा नदी काशमीर देश में है, वहाँ से शोण नद पर आए, गङ्गा पार होकर वहाँ पहुँचे, वह भी महानद है, इसलिए उस शोण महानद में स्नान किया। पश्चात् 'गयाजी' जाकर वहाँ सामान्य पितरों का पूजन तर्पण आदि किया अथवा पितामह आदि पितरों का तर्पण आदि किया, जिसका पिता जीवित हो, उसको केवल गया पर नहीं जाना चाहिए, किन्तु तीर्थों की यात्रा करने जावे तो वहाँ भी जा सकता है अनन्तर गङ्गा सागर गए, सर्व तीर्थों में स्नान तर्पण आदि किया ॥११॥

श्लोक—**उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च ।**
सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥१२॥

श्लोकार्थ—वहां गङ्गासागर में स्नान कर महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के दर्शन कर तथा उनको नमस्कार कर, सप्तगोदावरी, वेणा और पम्पा से होते हुए भीमरथी पर पहुंचे ॥१२॥

सुबोधिनी—ततो मध्ये तदानीं पुरुषोत्तम-स्थानमात्रं न भगवानस्तीति तदनुक्त्वा **महेन्द्राद्रिं** गतः। तत्र परशुरामं **दृष्ट्वा अभिवाद्य** च ज्येष्ठत्वात्। ततः **सप्तगोदावरीं** गतः। यत्र सप्तधा गोदावरी समुद्रं गता। ततः कृष्णवेण्यां तस्या अपि संगमं गतः। ततो देशमध्ये समागत्य निवृतिसंगमे पाण्डुरङ्गे वा **भीमरथीं** गतः। **पम्पां** च सरः विद्यानगर समीपे ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से महेन्द्र पर्वत पर पहुँचे, मध्य मार्ग में पुरुषोत्तम स्थान है, किन्तु वहाँ भगवान् नहीं विराजते हैं, केवल स्थान मात्र था, इसलिए उसको नहीं कहा, वहाँ महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के दर्शन कर नमस्कार की; क्योंकि वे आप से बड़े हैं। पश्चात् सप्तगोदावरी गए अर्थात्

जहाँ गोदावरी सप्तधारा हो समुद्र में प्रवेश करती है, वहाँ पहुँचे, फिर कृष्णवेणी का जहाँ संगम हुआ है, वहाँ पधारे अनन्तर मध्यदेश में आकर निवृत्ति संगम पाण्डुरंग अथवा भीमरथी पर गए, पम्पासर विद्यानगर के समीप है ।।१२।।

श्लोक—**स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ।**
द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ।।१३।।

श्लोकार्थ—स्वामी कार्तिकेय के दर्शन कर, बलरामजी महादेवजी के निवास स्थान श्री शैल पर्वत पर गए, द्रविड देश में महा पवित्र श्रीरङ्ग क्षेत्र में पधारे ।।१३।।

सुबोधिनी—तत्रैव **स्कन्दं दृष्ट्वा** ततः **श्री शैलं गतः** । अनेन देशमध्ये परिभ्रमणं कृत्वापि सर्वाणि तिर्थानि कृतानीत्युक्तम् । ततः पूर्वभागे **श्री शैले** किमिति गतमित्याकाङ्क्षायामाह **गिरिशालयमिति** । तत्र महादेवं दृष्ट्वा **द्रविडदेशेषु** महापुण्यजनकं **वेङ्कटाद्रिं** भगवद्रूपं ददर्श । स हि पर्वत एव विष्णुरूपः । यथा नारायणः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—वहाँ ही स्वामी कार्तिकेय के दर्शन कर, पश्चात् श्री शैल पर्वत पर पधारे । इस देश के मध्य में परिभ्रमण कर सब तीर्थ किए, पश्चात् पूर्व भाग श्री शैल पर्वत पर क्यों गए? इसके उत्तर में कहते हैं कि वहाँ महादेवजी का गृह है, वहाँ महादेवजी के दर्शन कर द्रविड़ देशों में महा-पुण्यदायी श्री वेङ्कटेश प्रभु के दर्शन किए, वह पर्वत ही विष्णुरूप है, जैसे नारायण ।।१३।।

श्लोक **कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।**
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र संनिहितो हरिः । १४।।

श्लोकार्थ—फिर कामकोष्णी कांचीपुरी, उत्तम नदी कावेरी जाकर महापवित्र श्रीरङ्ग क्षेत्र पधारे जहाँ हरि भगवान् विराजे हैं ।।१४।।

सुबोधिनी— ततः **कामकोष्णीं** कामाक्षी शिवकाञ्चीति प्रसिद्धा ततः **काञ्ची** पुण्यकोटिः ततः **कावेरी** श्रीरङ्गस्थाने । तत्र **श्रीरङ्गं च** **महापुण्यहेतुं** ददर्श । सर्वायतनापेक्षया श्रीरङ्गे विशेषमाह **यत्र संनिहितो हरिरिति** ।।१४।।

व्याख्यार्थ—वहाँ से कामकोष्णी अर्थात् कामाक्षी जो शिवकाञ्ची नाम से प्रसिद्ध है, फिर पुण्य कोटि काञ्ची आए, वहाँ से कावेरी पहुँचे, जो श्रीरङ्गजी का स्थान है । वहाँ महापुण्य के हेतु श्रीरङ्गजी का दर्शन किया, सकल मूर्तियों की अपेक्षा श्रीरङ्ग स्वरूप की विशेषता दिखाते हैं कि जिस स्वरूप में हरि साक्षात् विराजते हैं ।।१४।।

श्लोक—**ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।**
समुद्रसेतुमगमन्महापातकनाशनम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—हरि का क्षेत्र ऋषभाचल, व दक्षिण मथुरा जाकर महापातकों का नाश करने वाले सेतुबन्ध पर पधारे ।।१५।।

सुबोधिनी—ततः **ऋषभाद्रिः** । तस्यैवापरभागे तच्छिवक्षेत्रं विष्णुक्षेत्रं वेति सन्देहे निर्णयार्थमाह **हरेः क्षेत्रमिति** । ततो **दक्षिणमथुरां** गतः । यामानमथुरेति प्रसिद्धाः ततः **समुद्रसेतुमगमत्** । सेतुबन्धे गतः । तस्य माहात्म्यमाह **महापातकनाशनमिति** तदत्यन्तं पुण्यतममिति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—वहाँ से ऋषभाचल पधारे, उसके ही ऊपर भाग में जो क्षेत्र है, वह शिवक्षेत्र है? वा विष्णु क्षेत्र है? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'हरेः क्षेत्रं' कहा है अर्थात् यह ऊपर भाग हरि का क्षेत्र है, पश्चात् दक्षिण मथुरा गए, जो मान मथुरा नाम से प्रसिद्ध है, अनन्तर सेतुबन्ध गए, उसका माहात्म्य कहते हैं कि महापातकों को भी नाश करने वाला है, वह अत्यन्त पुण्य देने वाला है।।१५।।

श्लोक—**तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।**
कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—वहां बलदेवजी ने ब्राह्मणों को दश हजार गौ, दान में दी, फिर कृतमाला, ताम्रपर्णी, कुलाचल और मलय पर्वत पर पधारे जहाँ अगस्त्यजी विराजे थे ।

सुबोधिनी—तत्र **धेनूनामयुतं** प्रादात् । तीर्थवासिभ्यो दानशङ्कां वारयितुमाह **ब्राह्मणेभ्य** इति । यद्यपि तत् स्थानं स्वकृतमेव ततश्च न ज्ञातवानिति ख्यापयितुं **हलायुध** इत्युक्तम् । ततः **कृतमाला** अग्रे दक्षिणसमुद्रसमीपे । ततस्ताम्र**पर्णी** तत्रैव **मलयः कुलालयः** यत्रागस्त्यस्थानम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—वहाँ दस सहस्र गौओं का दान किया, वह दान तीर्थ पर रहने वालों को दिया होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि गौदान ब्राह्मणों को दिया, यद्यपि वह स्थान आपका ही बनाथा हुआ है तो भी उसकी पहचान नहीं, इसलिए 'हलायुध' नाम दिया है, पश्चात् कृतमाला गए, वह आगे दक्षिण समुद्र के पास ही है, वहाँ से ताम्रपर्णी गए, वहाँ ही मलय और कुलाचल पर्वत हैं, जहाँ अगस्त्य ऋषि का आश्रम है ।।१६।।

आभास—ततस्तत्राऽऽगत्य अगस्त्यनमस्कारं कृतवानित्याह **तत्रागस्त्यमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जहाँ अगस्त्यजी विराजते थे, वहाँ आकर उनको नमस्कार की, जिसका वर्णन 'तत्रागस्त्यं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।**
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ।।१७।।

श्लोकार्थ—वहां ध्यान में स्थित अगस्त्यजी को प्रणाम कर फिर नामोच्चारण-पूर्वक अभिवादन कर आशीर्वाद ली, अनन्तर आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे वहाँ कन्या नाम वाली [1] दुर्गादेवी के दर्शन किए ।।१७।।

सुबोधिनी—**समासीनं** तपः कुर्वाणं स्थिरासनं वा भगवच्चिन्तकम् । नमस्कारः माहात्म्यख्यापकः । साष्टाङ्गं अभिवादनं नामोच्चारणपूर्वकम् । चकारात्तस्य स्तोत्रमपि कृतवानिति ज्ञायते । अतस्तेनाशीर्भिर्योजितः। ततोऽप्यनुज्ञातः **दक्षिणसमुद्रस्थानं गतः** । यत्र कन्याकुमारी तिष्ठति । ततस्तामपि दृष्टवानित्याह **तत्र कन्याख्यां दुर्गामिति** । लक्ष्म्यंशत्वं वारयितुं दुर्गापदम् । सा च **देवी** देवतारूपा पूर्वं मानुष्यपि देवतारूपा जाता ।।१७।।

व्याख्यार्थ—जब बलरामजी वहां पधारे, तब अगस्त्यजी तपस्या कर रहे थे, जिससे आपका आसन स्थिर था अथवा भगवच्चिन्तन कर रहे थे, बलरामजी ने नमस्कार की, यह नमस्कार ऋषि के माहात्म्य का ख्यापक था, फिर नाम का उच्चारण करते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया । 'च' पद का आशय है कि स्तुति भी की, यों नमन अभिवादन करने से प्रसन्न ऋषि ने बलरामजी को आशीर्वाद दी । आशीर्वाद ग्रहण करने के अनन्तर जाने की आज्ञा ली, आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे, जहां कन्याकुमारी विराजती है, जाने के बाद उनके दर्शन किए, इसका नाम दुर्गा इसलिए दिया है कि इसमें लक्ष्मी का अंश नहीं है, वह देवी देवतारूप है, पहले मनुष्य रूप होते हुए भी देवता रूप थी ।।१७।।

श्लोक—ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।
विष्णुः संनिहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम् ।।१८।।

श्लोकार्थ—दुर्गा के दर्शन करने के बाद, फाल्गुन तीर्थ पर आये, उत्तम पञ्चाप्सरस नाम तीर्थ पर पधारे, जहाँ विष्णु भगवान् सदा सन्निहित हैं उसमें स्नान कर दश हजार गौ दान में दीं ।।१८।।

सुबोधिनी—**ततः फाल्गुनं** अनन्तशय्यां गतः। तत्रार्जुनस्य पञ्चाप्सरसां पादगृहीतानामुद्धारणात्तन्नाम्नैव तत्प्रसिद्धं जातं तदाह **पञ्चाप्सरसमिति** । **उत्तमं** स्थानमेव तत्, तस्य स्थानस्य माहात्म्यमाह **विष्णुः संनिहितो यत्रेति** । तत्रापि **स्नात्वा** सेताविव **गवामयुतं** दत्तवान् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् फाल्गुन तीर्थ जिसको अनन्त शय्या कहते हैं, वहां गए । अनन्तर पञ्चाप्सरस तीर्थ जो उत्तम स्थान है, वहां पधारे । शरणागत पाञ्च-अप्सराओं का अर्जुन द्वारा वहां उद्धार हुआ है, इसलिए इसका नाम पञ्चाप्सर पड़ा है, इस स्थान पर विष्णु सदैव विराजते हैं । यही इसका माहात्म्य है, वहां भी स्नान कर सेतु की तरह यहां भी दस सहस्र गौ दान की ।।१८।।

१– 'कन्याकुमारी' नाम से प्रसिद्ध है

श्लोक—**ततोविव्रज्य भगवान् केरलान् स्तोक्यगर्तकान् ।**
गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सांनिध्यं तत्र धूर्जटेः ॥१६॥

श्लोकार्थ—फिर बलरामजी बहुत शीघ्र केरल स्तोक्य और गर्तक भेद वाले देश में आकर गोकर्ण नाम वाले शिव के क्षेत्र में पधारे जहाँ महादेव सदैव विराजते हैं।

सुबोधिनी—**ततोतिव्रज्य** शीघ्रं तद्देशोल्लङ्घनार्थमतिव्रजनम्। यतोऽयं **भगवान्**। तत्र देशे भेदत्रयमाह **केरलान्** स्तोक्यान् गर्तकाश्चेति। स एव मल्लिवार इति प्रसिद्धः। ततोग्रे **गोकर्णाख्यं** रावणेन नीयमानो महादेवः तत्र स्थापितः नोद्धर्तुं शक्य आसीत् तत उत्पाट्यमानः गोकर्णाकृतिर्जातः **तच्छिवक्षेत्रम्।** तत्र **धूर्जटेः सांनिध्यं** सर्वदैव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से शीघ्र गए; क्योंकि उस देश को उल्लङ्घन करना था; क्योंकि ये भगवान् हैं। उस देश के तीन भाग हैं—(१)केरल, (२)स्तोक्य और (३)गर्तक; वह ही मलबार नाम से प्रसिद्ध है। उससे आगे गोकर्णाख्य तीर्थ है। वहाँ रावण ने महादेव लाकर स्थापित किया, किन्तु वहाँ से फिर उठाकर लेजा न सके, उठाने के समय महादेव गोकर्ण जैसी आकृति वाले बन गए, जिससे इस तीर्थ का नाम गोकर्ण प्रसिद्ध हुआ, वह शिव का क्षेत्र है, वहाँ सर्वदा ही शिव का सानिध्य है ॥१६॥

श्लोक—**आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः।**
तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् । २०॥

श्लोकार्थ—जहाँ व्यासजी ने तप किया, उस आर्या नदी से होकर शूर्पारक आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या में स्नान कर दण्डकारण्य पधारे ॥२०॥

सुबोधिनी—तत **आर्यां नदीं द्वैपायनस्य** तपःसंबन्धिनीम्। ततः **शूर्पारकस्थानं** कृष्णवेण्याम्। ततस्तापी नदी **पयोष्णी निर्विन्ध्या** च ततस्ततः। ततो **दण्डकारण्यं** प्रविष्टः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—द्वैपायन व्यास से तपस्या के कारण सम्बन्ध वाली आर्या नदी से होकर शूर्पारक स्थान अर्थात् कृष्णवेणी नदी पर आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या में स्नान करते हुए दण्डकारण्य में प्रविष्ट हुए ॥२०॥

श्लोक—**प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी।**
मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—रेवा नदी में स्नान कर महिष्मती नगरी में आए, वहाँ मनुतीर्थ में नहाकर, फिर प्रभास आए ॥२१॥

सुबोधिनी—तत्र च **रेवां** नर्मदाम**गमत्**। **यत्र** मण्डपाचलनिकटे **माहिष्मती** नाम **पुरी पूर्वं** प्रसिद्धा। ततस्तीरे गच्छन् **मनुतीर्थमुपस्पृश्य** समुद्रसंगमपर्यन्तमागत्य पुनः **प्रभासमागमत्**। एवं मण्डलेन भारतवर्षस्य परिभ्रमणमुक्तम्। एतावतापि वर्षो न पूर्णः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—रेवा अर्थात् नर्मदा पर गए, जहाँ मण्डप पर्वत के समीप महिष्मती नाम वाली पुरी पहले प्रसिद्ध थी, वहां से किनारे-किनारे जाते हुए मनु तीर्थ पर पहुँचे, जहाँ स्नान किया, बाद में समुद्र सङ्गम तक आकर फिर प्रभास पधारे। इस प्रकार मण्डल की तरह भारतवर्ष परिभ्रमण किया, तो भी वर्ष पूर्ण न हुआ ॥२१॥

श्लोक—**श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।**
सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥२२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों का कथन—कौरव-पाण्डवों के युद्ध में सब राजाओं का नाश हो गया—सुनकर बलदेवजी ने माना कि पृथ्वी से भार उतरा ॥२२॥

सुबोधिनी—ततोऽप्यग्रे पुनर्भ्रमणार्थं गच्छन् कुरुक्षेत्रनिकटे गतः। तत्रत्यै**र्द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवानां संयुगे** तत्संबन्धिनां **सर्वेषां राज्ञां निधनं श्रुत्वा भुवो भारं हृतं मेने** ॥२२॥

व्याख्यार्थ—वहां से भी आगे भ्रमण करते हुए बलरामजी कुरुक्षेत्र के निकट पहुँचे, वहां के ब्राह्मणों के कथन से कि कौरव-पाण्डवों के युद्ध में उनके सम्बन्धी सब मारे गए हैं, सुनकर समझा कि पृथ्वी का भार कम हुआ ॥२२॥

आभास—ततस्तैरेव गदायुद्धमपि जायत इति श्रुत्वा भूभारस्तु हृत एव उद्देशान्तरं नास्तीति यथा पञ्चपाण्डवा जीवन्ति एवमेको दुर्योधनोपि जीवतां किं मरणेनेति निश्चित्य विनशनप्रदक्षिणां कुर्वन् तत्र समागत इत्याह **स भीमदुर्योधनयोरि**ति ।

आभासार्थ—पश्चात् उन ब्राह्मणों ने ही कहा कि भीम-दुर्योधन की परस्पर गदायुद्ध अभी तक चल रही है। यह सुनकर पृथ्वी का भार तो उतर गया, अब युद्ध का कोई उद्देश नहीं है, जैसे पांच पाण्डव जीते हैं, वैसे ही एक दुर्योधन भी जीता रहे, मरने से क्या लाभ ? यों निश्चयकर कुरुक्षेत्र की परिक्रमा करते हुए वहां आए, जिसका वर्णन 'स भीमदुर्योधनयोः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।**
वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥

श्लोकार्थ—भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे हैं, यह सुनकर उन्हें मना करने के विचार से बलदेवजी कुरुक्षेत्र पधारे ॥२३॥

सुबोधिनी—**स** रामः । **भीमदुर्योधनयोः गदाभ्यां युध्यतोः** सतोः युद्धं **वारयिष्यन् विनशनं** कुरुक्षेत्रमागतः । इदानीमागमने पक्षपातशङ्का नास्तीति तस्यागमनम् । यतो **यदुनन्दनः** यदुरिव विचारितार्थकर्ता, स्नेहादिना पक्षपातरहितः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—बलरामजी गदाओं से लड़तेहुए भीमसेन और दुर्योधन को युद्ध करने से रोकने के लिए कुरुक्षेत्र आए, इस समय आने में पक्षपात की शङ्का नहीं, इसलिए उसका आगमन हुआ;क्योंकि यदुनन्दन हैं, अतः यदु की तरह विचार पूर्वक कार्य करने वाले हैं, स्नेह आदि कारण से पक्षपात करने वाले नहीं है ॥२३॥

आभास—ततः सर्वेषां शङ्का जातेत्याह **युधिष्ठिरस्त्विति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो वहाँ उपस्थित थे उनको शङ्का हुई, यों 'युधिष्ठिरस्तु' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।**
अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥२४॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और अर्जुन, बलराम को अभिवादन कर चुप हो गए, मन में विचारने लगे यहां क्यों आये हैं? और न जाने क्या कहेंगे ? ॥२४॥

सुबोधिनी—**तं** रामम् । तुशब्देन साधारणानां विद्वेषिणां च सुखं जातमिति सूचितम् । युधिष्ठिरप्रभृतीनां तु ततोन्यथेति अन्यपक्षो व्यावर्तितः । **यमौ** नकुलसहदेवौ । सर्व एवा**भिवाद्य तूष्णीमभवन्**। तेषामालोचनमाह **किं विवक्षुरिहागत** इति । क्रियाप्रयोजनं तु निवृत्तं वाङ्मात्रमवशिष्यत इति तस्यैवोत्प्रेक्षा ॥२४॥

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द से साधारण और शत्रुओं को आनन्द उत्पन्न हुआ, कारण कि बलरामजी आए हैं । युधिष्ठिर प्रभृति अन्यों को आनन्द न हुआ, किन्तु विचार हुआ कि क्यों आए हैं ? क्या कहेंगे ? युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, अर्जुन और श्रीकृष्ण अभिवादन कर चुप हो गए, जो कर्त्तव्य करना था, उसका प्रयोजन तो निवृत्त हो गया, केवल वह वाणी में ही रह गया है, यों उसकी ही उत्प्रेक्षा (सम्भावना) है ॥२४॥

आभास—ततः स्वयमेव स्वागतं प्रकटीकृतवानित्याह **गदापाणी उभाविति** ।

आभासार्थ—पश्चात् स्वयं (खुद) ही स्वागत प्रकट करने लगे, यों 'गदापाणी' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।**
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ।।२५।।

श्लोकार्थ— क्रोध में भरे हुए, जय की इच्छा वाले, गदा हाथ में लिए विचित्र दाव करते हुए भीम और दुर्योधन को देखकर बलदेवजी उनको यह कहने लगे ।।२५।।

सुबोधिनी—युद्धार्थं हस्ते गदा उभयोरपि । अतः साधनमाह **संरब्धा**विति । अनिवृत्त्यर्थं कामनामाह **विजयैषिणा**विति । तदर्थं यत्नमप्याह **मण्डलानि विचित्राणि चरन्ता**विति । नह्येवं प्रवृत्तौ कदाचित्स्वतो निवृत्तौ भवतः । तस्माज् ज्ञानेनैव निवृत्तिरिति ज्ञानोपदेशार्थमागतः इदं वक्ष्यमाण**मब्रवीत्** ।।२५।।

व्याख्यार्थ—लड़ाई करने के लिए दोनों के हाथ में गदा थी, साधन था क्रोध; दोनों क्रोध में थे और दोनों चाहते थे कि हम जीतें । इसलिए युद्ध बन्द नहीं होता था । जीतने के लिए दोनों प्रयत्न भी कर रहे थे अर्थात् अनेक प्रकार के दांव-पेच से जीतने के लिए खेलते थे,जो इस तरह लड़ते रहते हैं, वे कदापि स्वतः लड़ना नहीं छोड़ते हैं, इस कारण से उनकी युद्ध से निवृत्ति ज्ञान से ही होने वाली थी, जिस ज्ञानोपदेश देने के लिए बलरामजी पधारे थे, अब जो कहना है, वह निम्न श्लोक में कहते हैं ।।२५।।

आभास—उभयोरादौ प्रशंसामाह **युवां तुल्यबला**विति ।

आभासार्थ—पहले दोनों की प्रशंसा 'युवां' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ।**
एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ।।२६।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हे वृकोदर ! तुम दोनों तुल्य बल वाले वीर हो एक बल में अधिक है और एक शिक्षण में अधिक है ।।२६।।

सुबोधिनी— उभयोर्भिन्नतया संबोधनं **हे राजन् हे वृकोदरे**ति । **राजन्नि**ति संबोधनादेकोपि जीवितः राज्यमेव प्राप्स्यतीति निश्चितम् । ननु भीमश्च बलभद्रश्चेति वाक्यात् कथं भीमसमो दुर्योधन इति चेत् तत्राह **एकं प्राणाधिकं मन्य** इति । **एकं** भीमं **प्राणेन** बलेन द्वितीया**दधिकं मन्ये** । अपरं राजानं भीमापेक्षया **शिक्षया** मयैव कृतया **अधिकं मन्ये** ।।२६।।

व्याख्यार्थ—दोनों को पृथक्-पृथक् सम्बोधन दिए हैं—हे राजन् !, हे वृकोदर ! 'हे राजन्' इसी सम्बोधन से यह बताया है कि एक भी जीवित होगा तो राज्य को प्राप्त करेगा, यह निश्चित है । 'भीमश्च बलभद्रश्च' इस वाक्यानुसार भीम के समान दुर्योधन कैसे होगा? यदि यों कहो तो उसका

उत्तर यह है कि भीमसेन को दुर्योधन से बल में अधिक मानता हूँ अर्थात् भीम दुर्योधन से बलवान् है, दुर्योधन भीम से शिक्षा से अधिक है; क्योंकि उसको मैंने ही शिक्षा दी है, इसलिए विशेष है ॥२६॥

आभास—तर्ह्येवं सति किं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **तस्मादेकतरस्येति** ।

आभासार्थ—यों है तो क्या होगा ? इस पर 'तस्मादेकतरस्य' श्लोक से उत्तर देते हैं ।

श्लोक—**तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।**
न लक्ष्यते जयोन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥२७॥

श्लोकार्थ—तुम दोनों समान बल वाले हो इसलिए कोई एक न जीत सकेगा न हारेगा, इसलिए लड़ना निष्फल होने से युद्ध बन्द करो ॥२७॥

सुबोधिनी—बलांशः शिक्षांशेन समो भविष्यतीति अतः **एकतरस्या**पि **युवयो**र्मध्ये अर्थात्समवीर्यता जातेति **जयः**, **अन्यः** पराजयो वा **न लक्ष्यते** । अतो निष्फलः अयं क्लेशरूपो **रणः विरमतु** निष्फलत्वात् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—बल का अंश शिक्षा के अंश से समान है, अतः तुम दोनों में से एक की भी जय वा पराजय नहीं होगी, अतः यह लड़ाई केवल क्लेशरूप है, इससे कोई फल नहीं निकलेगा, इसी कारण युद्ध बन्द करो ॥२७॥

आभास—एवमुक्तावपि न निवृत्तावित्याह **न तद्वाक्यं जगृहतुरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार कहने पर भी युद्ध बन्द नहीं किया, जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—**न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।**
अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।
उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे नृप! परस्पर कहे हुए दुर्वचन और कुकृत्य को याद करते हुए दोनों ने आपस में शत्रुता कर ली है, अतः बलदेवजी के लाभ वाले वचन नहीं माने ॥२८॥

तब बलरामजी ने समझ लिया कि मेरे भी वचन नहीं मानते हैं, तो इनका

प्रारब्ध ही यों है, इसलिए आप द्वारका पधारे, उग्रसेन आदि सब बलरामजी को आया हुआ देखकर प्रसन्न हुए ।।२९।।

सुबोधिनी— यतो **बद्धवैरौ** । यद्यप्यर्थवत् आन्तरमनिवर्तकं बाह्यो निवर्तक इति । ततो **रामः** तत्तेषामनिवर्तनं **दिष्टं** भाग्याधीनं इति **मन्वानः**, यथाभाग्यं भविष्यतीति स्वयं यात्रां कुर्वन्नेव **द्वारवतीं ययौ** । बलभद्रे बहुकाले गृहागते नष्टलब्धधना इव **उग्रसेनादयः** समागताः तं गृहे निन्युः ।।२८।।२९।।

व्याख्यार्थ—बलदेवजी की लाभकारी शिक्षा भी नहीं मानी; क्योंकि आपस में शत्रुता कर ली थी । यद्यपि आपकी शिक्षा अर्थ वाली थी, बाहर तो लड़ाई बन्द करने के विचार आते थे, किन्तु भीतर का हृदय युद्ध से हटता नहीं था, इससे बलरामजी ने समझा कि लड़ाई बन्द नहीं करते हैं, यह भाग्य के आधीन है, जैसा भाग्य होगा, वैसा ही होगा; यों विचार कर आप यात्रा करते हुए द्वारका पहुँचे । बहुत समय से बलरामजी घर आए हैं, यह देख जैसे किसी का धन चला गया हो, वह फिर मिल जावे तो जैसी उसको प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता उग्रसेनादि को हुई, जो आकर उन्हें घर ले गए ।।२८-२९।।

आभास—ततो यात्राया अनिवृत्तत्वात् पुनर्नैमिषे समागतः । एतावता वर्षः पूर्णः

आभासार्थ—यात्रा पूर्ण न होने से फिर नैमिषारण्य में आए, इतने में वर्ष भी पूर्ण हुआ ।

श्लोक—**तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा ।**
क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ।।३०।।

श्लोकार्थ—नैमिषारण्य में आए हुए बलरामजी **को** ऋषियों ने यज्ञ कराया अथवा ऋतु जिसका अङ्ग है, ऐसे भगवान् का ऋतु द्वारा भजन कराया, इन ऋतुओं के करने से सर्व प्रकार का विग्रह करना, वह भी निवृत्त हो गया ।।३०।।

सुबोधिनी—ततः **ऋषयस्तं मुदा अयाजयन्** । **सर्वैरेव क्रतुभिरग्निहोत्रादिभिः** । क्रत्वङ्गमिति पित्रादिषु जीवत्सु कथं सर्वे यागाः कृता इति शङ्का व्युदस्ता । यतोऽयं **क्रत्वङ्गः** क्रतवः अङ्गानि अङ्गेषु वा यस्येति, **तमयाजयन्**,**क्रत्वङ्गं** वा भगवन्तम् । तस्मिन् पक्षे याजने रामः कर्म, यजने भगवानिति । क्रतोरङ्गमिति यजमानम् 'पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात्' इति न्यायात् । यक्ष्य इति । सङ्कल्पे कृते पश्चाद्याजितवन्त इत्यर्थः । नन्वयं भूतदयारहितः संकर्षणः प्रलयकर्ता कथं यज्ञकर्ता सर्वमैत्रीकरणानन्तरमेव यज्ञाधिकारादत आह **निवृत्ताखिलविग्रह**मिति । निवृत्तः अखिलैः सह विग्रहः कलहो यस्य ।।३०।।

व्याख्यार्थ—इनके आने के पश्चात् ऋषियों ने इनको प्रसन्नचित्त हो यज्ञ कराया, सर्व क्रतुओं से अर्थात् अग्निहोत्र आदि से यज्ञ कराया, पिता जीवित होते हुए सब याग कैसे किए ? इस शङ्का

का निवृत्ति के लिए कहा है, कि 'क्रत्वङ्ग' क्रतु है अङ्ग जिसके, अथवा क्रतु है अङ्गों में जिसके, ऐसे भगवान् यज्ञ पुरुष का भजन यजन कराया, उस पक्ष में याजन में राम कर्म है और यजन में भगवान् कर्म है। 'क्रतोः अङ्ग' इससे यजमान कहा 'पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात्' पुरुष कर्म रूप है, इस न्याय से 'यक्ष्ये' यों सङ्कल्प कर पश्चात यज्ञ करने लगे। यह सङ्कर्षण भूतों पर दया कभी नहीं करते हैं, क्योंकि प्रलयकर्त्ता हैं, वह यज्ञकर्ता कैसे हुए ? सबसे जो मैत्री करता हो वह यज्ञ का अधिकारी होता है, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहा है कि सबसे लड़ना जिसने छोड़ दिया है अर्थात् अब सबसे मैत्री ही करते हैं ॥ ३० ॥

आभास—ततो दक्षिणात्वेन तेभ्यो ज्ञानं दत्तवानित्याह **तेभ्यो विशुद्धविज्ञानमिति।**

आभासार्थ—अनन्तर दक्षिणा में उनको ज्ञान दिया, जिसका वर्णन 'तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद्विभुः ।**
येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥३१॥

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ भगवान् बलदेव ने इनको विशुद्ध ज्ञान दिया, जिससे आत्मा में सर्व विश्व को और विश्व में आत्मा को जान गए ॥३१॥

सुबोधिनी— 'दक्षिणा ज्ञानसंदेशः' इति वाक्यात् 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतेश्च 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्' इति च 'आत्मानमेव दक्षिणां नीत्वा स्वर्गं लोकं यन्ति' इति च ज्ञान-दक्षिणैव दक्षिणा। **विशुद्धं** ज्ञानमनुभवरूपं निरुपाधिकम्। ननु कर्मासक्तानां तेषां कथमकस्माज् ज्ञानमभूत् तत्राह **भगवान् व्यतरद्विभुरिति**। भगवत्त्वात् तादृशज्ञानवत्त्वं वितरणं च। वितरणे नहि दानपात्रापेक्षा, विभुत्वात्सर्वसामर्थ्यम्। तस्मिन् ज्ञाने प्राप्ते तेषां कावस्था जातेत्याकाङ्क्षायामाह **येनैवात्मन्यदो विश्वमिति**। परोक्षमपि विश्वमात्मन्यपश्यन् विश्वस्मिंश्चात्मानं तदाह **आत्मानं विश्वगमिति** ॥३१॥

व्याख्यार्थ—'दक्षिणा ज्ञान संदेशः' इस वाक्य से 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इस श्रुत्यनुसार 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्' इस वाक्य और 'आत्मानं एव दक्षिणा नीत्वा स्वर्गं लोकं यन्ति' इस वचनानुसार ज्ञान रूप दक्षिणा ही दक्षिणा है, विशुद्ध ज्ञान का तात्पर्य है, उपाधिरहित अनुभव रूप ज्ञान, कर्म में आसक्ति में ऐसा ज्ञान अकस्मात् कैसे उत्पन्न हो गया ? इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञान देने वाले सर्व समर्थ भगवान् बलदेवजी हैं। भगवान् होने से वैसा ज्ञानवान्पण है और वितरण भी है, अतः वितरण में दानपात्र की उपेक्षा नहीं है ऐसे विशुद्ध ज्ञान पाने से उनकी क्या अवस्था हुई ? जिसका उत्तर देते हैं कि परोक्ष भी विश्व को आत्मा में देखा और विश्व में आत्मा को देखा, इस प्रकार की ऋषियों की अवस्था हो गई ॥ ३१ ॥

आभास—ततो दक्षिणादानानन्तरं यज्ञसमाप्तिं च कृतवन्त इत्याह **स्वपत्न्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् दक्षिणा दान के अनन्तर यज्ञ की समाप्ति की, यों 'स्वपत्न्यावभृथस्नातो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।**
रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलंकृतः ।।३२।।

आभास—बलरामजी ने अवभृथ स्नान स्वपत्नी के साथ किया, ज्ञाति,बान्धव और मित्रों से वेष्टित सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण किए । बलदेवजी स्त्री के साथ यों शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चाँदनी से शोभा देता है ।।३२।।

सुबोधिनी—रेवती रामस्य पत्नी तया सह **अवभृथे स्नातः** । स्नान एव **ज्ञात्यादिभिर्वृतः** । पश्चाद्वा शोभार्थं निरूप्यते शोभायां पत्नी च हेतुभूता जातेत्याह **रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुरिति** । अन्यथा दिवसे धूसरश्चन्द्रो न शोभते । तस्यावभृथादुत्तीर्णस्य परमशोभां प्राप्तस्य पश्चाल्लौकिकवस्त्राभरणानि प्रतिपत्त्यर्थं निरूप्यते **सुवासाः सुष्ठ्वलंकृत** इति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—रेवती बलरामजी की स्त्री है, उसके साथ यज्ञान्त स्नान किया । ज्ञाति आदि से वेष्टित हो केवल स्नान किया, पश्चात् शोभा का वर्णन करते हैं, शोभा में पत्नी कारण भूत है, वे वैसे शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चान्दनी से शोभा पाता है, नहीं तो दिवस (दिन) में धूसर चन्द्रमा शोभता नहीं, यज्ञान्त स्नान कर लेने के बाद की परम शोभा को पाने लगे, जिसमें कारण लौकिक सुन्दर वस्त्र और श्रेष्ठ आभरण थे ।। ३२ ।।

आभास—उपसंहरति **ईदृग्विधानीति** ।

आभासार्थ—'ईदृग्विधानी' श्लोक से उपसंहार करते हैं

श्लोक—**ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ।**
अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ।।३३।।

श्लोकार्थ—महान् बलवाले, अनन्त,अप्रमेय, मनुष्यरूप बलदेवजी के ऐसे अगणित चरित्र हैं ।।३३।।

सुबोधिनी—यथा तीर्थयात्रात्मकमिदमेकं चरित्रं एवंविधान्यसंख्यातानि तस्य चरित्राणि । यतोयं **बलशाली** बलकार्यं बह्वेव करिष्यतीति । न च तच्चरित्रं पराजयात्मकम् । यतोयम**नन्तः** । तर्हि कथं नोच्यत इतिचेत् तत्राह **अप्रमेयस्येति** । नन्वयमवतीर्ण इति देहग्रहणानन्तरं चरित्रं विचार्यते न तु परमार्थभूतस्य, अन्यथा सर्व एव तथा भवेदित्याशङ्क्याह **मायामर्त्यस्येति** । स्तुतिपरत्वं वारयति **सन्तीति** । युक्तश्चायमर्थः । अवतारो हि किंचित्कार्यार्थः केषांचिद्धर्मं साध-

येत् । अन्येषामन्यदन्येषामन्य इति, अन्यथा अवतारवैयर्थ्यापत्तेः । तस्माद्ग्रन्थविस्तरभया- त्परं न लिख्यन्ते किंतु **सन्ति** ॥३३॥

व्याख्यार्थ—जैसे यह तीर्थ यात्रा का एक चरित्र है, ऐसे अगणित उनके चरित्र हैं, क्योंकि वे बलवान् हैं अतः बल के कार्य बहुत ही करेंगे । वह चरित्र पराजय रूप भी नहीं हैं, कारण कि, यह अनन्त है, तो उनके चरित्र क्यों नहीं कहते हो ? यदि यों कहो तो, उसका उत्तर है 'अप्रमेयस्य' जिसके चरित्रों को कोई जान ही नहीं सकता है, देह ग्रहण कर अवतार ले, जो चरित्र किए हैं वह चरित्र विचारे जाते हैं, न कि अलौकिक चरित्र, अन्यथा, सब ही वैसे हो जावें, इस शङ्का का निवारण करते है कि 'मायामर्त्यस्य' माया से मनुष्य दीखते हैं, अतः इनके चरित्र की गणना नहीं हो सकती है । यह स्तुति परायण वाक्य नहीं हैं क्योंकि 'सन्ति' अनन्त चरित्र हैं,यह अर्थ ही उचित है । अवतार तो किसी कार्य के लिए किसी के धर्म को सिद्ध करता है, किसी का कैसा और किसी का कैसा, नहीं तो, अवतार धारण ही व्यर्थ हो जावे, इससे विशेष लिख नहीं सकते, कारण कि ग्रन्थ का बहुत विस्तार होगा, यह भय होता है, किन्तु अनेक चरित्र हैं ॥ ३३ ॥

आभास—बुद्धिरेकत्र स्थिरीभूता दृढा भवतीति । बलभद्रचरित्रस्य श्रवणादेः भगवद्भजनोपयोगित्वमाह **शृण्वन् गृणन्निति** ।

आभासार्थ—बलरामजी के चरित्रों का श्रवण भगवद्भजन के लिए उपयोगी है, क्योंकि उससे बुद्धि एक ही स्थान पर स्थिर रहती है और दृढ़ हो जाती है,यों 'शृण्वन्गृणंश्च' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**शृण्वन्गृणंश्च रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।**
सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥३४॥

श्लोकार्थ—अद्भुत चरित्र बलरामजी के चरित्रों को जो पुरुष सायं प्रातः श्रवण करे, वह भगवान् को प्रिय होता है ॥३४॥

सुबोधिनी—श्रोतरि सति गृणन्नित्यादि व्याख्येयम् । **गृणन्नित्युच्चरन्** स्वयमेव । ननु भगवद्भक्तः किमिति श्रोष्यति भावान्तरापन्नस्य तत्राह **अद्भुतकर्मण** इति । अद्भुतत्वाच्छ्रवणम् दुर्योधनादय एवं मन्यन्ते यथा पाण्डवानां पक्षे कृष्णः एवमस्मत्पक्षे बलभद्र इति ततो वयं तुल्या जेष्याम इति । इयं बुद्धिर्भूभारहरणार्थं बलभद्रेणैव संपाद्यते । यथार्थं वदन् तथैव साहाय्यं च कुर्वन् तथापि मारयत्येव । कृष्णरामयोरेकभावादिति अद्भुतकर्मत्वम् । स्वतन्त्रतया श्रवणादौ तत्रैव भक्तिर्भविष्यतीति कर्माङ्गत्वार्थमाह **सायं प्रातरिति** । **अनन्तस्य** शेषस्य । **विष्णोः** पुरुषोत्तमस्य । **स** श्रवणादिकर्ता भगवतः प्रियो **भवेत्**। अयमस्मत्सेवकसेवक इति प्रपौत्रवत्प्रियः । एवमुपसंहृत्य फलकथनात् तच्चरित्रं समापितमिति सूचितम् । कीर्तिस्तस्य सर्वप्रकारेण स्थिरीकृता निरूपिता ॥३४॥

व्याख्यार्थ—'शृण्वन् तथा गृणन्' दो पद हैं जिनका आशय है कि केवल चरित्र सुनना ही नहीं, किन्तु स्वयं (खुद) उनका जोर से उच्चारण भी करते रहना, जैसे दूसरे भी सुने और अपने चित्त में भी स्थिर हो जावे, जो भगवान् का भक्त है, वह भावान्तर को प्राप्त स्वरूप के चरित्र क्यों सुनेगा ? इसका उत्तर देते हैं कि 'अद्भुतकर्मणः' आपके चरित्र अद्भुत है, इसलिए श्रवण करने चाहिए, दुर्योधनादि यों समझते हैं, कि जैसे पाण्डवों के पक्ष में श्रीकृष्ण हैं, वैसे बलरामजी हमारे पक्ष में हैं, जिससे दोनों समान हैं अतः हम जीतेंगे, ऐसी इनकी बुद्धि बलरामजी ने ही भूभार हरण करने के लिए की थी, यथार्थ में कहते थे, वैसे ही सहाय भी करते थे । तो भी मारते ही हैं । अद्भुत कर्मा बलरामजी को क्यों कहा ? अद्भुतकर्मा तो श्रीकृष्ण ही है, जिसका समाधान आचार्य श्री करते हैं, कि श्रीकृष्ण और राम एक ही हैं, स्वतन्त्रता से श्रवण करने पर, उसमें ही भक्ति होगी । श्रवण कर्माङ्ग है, उसके करने का समय बताते है, सायंकाल और प्रातःकाल में श्रवण करना चाहिये, बलरामजी अनन्त हैं, अर्थात् शेष रूप हैं, और विष्णु अर्थात् पुरुषोत्तम के भी रूप हैं । अतः इनके चरित्र, जो श्रवण करता है, वह भगवान् को प्रिय होता है । कैसे प्यारा होता है ? वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं, कि जैसे परपोता प्रिय होता है, यह शेष जी के चरित्रों के श्रवण कर्ता को भी, भगवान् समझते हैं, कि हमारे सेवक का सेवक है, अतः प्रपौत्र के समान है इससे प्रिय है, इस प्रकार फल कहकर यह चरित्र समाप्त हुआ बताया है, सर्व प्रकार से उनकी कीर्ति की स्थापना का निरूपण किया ।। ३४ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रिंशाध्यायविवरणम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७६वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३०वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का अवगाहन निम्न पद से करें

स्याम बलराम कौं सदा ध्याऊँ ।
यहै मम ज्ञान यह ध्यान सुमिरन यहै, यहै असनान फल यहै पाऊँ ।
स्याम दँतबक्र अरु साल्व कौं जीति करि, करत आनंद निजपुरी आए ।।
राम गंगादि, जमुनादि अस्नान करि, नैमिसारण्य पुनि जाइ न्हाए ।।
सूत तहँ कथा भागवत की कहत है, रिषि अठासी सहस हुते स्रोता ।
राम कौं देखि सनमान सबही कियौ, सूत नहिँ उठे निज जानि वक्ता ।।
राम तिहिँ हत्यौ तब सब रिषिन मिलि कह्यौ, बिप्र हत्या तुम्हैँ लगी भाई ।
सूत सुत थापि सब तीर्थ अस्नान करि, पाप जो भयौ सो सब नसाई ।।
पुनि कह्यौ रिषिन दानव महा प्रबल ह्यॉं, हमैं दुख देत सो सदा आई ।
ताहि जो हतौ तौ कल्यान तुव, हम करैं जज्ञ सुख सौं सदाई ।।
राम दिन कितक ता ठौर औरों रहे, आई वल्वल तहाँ दई दिखाई ।
रुधिर औ माँस की लग्यौ बरषा करन, रिषि सकल यह देखि गए डराई ।।
राम हल सौं पकरि मुसल सौं हत्यौ तेहि, प्रान तजि तेहि सकल सुधि बिसारी ।
सुरनि आकास तैं पुहुप बरषा करी, रिषिन आसीस जय धुनि उचारी ।।
बहुरि बलराम परनाम करि रिषिन कौं, पृथी परदच्छिना कौं सिधाए ।
प्रभु रची ज्यौं हि ज्यौं होइ सो त्यौं ही त्यौं, सूर जन हरि चरित कहि सुनाए ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८० वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७७वाँ अध्याय

उत्तरार्ध ३१वाँ अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"*अध्याय—३*"

श्रीकृष्ण द्वारा सुदामाजी का स्वागत

कारिका—**संपत्तिर्भगवन्मित्रे द्वाभ्यामत्र निरूप्यते ।**
लोकावगतहेतूनामभावात्केवले हरेः ॥१॥

कारिकार्थ—जिस मित्र को भगवान् ने ऐश्वर्यादिक नहीं दिये हैं, वैसे केवल मित्र के पास सम्पत्ति का अभाव है, जिसका प्रमाण यह है कि उसके पास राज्यादिक वैभव नहीं है ॥१॥

कारिका—**एकत्रिंशे तथाध्याये कृष्णमित्रस्य सर्वथा ।**
संपत्त्यभावो वाक्याच्च स्थाप्यते सविशेषतः ॥२॥

कारिकार्थ—इकत्तीसवें अध्याय में कृष्ण के मित्र के पास सर्वथा सम्पत्ति का अभाव कहा है, फिर बत्तीसवें अध्याय में भगवान् की विशेष कृपा से असीम सम्पत्ति की प्राप्ति की कथा कही है ॥२॥

कारिका—**अङ्गत्वेन बलस्यात्र श्रुत्वा लीलां विचक्षणः ।**
निर्विण्णो भगवल्लीलां विशेषेणात्र पृच्छति ।।३।।

कारिकार्थ—राजा परीक्षित बलदेवजी के चरित्र सुनकर उदास हुआ, अतः विशेष रूप से भगवान् की लीलाओं का प्रश्न करता है ।।३।।

— इति कारिकार्थ समाप्त —

आभास—पूर्वाध्याये बलभद्रलीलां श्रुत्वा भगवल्लीलायां जातस्पृहः पृच्छति **भगवन् यानि चान्यानी**ति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में बलभद्र की लीलाएँ सुनकर भगवान् की लीलाओं के सुनने की इच्छा होने से, राजा परीक्षित 'भगवन् यानि' श्लोक से ४ श्लोक में भगवान् की लीलाओं के प्रश्न करता है ।

श्लोक—राजोवाच-**भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।**
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ।।१।।

श्लोकार्थ—परीक्षित ने कहा कि हे भगवन् ! अनन्त पराक्रमी महात्मा मुकुन्द भगवान् के जो अन्य चरित्र हैं, वे भी हे प्रभो ! मैं सुनना चाहता हूँ ।।१।।

सुबोधिनी—**भगवन्नि**ति संबोधनं भगवच्चरित्रे श्रद्धां ज्ञानं च सूचयति । **यानि** प्रसिद्धानि चरित्राणि **च**कारादप्रसिद्धानि च । **अन्यानि** ग्रन्थान्तरेषूक्तानि तत्संबन्धि**च**कारादनुक्तानि च । न चैवं चरित्रबाहुल्यं नास्तीति च शङ्कनीयम् । यतो **मुकुन्दस्य** चरित्रबाहुल्याभावे सर्वेषां मुक्तिर्न सिद्धा भवेत् । देशकालव्यवहितानां सर्वेषामेव चरित्रश्रवणादिनैव मोक्षसिद्धेः । मम त्वेतावती श्रद्धा तानि सर्वाण्येव चरित्राणि श्रोतव्यानीति, न केवलं मोक्षार्थित्वेनैव किंतु महत्त्वार्थिन आत्मार्थिनश्च तत्रापि वीर्याणि पराक्रमरूपाणि । तत्रापि बाहुल्यमाह **अनन्तवीर्यस्ये**ति । **श्रोतुमिच्छामह** इति श्रवणेच्छा सर्वेषां निरूपिता । **प्रभो** इति एतावता श्रवणेच्छापूर्तिर्नस्त्वयैव कर्तुं शक्या नान्येनेति ।।१।।

व्याख्यार्थ—परीक्षित ने, श्री शुकदेवजी को 'भगवन्' संबोधन से यह बताया है, कि मेरी भगवान् के चरित्र में श्रद्धा है और उसका ज्ञान भी है जितने प्रसिद्ध हैं वे और 'च' पद से कहता है कि जो प्रसिद्ध नहीं हैं वे तथा जो दूसरे ग्रन्थों में कहे हैं अथवा वहां भी नहीं कहे हों वे भी, मैं आप से सुनना चाहता हूँ, यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कि भगवान् के अनेक चरित्र नहीं है, क्योंकि यदि भगवान् के चरित्र बहुत प्रकार के न होंवे तो सर्व प्रकार के जीवों की मुक्ति सिद्ध न होती । देशकाल की रुकावट के सिवाय सर्व की ही चरित्र श्रवणादि से ही मोक्ष की सिद्धि हुई है । मेरी तो,

इस प्रकार की श्रद्धा है, अतः सब ही चरित्र सुनने चाहिये, केवल मोक्षार्थिपन से ही नहीं, किन्तु महत्त्वार्थी और आत्मार्थी कार्य सिद्धि के लिए, जो पराक्रम रूप चरित्र किए हैं, वे भी सुनना चाहता हूँ। उसमें बहुलता है, कारण कि, आप अनन्तवीर्य (पराक्रम) वाले हैं, इत्यादि कारणों से केवल मैं नहीं किन्तु सकलजन सुनना चाहते हैं, इस प्रकार श्रवणेच्छा की पूर्ति आप से ही होगी न कि दूसरे किसी से, क्योंकि आप 'प्रभु' सर्वसमर्थ, षडगुणैश्वर्य सम्पन्न हैं ।। १ ।।

आभास— ननु श्रुतान्येव बहुचरित्राणि पुनः कथमाकाङ्क्षेति चेत्तत्राह **को नु श्रुत्वेति** ।

आभासार्थ—आपने बहुत चरित्र सुने हैं फिर क्यों इच्छा हुई है ? इसका उत्तर 'को नु श्रुत्वा' श्लोक में देता है—

श्लोक—**को नु श्रुत्वाऽसकृद्ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः ।**
विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ।।२।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! कामदेव के बाणों से खेदित कौन सा मनुष्य है, जो उत्तम-पुरुष जिनके गुणगान करते हैं, वैसे भगवान् की सुन्दर कथाएँ बार-बार सुनकर भी विशेष जानने की इच्छा न करे, गुणानुरागी कोई भी पुरुष भगवान् की कथा से तृप्त नहीं होता है अर्थात् सदैव उस रस के पान की इच्छा करता रहता है ।।२।।

सुबोधिनी—असकृद्वारंवारमपि **श्रुत्वा** श्रवणाद्विरमेत । **ब्रह्मन्नि**त्यस्मिन्नर्थे सर्वज्ञत्वात्संमतिरुक्ता । तत्राप्यु**त्तमश्लोकस्य सत्कथाः** । उत्तमैः श्लोक्यत इत्यविगानं कथाश्च सद्रूपाः । स्वतोपि पुरुषार्थपर्यवसायिन्यः । एवं सर्वप्रकारेणोत्तमाभ्यः **को वा विरमेत** । ननु सत्कथाः बह्वय एव सन्ति बहूनां भगवतश्च ततश्च श्रुतानामेवानुवृत्तिः कर्तव्या किमपूर्वश्रवणेनेत्याशङ्कायामाह **विशेषज्ञ** इति । यदेकं चरित्रं श्रुतं तदा यावान् रसः तदपेक्षया द्वितीयचरित्रश्रवणे शतगुणः, ततस्तृतीयेपि ततः शतगुणाधिक्यम् । एवमुत्तरोत्तरं श्रोतॄणां रसाधिक्यमनुभवसिद्धम् । अतो **विशेषज्ञः को वा विरमेत** । पूर्वचरित्रेणान्तःकरणमालिन्ये निवृत्ते उत्तरोत्तरमधिकचरित्रस्वरूपज्ञानात् विशेषज्ञता युक्तैव । तत्र कदाचित्संसारे व्यापृतः अन्यधर्मैर्बन्धा गृहीतः विरमेतापि यस्तु पुनर्विरक्तः स कथं न गृह्णीयात् । वैराग्ये उपपत्तिमाह **विषण्णः काममार्गणैरि**ति । कामा नानाविधाः मार्गणत्वादन्तःस्थिताः भित्त्वा बहिर्निर्गच्छन्ति । बहिःस्थिाश्चान्तः प्रविशन्तीति तत उपायो जातः यतोयं काममयः पुरुषः अतः सर्वतो भिन्नः सर्वानन्दहेतोश्चरित्रात् कथं विरमेतेत्यर्थः ।।२।।

व्याख्यार्थ—बार-बार सुनकर भी, कौन ऐसा हो, जो सुनने से विराम पावे ? हे ब्रह्मन् ! संबोधन से सिद्ध किया है कि श्रीशुकदेवजी सर्वज्ञ होने से, उनकी भी इसमें सम्मति है, उसमें भी जिसकी कथाओं का गान उत्तम पुरुष करते रहते हैं, ऐसी कथाएँ सद्रूप हैं, और स्वतः भी पुरुषार्थ

रूप हैं, अथवा श्रोताओं को चारों पुरुषार्थों को देने वाली है, सर्व प्रकार से, उत्तम वैसी सत्कथाओं से कौन है जो विराम पावे।

सत्कथाएँ तो बहुत ही हैं, उन कथाओं तथा भगवान् के सुने हुए गुणों का बार बार स्मरण करना चाहिए फिर नवीन चरित्र सुनने की क्या आवश्यकता है ? वा उससे क्या लाभ ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'विशेषज्ञः' जो मनुष्य विशेष आनन्द रस को जानने वाला है, वह सदैव विशेष की इच्छा करता है, अतः एक चरित्र सुनने से जिस रस की प्राप्ति हुई, फिर उस रस से विशेष रस की इच्छा होने से, दूसरा चरित्र सुनना चाहता है। दूसरे चरित्र श्रवण करने पर, पहले से दूसरे चरित्र सुनने में शतगुण आनन्द आता है। अनन्तर तीसरे चरित्र श्रवण से. उससे भी शत (सौ) गुणा अधिक हैं, इसी तरह उत्तरोत्तर श्रोताओं को अधिक रस की प्राप्ति होती है। यह अनुभव से सिद्ध है, इसलिये कोई भी विशेषज्ञ उससे कैसे विराम पावेगा ?

पूर्व चरित्र श्रवण से अन्तःकरण की मलीनता नष्ट होगी वैसे ही उत्तरोत्तर अधिक चरित्र के स्वरूप के ज्ञान हो जाने से, विशेषज्ञता होना उचित ही है, वहाँ कदाचित् संसार में व्यावृत अन्य धर्मों से बन्ध में जो गृहीत हैं, वे विराम पावे भी, और जो विरक्त हैं वह गुणों को कैसे श्रवण नहीं करेगा ? वैराग्य होने में, उपपत्ति बताते हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं, वे अन्तःकरण में स्थित हैं, उसे तोड़कर बाहर निकल आते हैं। बाहर स्थित भीतर चले जाते हैं, इसी तरह उपाय हुआ, क्योंकि यह पुरुष काममय है, अतः सबसे पृथक् सर्वानन्द के हेतु चरित्र से यह कैसे विराम पाएगा ? ॥ २ ॥

आभास—एवं जीवस्य स्वतः भगवच्चरित्रादविरतिमुक्त्वा विरक्तौ न केवलमात्मन एव कामैर्नाशः किंतु सर्वेन्द्रियाणामपि वैफल्यमिति वदन् इन्द्रियवत्त्वं भगवच्चरित्रादेवेत्याह **सा वागिति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—जीव स्वयं ही भगवान् के चरित्र श्रवण से विराम नहीं पाता है, यों कहकर, अब कहते हैं, कि यदि विराम पावे तो न केवल आत्मा का ही कामनाओं से नाश करता है, किन्तु सकल इन्द्रियों को भी विफल बनाता है। अतः इन्द्रियों की सफलता तो भगवान् के चरित्र श्रवणादि से ही होती है, यों 'सा वाग्.' श्लोक से सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च।**
स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥३॥

श्लोकार्थ—जो वाणी भगवान् के गुणों का गान करती है, वह वाणी है। जो हाथ उनकी सेवा करते हैं, वे हाथ हैं। जो मन अचल और चल पदार्थों में वास करने वाले भगवान् के चरित्रों को स्मरण करता है, वह मन है। जो कान उनकी पवित्र कथाएँ सुनते हैं, वे कान हैं ॥३॥

सुबोधिनी—वाग् देवतारूपा । अनेनान्येषां दैत्यरूपा वागिति तेषामिन्द्रियाणां वागादिपद-प्रयोगो भाक्तः । अभासा वा वागादयः, अन्यथा भगवतः सकाशात् उत्पन्ना वागादयः कथमन्य-परा भवेयुः । अथवा । 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्यत्र देवपक्ष एव 'ते ह वाचमूचुः' इत्यादिना वाक्शब्दव्यवहार उक्तः । असुराणां तु सर्वेन्द्रि-याणामासुरत्वमेव न वागादित्वम् । अथवा । इन्द्रियाणां द्वेधा उत्पत्तिः श्रुतौ निरूपिता । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इत्यादि च । पुराणादिष्वहंकारादपि तेषामुत्पत्तिः । तत्र ये भगवद्योग्याः तेषां भगवदीयैव सामग्री तत्रैव वागादिव्यवहारः । ब्रह्मनिर्मितेऽहंकारनिर्मिते वा इन्द्रियवर्गे नायं व्यवहारः राजसतामसव्यवहा-रात्, अतः सात्त्विका निर्गुणा वा भगवदीया भवन्तीति भगवत्कृतेन्द्रियसंबन्ध एव तेषां तत्र परीक्षार्थमिदमारभ्यते **सा वागिति** । अभिप्रेता वाक् सैव **यया तस्य गुणान् गृणीते** गृणनं नोच्चा-रणमात्रं किंतु नितरां गॄ निगरण इत्यनुशास-नात् । भगवतः कथामात्रं कदाचिदन्योपि वदेत् । उत्कर्षाधायकानां तु तेन प्रकारेण नितरां भक्ति-पूर्वकमुच्चारणं भगवत्कृतवाच एवेति न क्वाप्य-व्याप्त्यतिव्याप्ती । इदमेव चाभिज्ञापकम् । एव-मग्रेपि ज्ञातव्यम् । **करौ च तत्कर्मकरौ । कर्म** लौकिकं परिचर्यात्मकं भगवत्त्वेन ज्ञात्वा,यज्ञकृतौ तदपि भवति । **तच्छब्देन** पुरुषोत्तमो वा । यज्ञ-स्तु पुरुषस्य कर्मेति न तत्रातिव्याप्तिः । **चकारा-**द्बहिर्मुखानामपि सेवकसेवकानां करौ संगृहीतौ। गुणानुवर्णनं तु न तेषामान्तरं शक्यं बाह्यं तु प्रसङ्गाद्भवेदपि । **मनश्च** तत्र **चकारः** पूर्वकर्म-संग्रहार्थः । न तु सेवकानां । **स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं** भगवन्तं **स्मरेदिति** । अनेन द्वितीयस्कन्धे सूक्ष्म-धारणायां यदुक्तं 'धारणया स्मरन्ति' इति तत्र विशेषो निरूप्यते स्थिरजङ्गमेषु वसन्तमिति । तत्र तु 'स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे' इति । अन्यदपि रूपद्वयं सामान्यवचनात्संगृह्यते । आधिदैविकम-न्तर्यामिरूपं च तत्राप्युत्तमत्वादिभेदः कल्पनीयः। उत्तमास्तु पूर्वोक्ताः सर्वत्र भगवद्दर्शनं तु भगवत एव तथानुगृहीतस्य वा भवति । तादृशस्य स्मृति-निवर्तत एव सर्वत्रानुभव एव । कर्णयोस्तु विशे-षमाह **शृणोतीति** । **तत्पुण्यस्य** जीवहितकरण-रूपस्य **कथाः** पुण्यजनिकास्तु प्रकरणविरोधान्न ग्राह्याः । **कर्णं** इत्येकवचनं वामाभिप्रायम् । 'उत्तरो देवहूः स्मृत' इति वाक्यम् । अथवा । यः कर्णो भक्तिजनिकां कथां शृणोति **स** सर्वसंमत इति तं परित्यज्य योपि पुण्यकथाः शृणोति **स कर्णः** स एव कर्णः पूर्वोक्तो वा ॥३॥

व्याख्यार्थ—वह वाणी देवता रूप है, इससे यह समझाया है, कि दूसरों की दैत्य रूप वाणी है, यों इनकी इन्द्रियों के वागादिरूप का विभाग किया है, अथवा उनकी (अन्यों की) वागादि इन्द्रियां आभास रूप हैं । यदि दैत्यरूप वा आभासरूप न होती तो, भगवान् से उत्पन्न, वे इन्द्रियाँ भगवान् के परायण न होकर कैसे अन्य परायण होवे अथवा 'द्वया ह प्राजापत्या' इस श्रुति में इन्द्रियां देवता रूप हैं, यह देव पक्ष कहा है और 'ते ह वाचमूचुः' इन वाक्यों से वाणी का शब्द व्यव-हार करना कहा है, तात्पर्य यह है, कि जो वाक् देवता रूप है, उसका शब्द व्यवहार भगवत्परायण है और असुरों की तो सर्व इन्द्रियाँ आसुर हैं,इसलिए वे इन्द्रियाँ वागादि कहलाने के योग्य ही नहीं हैं ।

श्रुति में इन्द्रियों की दो प्रकार से उत्पत्ति कही है, एक साक्षात् भगवान् से और दूसरी अन्यों से, जैसा कि 'एतस्माज्जायते प्राणो मन इन्द्रियाणि च' इस परमात्मा से प्राण, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं तथा 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' स्वयम्भू भगवान् से उत्पत्ति कही है, इसलिए

इन्द्रियां भगवान् को पहुँच नहीं सकती हैं। पुराण आदि शास्त्रों में अहङ्कार से भी इन्द्रियों की उत्पत्ति कही है, वहां जो भगवान् की सेवा के योग्य हैं उनके लिए सामग्री भगवदीय ही है। उस विषय में ही उस वाणी का आदि सदुपयोग होता है, ब्रह्म वा अहङ्कार से निर्मित इन्द्रिय वर्ग ऐसा व्यवहार नहीं कर सकती, कारण कि उनका व्यवहार राजस और तामस है, अतः जो सात्विक वा निर्गुण भगवदीय होते हैं, उनका ही भगवान् से बनी हुई इन्द्रियों से सम्बन्ध है, उसमें परीक्षा के लिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है। वह ही वाणी अभिप्रेत है, जो वाणी उनके गुणों का जोर से प्रेमपूर्वक उच्चारण करते हुए उनको निगलती रहती है, भगवान् की केवल कथा कहानी की तरह दूसरा भी कह दे, जो उत्कर्ष वाले हैं वे उस प्रकार से सर्वदा भक्ति पूर्वक उच्चारण करते हैं, कारण कि, उनकी वह वाणी है, जो भगवान् ने बनाई है, इसलिए उसमें वहां भी अव्याप्ति वा अति-व्याप्ति नहीं है। यह ही समझना है। आगे भी यों जानना चाहिए। हस्त (हाथ) वे हैं जो भगवान् की ही सेवा करते हैं। लौकिक कर्म को भी भगवत्पन से सेवा रूप समझकर करना चाहिए वह भी यज्ञ रूप होता है, अथवा तत् शब्द से पुरुषोत्तम समझना चाहिए, यज्ञ तो पुरुषोत्तम का कर्म है, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं है, 'च' पद से बहिर्मुख जो सेवकों के सेवक हैं उनके भी हस्त ग्रहण किए गए हैं, सेवकों के गुणों का वर्णन तो आन्तर होने से करने में समर्थ नहीं है। प्रसङ्ग आने पर बाहर का तो होता ही है, 'मनश्च' यहां 'च' पद पूर्व कहे हुए कर्म के सङ्ग्रह के लिए है न कि सेवकों के लिए।

द्वितीय स्कन्ध में अपनी देह के अन्दर हृदयाकाश में स्थित परमात्मा को धारणा से स्मरण करना कहा है। यहां उससे विशेष प्रकार से कहते हैं, कि अचल और चल सकल पदार्थों में व्याप्त भगवान् का स्मरण करे। सामान्य वचन से भी दूसरे भी दो रूप ग्रहण किए जा सकते है। १–आधि-दैविक २–अन्तर्यामिरूप उनमें भी उत्तमत्व आदि भेद की कल्पना करनी चाहिए, उत्तम वे हैं जो पहले कहे हैं, सर्वत्र भगवत् दर्शन तो भगवान् द्वारा अनुगृहित अथवा जिसका ज्ञान मार्ग में ग्रहण हुआ हो, उनको होता है, ऐसों की स्मृति नष्ट हो जाती है केवल अनुभव ही होता रहता है।

जीवों का हित करने वाली, जो भगवान् की पुण्यप्रद लीलाएँ हैं, वे प्रकरण विरुद्ध होने से, ग्रहण नहीं करनी चाहिए क्योंकि यहां प्रकरण भगवदीय इन्द्रिय वर्ग का है, उन भगवदीय इन्द्रियों को पुण्यजनक कथाओं के सुनने की आवश्यकता नहीं हैं, कारण कि, ये इन्द्रियाँ कर्ममार्गीय नहीं हैं। 'कर्ण' शब्द एक वचन कहने का तात्पर्य यह है, कि वाम+ कर्ण देवहू कहलाता है इसलिए उत्तर कर्ण ही भगवदीय होने से, ऐसे भगवच्चरित्र सुनना चाहता है, जो 'कर्ण' भक्ति को उत्पन्न करने वाली कथा को सुनता है वह 'कर्ण' सर्व संमत है, उसको छोड़कर जो पुण्यप्रद कथाओं को सुनता है वह उत्तर कर्ण है वा पूर्वोक्त ही कर्ण है इससे प्रथम पक्ष की मुख्यता बताने के लिए उसका अनुवाद किया है ॥ ३ ॥

आभास—इन्द्रियाणां निरूप्य अङ्गानि निरूपयन् उत्तमाङ्गं निरूपयति ।

आभासार्थ—इन्द्रियों का निरूपण कर अङ्गों का निरूपण करते हुए उत्तमाङ्ग का 'शिरस्तु' श्लोक में निरूपण करते हैं—

+ पितृहृदक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः

श्लोक—**शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत्तदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।**
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि वहन्ति नित्यम् ।।४।।

श्लोकार्थ—जो सिर भगवान् की स्थावर जङ्गम रूप दोनों मूर्तियों को प्रणाम करता है, वह सिर है, जो नेत्र सर्व जगत् को भगवद्रूप देखते हैं, वे नेत्र हैं और जो अङ्ग भगवान् विष्णु के चरणोदक का तथा भगवद्भक्तों के चरण जल का नित्य सेवन करते हैं, वे अङ्ग हैं ।।४।।

सुबोधिनी—वहन्ति,शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेदिति । उभयं स्थावरजङ्गमात्मकं **लिङ्गं** यस्येति, अन्यत्तु भारात्मकत्वेन पूर्वमेव निरूपितम् । **तु**शब्दस्तद्व्यावर्तयति । एतद्येन संभवति तदप्यैन्द्रियकार्यं तथापि फलदशायामुपयुज्यत इति तदाह **तदेव यत्पश्यतीति** । सर्वमेव जगत् तल्लिङ्गत्वेनैव यदा पश्यति तदैव चक्षुर्भवति । अत्रायं साधनक्रमोपि निरूपितः मार्गान्तरानुसारेणैव गुणोत्कीर्तनपर्यन्तमधिकारे सिद्धे पश्चात्कीर्तनं भगवदीयानां प्रथमं साधनम्, ततः सेवारुच्या सेवा, ततो ज्ञानोदये सर्वत्र भगवदनुसन्धानम्, तादृशस्य बहिर्व्यापारे तत्साधकपुण्यकथाश्रवणम्, तस्य पुण्यैः नारदादिभिः वा कथाश्रवणम्, ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारः, ततो नमनमिति । एवं क्रमसिद्ध्यर्थं सर्वापेक्षया पूर्वमेव कर्तव्यं आवश्यकफलसाधकमिति भगवच्चरणोदकस्य पश्चादपि साधकत्वमिति सर्वान्ते निरूपयति **अङ्गानि विष्णोरिति** । तान्येवाङ्गानि **यानि विष्णोः पादोदकं** गङ्गां **वहन्ति । अथ** भिन्नप्रक्रमेण **विष्णोः** शालग्रामादौ । **तज्जनानां च नित्यं वहन्ति** अङ्गात्प्रथममागमनं भिन्नप्रक्रमः । नित्यवहनं त्रिषवणं अहरहः तदेकपानादिना वा । एवं भगवदीयत्वेनैव सर्वपुरुषार्थ इति कथं कथातो विरतिरिति ।।४।।

व्याख्यार्थ—स्थावर और जङ्गमात्मक जिसकी मूर्त्तियाँ हैं, उस विष्णु के इन दोनों स्वरूपों को जो शिर प्रणाम करता है, वह शिर है । जो यों नहीं करता है, वह भार रूप है, यों पहले ही निरूपण किया है, 'तु' शब्द उसको पृथक् करता हैं । यह जिससे हो सके, वह भी इन्द्रियों का कार्य है, तो भी, फल दशा में गिना जाता है । यों वह कहते हैं, कि, समग्र जगत् भगवान् का ही रूप देखे, तब वे नेत्र कहे जाते हैं । यहां यह साधन का क्रम भी निरूपण किया है, दूसरे मार्ग की रीति के अनुसार गुणों के कीर्तन पर्यन्त जब अधिकार सिद्ध हो जावे, पश्चात् भगवदीय, जो कीर्तन करते हैं, वह कीर्त्तन प्रथम साधन है । अनन्तर सेवा करने में रुचि उत्पन्न होती है,जिससे सेवा[1] होती है,बाद में ज्ञान का उदय जब होवे, तब सर्वत्र भगवान् का अनुसन्धान होता है, ऐसे अधिकारी के बाहर के व्यापार में,उस(अनुसन्धान)को सिद्ध करने वाली पुण्य कथाओं का श्रवण बन सकता है उसके पुण्यों से नारद आदि द्वारा कथा का श्रवण सिद्ध होता है,उससे जब सर्वत्र भगवान् का साक्षात्कार सिद्ध हो जाता है, तब नमन पूर्ण रीति से होता है । इस प्रकार क्रम सिद्धि के लिए पहले क्या करना चाहिए,

१— स्मरण और श्रवण सेवा के ही अन्तःपाती हैं अर्थात् जिसकी सेवा में रुचि हो, सेवा करता है, वह स्मरण श्रवण भी करता है ।

वह बताते हैं, जिससे करने से आवश्यक फल की सिद्धि हो जाती है, भगवच्चरणारविन्द का जल पीछे भी सिद्धि करने वाला है। इसलिए अन्त में कहा है, वे ही अङ्ग हैं जो विष्णु के पादोदक गङ्गा को धारण करते हैं, 'अथ' पद देकर पृथक् (जुदा) क्रम दिखाते हैं, कि 'विष्णोः' अर्थात् शालग्राम आदि भगवत्स्वरूपों का पादोदक धारण करते हैं, और उसके जन अर्थात् भगवद्भक्त उनके पादोदक को नित्य धारण करते हैं, वे ही अङ्ग हैं। नित्य धारण का तात्पर्य है, कि नित्य तीन आचमन द्वारा उस पादोदक का पान करना, इसी तरह भगवदीयपन से ही सर्व पुरुषार्थ होते हैं, तो ऐसे भगवदीयों का कथा से वैराग्य कैसे होगा ? अर्थात् कदापि न होगा, सतत श्रवणादि करते ही रहेंगे ॥ ४ ॥

आभास—एवं भगवदुत्कर्षे वर्णिते श्रवणेन शुकोपि भक्त्यानन्दे निमग्नः कथारम्भं कृतवानिति सूतः शौनकादीन् प्रत्याह **विष्णुरातेन संपृष्ट** इति ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् के उत्कर्ष वर्णन करते हुए, श्रवण हो जाने से शुकदेवजी भी भक्ति के आनन्द सागर में मग्न हो कथारम्भ करने लगे,यों सूतजी शौनकादि मुनियों को 'विष्णुरातेन' श्लोक से कहते है—

श्लोक—सूत उवाच—**विष्णुरातेन संपृष्टो भगवान् बादरायणिः ।**
वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥५॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहने लगे कि, बादरायण व्यास के पुत्र भगवान् श्री शुकदेवजी से राजा परीक्षित ने यों पूछा, तब श्री शुकदेवजी वासुदेव में अर्थात् सत्वान्तःकरण में आविर्भूत स्वरूप में निमग्न होकर उत्तर देने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—स हि भगवता एतदर्थमेव रक्षितः शुकोपि परमभगवच्छ्रद्धया **भगवान्** यतो **बादरायणिः** तपःपरायणाद्भगवत उत्पन्नः । अत एव **वासुदेवे** सत्वान्तःकरणाविर्भूते **निमग्नहृदयः** सन् ततो गूढं भगवच्चरित्रं गृहीत्वेवा**ब्रवीत्** । इदं सख्यचरित्रं एकादशाध्यायैर्वक्तव्यम् । अतो निमग्नहृदयत्वादिकं साधनत्वेन निरूपितम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—राजा परीक्षित की रक्षा भगवान् ने इसलिए ही की थी, श्री शुकदेवजी भी भगवान् में अत्यन्त श्रद्धा वाले हैं, जिससे भगवान् अर्थात् षड्गुणैश्वर्यवान् हैं, क्योंकि, तपः परायण भगवान् बादरायण से प्रकटे हैं, इस कारण से ही सत्वान्तःकरण में प्रकट वासुदेव स्वरूप में निमग्न हो, उनसे गूढ़ भगवान् के चरित्र ग्रहण कर ही कहने लगे, यह सख्यचरित्र ११ अध्यायों से वक्तव्य है, अतः भगवान् में हृदय का निमग्न होना साधन रूप से कहा है ॥ ५ ॥

आभास—कथामाह **कृष्णस्यासी**दिति ।

आभासार्थ—'कृष्णस्यासीत्' इस श्लोक से कथा कहते । ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।**
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि श्रीकृष्ण का कोई एक ब्राह्मण मित्र था, जो बड़ा ब्रह्मवेत्ता, इन्द्रियों के विषयों में से विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय था ॥६॥

सुबोधिनी—स पूर्वमपि **कृष्णस्यैवासीत्** । इदानीं तु **सखा** बाल्ये मित्रम् । **कश्चिदिति** विशेषतो देवांशत्वनिराकरणं किंतु केवलं सज्जीवः । तर्हि तेन सह कथं सख्यमासीत्तत्राह **ब्राह्मण**-इत्यादिसप्तविशेषणानि । येन षड्गुणैश्वर्ययुक्तो भगवांश्च तत्र प्रतिष्ठितो भवति । ततो भगवानेव भगवतः सखा भवतीत्युक्तं भवति । तत्र **ब्राह्मणः** श्रियो रूपं ब्रह्मानन्दत्वाल्लक्ष्म्याः। अयं च ब्रह्मणः संबन्धो ब्रह्मसंबन्धयोग्यतामेव संपादयति न जीवसंबन्धमिति प्रकरणाद्ब्राह्मण्यं निरुक्तम् । अनेन एतादृशभावे यददृष्टं भगवदिच्छा वा तेनैवास्य सख्यं जातमित्युक्तं भवति । **ब्रह्मविदां** मध्ये **श्रेष्ठः** ब्राह्मण्योत्कर्षः परमोयम् । ज्ञानस्यैतद्रूपम् । **विरक्त** इति **इन्द्रियाणामर्थेषु** सहजेषु रागाभावः वैराग्यस्य रूपम् । **प्रकर्षेण शान्तः आत्मा** यस्येति । त्रितयानन्तरं धर्मी निरूपितः । ततो **जितेन्द्रियः** ऐश्वर्ययुक्तः ॥६॥

व्याख्यार्थ—वह पहले भी कृष्ण का ही था, अब तो सखा, बालक अवस्था में मित्र हुआ है । 'कश्चित्' पद का आशय है कि उस में देवांश नहीं है, केवल सत्जीव है, तब तो उसके साथ कैसे मित्रता हुई, उससे मित्रता होने में ब्राह्मण आदि सातों विशेषण कारण रूप हैं, वे कहते हैं, जिससे षडगुणैश्वर्य युक्त भगवान् उसमें प्रतिष्ठित हुवे हैं, इस कारण से भगवान् ही भगवान् का सखा बन सकता है । (१) ब्राह्मण होने से श्रीरूप है; क्योंकि लक्ष्मी ब्रह्मानन्द है । यह ब्रह्म का सम्बन्ध ही ब्रह्म से सम्बन्ध की योग्यता प्रतिपादन करता है, न कि जीव सम्बन्ध को, यों प्रकरण से ब्राह्मण्य को कहा है, इससे ऐसे भाव में जो अदृष्ट वा भगवदिच्छा उससे ही मित्रता हुई । यों कहा जा सकता है, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है यह ब्राह्मण्य का परम उत्कर्ष है । ज्ञान का यह रूप है, सहज इन्द्रियार्थों में राग का अभाव है । जो वैराग्य का रूप है, जिसकी आत्मा अत्यन्त शान्त है, तीनों के बाद धर्मी का निरूपण किया, उसके बाद कहा, कि जितेन्द्रिय है, इससे कहा कि ऐश्वर्य धर्म युक्त है ॥ ६ ॥

श्लोक—**यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।**
तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥७॥

श्लोकार्थ—गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भगवदिच्छा से जो मिलता था उससे अपना निर्वाह करता था, चीथड़े पहनने वाले उस ब्राह्मण की स्त्री भी वैसी ही थी और भूख के मारे दुबली हो गई थी ॥७॥

सुबोधिनी—यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानः वीर्यवान् इदं त्वतिसहनं परमवीर्यकार्यम् । **गृहाश्रमी** गृहस्थ, एतत्कीर्तिरूपम् । नन्वेतादृशस्य गृहस्थाश्रमो न युक्त इति शङ्कां वारयितुमाह **तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधेति ।** पूर्वं परमहंसगृहस्थनिर्णये यद्येतादृशी भार्या लभ्येत तदा गार्हस्थ्यमुत्तममेतदभावे पारमहंस्यमिति । अन्यथा पुरुषोर्धबृगल इति पुरुषार्थसाधने खण्डः स्यात् । **कुचैलस्ये**ति तस्यां रागाभावो निरूपितः। रागिणां प्रथमतो वस्त्रालंकरणमिति । तस्यां रागाभावे अस्यापि हेतुमाह **क्षुत्क्षामे**ति । सर्वथा क्षुधा क्षामा कृशा, तदपेक्षया तस्याः व्रतमधिकमिति पदार्थोत्पत्तावेक एव प्रकारः, तत्रापि शेषभोजनादाधिक्यम् । **चकारात्त**द्धर्मयुक्तापि तथाविधा **कुचैला** । अनेन तस्मिन्नपि तस्या रागाभावो निरूपितः ।।७।।

व्याख्यार्थ—जो कुछ भगवान् की इच्छा से प्राप्त होता था उससे वह ब्राह्मण अपना निर्वाह करता था, इससे सिद्ध होता है, कि वीर्यगुणवाला था । इस प्रकार इतना विशेष सहन करना तो, परमवीर्य का कार्य है, गृहाश्रमी अर्थात् गृहस्थ था, ऐसी अवस्था होते हुए सन्तोष में रहना यह कीर्त्तिरूप है । यदि यों ऐसी दशा है, तो गृहस्थी होना उचित नहीं है । इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं, कि चीथडे धारण करने वाले ब्राह्मण की स्त्री भी ऐसी चीथड़ों वाली और दुबली थी, पहले परमहंस के गृहस्थ के निर्णय में जो ऐसी स्त्री प्राप्त होवे, तब वह गृहस्थाश्रम उत्तम है, यदि वैसा न हो तो पारमहंस्य श्रेष्ठ है, नहीं तो पुरुष अर्धबृगल है । यों पुरुषार्थ साधन में खण्ड होता है। फटे कपड़े वाले की स्त्री में आसक्ति वा प्रेम का अभाव होता है । जो आसक्तिवान् होते हैं वे पहले ही वस्त्र और अलङ्कारों से स्वयं अलंकृत बनते हैं । इसका भी स्त्री में रागाभाव था, क्योंकि भूख से कृश हो गई थी, उससे भी इसका अधिक व्रत था, पदार्थ की उत्पत्ति में एक ही प्रकार था, तो भी बचे हुए भोजन से निर्वाह कर लेने से स्त्री का व्रतवती होना अधिक था 'च' पद से बताता है ऐसे व्रत से दुबली होने के साथ कुचैला (मलीन वस्त्र वाली) भी थी, इससे उसमें भी इसका (स्त्री का) रागाभाव था ।। ७ ।।

आभास—तस्याः कामनायां प्रथमतो हेतुमाह **पतिव्रते**ति ।

आभासार्थ—उस स्त्री को धन की कामना में हेतु 'पतिव्रता' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—**पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता बदनेन सा ।**
दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ।।८।।

श्लोकार्थ—पतिव्रता, दरिद्रा और दुःखी वह स्त्री काम्पती हुई पास आकर कुम्हलाते हुए मुख से पति को कहने लगी ।।८।।

सुबोधिनी—पतिरेव व्रतं यस्याः । यथा व्रती स्वव्रतोत्कर्षं वाञ्छति तथा सापि भर्तुः सर्वसमृद्धिं वाञ्छतीति । पतिव्रतात्वादेव नान्यतस्तत्संपादनमतः **पतिं प्राह म्लायता वदनेने**ति दैन्यख्यापनम् । ननु मनसि कामाभावे दैन्यं कपटरूपमिति पातिव्रत्यविरुद्धम् । विद्यमाने तु तथाविधत्वं नास्तीत्याशङ्कायामाह **से**ति । सा पतिव्रता व्रतार्थं तत्साधनमिति न दोष इति **भावः ।**

स्वतः स्वोत्कर्षो नास्तीति ज्ञापयितुमाह दरिद्रा सीदमाना सेति। दारिद्र्यात् दुर्गतेः न कोप्यर्थः। तत्राप्यवसादं शरीरेण प्राप्नोति। ततः प्रथमत एव देहवियोगे व्रतभङ्गोपि भविष्यतीति भयात्तथाकरणम्। यतः सा पूर्ववत्। तर्ह्येतावत्कालं कथं नोक्तवती तत्राह वेपमानेति। भयादिति केचित्। शरीरं पतनदशापन्नमिति। अतः परं कालो विलम्बं न सहत इति आभिमुख्येनागत्य, चकारात्तन्मनःप्रीतिं कृत्वा स्तोत्रं वा वक्ष्यमाणमाह ॥८॥

व्याख्यार्थ—पति ही जिसका व्रत है, वैसी वह स्त्री थी, जैसे व्रत करने वाला अपने व्रत का उत्कर्ष चाहता है, वैसे ही यह भी, अपने पति से सर्व प्रकार की समृद्धि चाहती थी, इसलिए उसका उत्कर्ष चाहती थी पतिव्रता होने से अन्य प्रकार अर्थात् दूसरे से समृद्धि की प्राप्ति नहीं चाहती थी, अतः कुम्हलाते हुए मुख से दीनता दिखाती हुई पति को कहने लगी, मन में कामना न हो, फिर दीनता दिखानी तो कपट रूप है, पतिव्रत्य से विरुद्ध है, यदि कामना हो तो फिर दीनता करना तो कपट नहीं है, इस शङ्का के उत्तर में कहा है, कि, वह पतिव्रता है, अतः पतिरूपव्रत के उत्कर्ष के लिए यह साधन है इसलिए दोष नहीं है, अपने आप अपना उत्कर्ष नहीं है, यों जताने के लिए कहते हैं, दरिद्र थी। जिससे दुःखी थी उससे कुछ भी अर्थ नहीं, उसमें भी शरीर से कृशता वा कष्ट था, यदि पहले ही देह का वियोग हो जावेगा, तो व्रत का भङ्ग होगा, इस भय से यों करने लगी क्योंकि वह पहले जैसी है, यदि यों है तो इतना समय क्यों रुक गई और किसलिए कहा नहीं, जिसका उत्तर देते हैं कि काम्पती थी, कहते हुए किसी डर से नहीं कहा। शरीर ऐसा दुबला हो गया कि अब यह गिरेगा, अब भी न कहूँगी तो ठीक नहीं कारण कि, काल अब विलम्ब को सहन नहीं करेगा, इसलिए सन्मुख आकर निम्न प्रकार से पति के मन को प्रसन्न करती हुई स्तोत्रसम कहने लगी ॥ ८ ॥

आभास—तस्याः वाक्यानि निरूपयति **नन्विति** सार्द्धैस्त्रिभिः।

आभासार्थ—'ननु ब्रह्मन्' से साढ़े तीन श्लोकों से उसके वाक्य कहते हैं

श्लोक—**ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः।**
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! साक्षात् लक्ष्मी के पति, ब्राह्मणों के भक्त, शरणागतवत्सल, यदुश्रेष्ठ भगवान् आपके मित्र हैं ॥९॥

सुबोधिनी—सर्वथा अवसादे ईश्वरोपसर्पणं विहितम्। अत आपद्धर्मत्वात् सा बोधयति। नन्विति कोमलसंबोधनम्। ब्रह्मन् इत्यविकृतत्वाय। सिद्धदशैषा तव विषयभोगेपि न स्वरूपनाशः। किंच। भगवता स्वस्य रूपं त्वयि समर्पितम्। अतो **भगवतस्तव सखा** भगवान् **साक्षात्**। अनेन प्रतिग्रहस्तद्दोषश्च निवारितः। तस्याप्यस्मत्तुल्यत्वे व्यर्थमुपधावनमिति शङ्काव्युदासार्थं सख्यपदेनैव भगवत्त्वं प्राप्तमिति **साक्षाच्छ्रियः पतिरि**त्याह। मूर्तिमत्याः आधिदैविक्या लक्ष्म्याः पतिस्तेन सर्वा संपदः तदधीना इत्युक्तम्। तथाप्यस्मभ्यं कथं दास्यतीत्यत्र हेतुमाह **ब्रह्मण्यः** इति। **चका**रात्स्वतोप्युदारः। किंच। **शरण्यश्च** यः शरणं गच्छति तस्मै च सर्वं प्रयच्छति अशर-

णागतावपि गमनमात्रेणैव दास्यतीति **चकरार्थः**। नन्वेवं सति सर्वेभ्यो दाने पदार्थक्षयः अल्पावशेषे वा स्वार्थं स्थापयतीति शङ्कां वारयति **भगवानिति** पूर्णसर्वशक्तिः । सेवकाः प्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यत आह **सात्वतर्षभ** इति । सात्वतानां परमभक्तानां ऋषभः स्वामी ॥९॥

व्याख्यार्थ—सर्व प्रकार दुःख की अवस्था हो तब ईश्वर की शरण लेने की शास्त्राज्ञा है । आपद्धर्म होने से, वह पति को सविनय समझाके कहती है । 'ननु' यह कोमलता में संबोन्धनार्थ दिया है । ब्रह्मन् ! यह विशेषण इसलिए दिया है, कि आप किसी भी अवस्था में विकार को प्राप्त नहीं होते हैं । यह आप की सिद्ध दशा है । अतः विषयभोग करते हुए भी आपका स्वरूप नाश नहीं होगा, **किञ्च**, कारण कि, भगवान् ने अपना स्वरूप आप में स्थापित किया है अत. आप भगवान् है, जिससे आपका साक्षात् भगवान् मित्र है यों कहकर यह सिद्ध किया, कि उनसे कुछ भी ले लेने में कोई दोष नहीं है । यदि वे भी अपने तुल्य हैं, तो उसके पास दौड़कर जाना व्यर्थ है । इसके उत्तर में कहती है, कि नहीं, आपने तो भगवत्त्व सखा होने के नाते प्राप्त किया है । वे तो साक्षात् आधिदैविक लक्ष्मी के स्वामी हैं, इससे सकल सम्पदाएं उनके आधीन हैं । उनके हाथ में हैं, तो भी हमको कैसे देंगे ? **देने** में कारण बताती है, कि 'ब्रह्मण्यः' ब्राह्मणों के भक्त हैं और 'च' पद से कहती है, कि स्वयं (खुद) स्वतः (अपने आप) भी उदार हैं, और शरण्य भी हैं, अतः जो भी शरण जाता है उसको सब कुछ देते हैं । दूसरे 'च' से यह बताया है, कि जो शरण भी न हो, केवल उनके पास जावे, तो भी उसको निहाल कर देते हैं । यों करते रहने से अर्थात् सबको देते हुए धन का क्षय होगा, शेष बचा हुआ अपने लिए रखेंगे, इस शङ्का का निवारण करने के लिए कहती है, कि 'भगवान्' सर्व शक्ति पूर्ण हैं । सेवक प्रतिबन्ध करेंगे? जिसके उत्तर में कहती है, कि नहीं करेंगे क्योंकि 'सात्वतर्षभः' सात्वत अर्थात् परम भक्तों के स्वामी हैं ॥ ९ ॥

आभास—किमतो यद्येवं तत्राह **तमुपैहीति** ।

आभासार्थ—जो यों है, तो क्या ? इस पर 'तमुपैहि' श्लोक में उत्तर देती है—

श्लोक—**तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।**
दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे महाभाग ! सत्पुरुषों के रक्षक श्रीकृष्ण के पास जाओ आप सीदायमान (दुःखी) और कुटुम्बी को बहुत धन देंगे ॥१०॥

सुबोधिनी—तन्निकटे गच्छेति प्रार्थना । ननु महाभाग्यव्यतिरेकेण कथं भगवत्समीपगमनं तदभावश्च दारिद्र्यादेवावसीयते तत्राह **महाभागेति** । पातिव्रत्येन तद्भाग्यं प्रादुर्भूतं पश्यन्ती तथा संबोधयति । अनेनाल्पद्रव्येपि भाग्यरहितः कथं सर्वपुरुषार्थनिधिं प्राप्स्यतीति परिहृतम् । इदानीमेव प्रादुर्भावात् । किंच । **साधूनां च परायणं** ये स्वभावत एव दरिद्राः परमसाधवः तेषामपि । परमयनम् । **चकारो** युक्त्यन्तरमिदमिति ख्यापयितुम् । नन्वेवमपि को वेद दास्यति न वेति शङ्काव्युदासार्थमाह **दास्यति द्रविणं भूरीति** । तत्र हेतुः **सीदते ते कुटुम्बिने** इति । सीदत्कुटुम्बी पात्रम् । तत्रापि भवान् सर्वगुणसंपन्नः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—प्रार्थना करती है कि, उनके पास जाओ, उत्तम भाग्य के बिना कैसे भगवान् के समीप जाऊँ। उत्तम भाग्य तो है ही नहीं यह इस दरिद्रावस्था से समझ में आता है। इस पर कहती है, कि, हे महाभाग! आप बड़े भाग्य वाले हो, आपका महद्भाग्य मैं देख रही हूँ, क्योंकि मैं पतिव्रता हूं, पातिव्रत्य के प्रताप से जान गई हूँ, कि आप बड़भागी हो, यों कहकर यह सिद्ध किया है, कि आपके मन में जो यह शङ्का है कि मेरे पास अल्प पदार्थ हैं, इसलिए भाग्यहीन हूँ, कैसे सर्वपुरुषार्थ की निधि को पाऊँगा, आपकी यह शङ्का व्यर्थ है। आपका भाग्य अब खुल गया है, और विशेष यह है, कि जो स्वभाव से ही दरिद्र हैं परमसाधु हैं, उनके श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं। 'च' से यह अन्ययुक्ति कही है, ऐसे हैं तो भी कौन जानता है कि मैं जाऊँगा तो मुझे देंगे? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहती है, कि बहुत धन आप को देंगे, कारण कि, आप गृहस्थ होने से कुटुम्ब वाले हो, और दरिद्रता के कारण दुःखी हो रहे हो, ऐसे ही दान के पात्र हैं, जिसमें भी, आप सर्वगुण वाले हैं ॥ १० ॥

आभास—कदाचिद्भगवानन्यत्र गत इति शङ्कां व्युदस्यति **आस्तेधुनेति**।

आभासार्थ—तूं कहती है, कि भगवान् के पास जा, वे वहां नहीं हों कदाचित् कहीं बाहर पधारे हों तो? जिसका उत्तर 'आस्ते' श्लोक में देती है।

श्लोक—**आस्तेधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः।**
स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किं न्वर्थकामान्भजते नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥११॥

श्लोकार्थ – भोज, वृष्णि और अन्धक के वे ईश्वर हैं, अब द्वारका में विराजे हैं। जो इनके चरणों का स्मरण करते हैं, उनको अपनी आत्मा भी दे देते हैं, तो अर्थ और काम जो इनको प्रिय नहीं है उनके देने में कौनसी बड़ी बात है, क्योंकि ये जगत् के गुरु अर्थात् जगत् के हित करने वाले हैं, अत. वह ही देंगे जिससे हित होवे ॥११॥

सुबोधिनी—तस्य कार्यान्तरवैयग्र्याभावाय ऐश्वर्यं निरूपयति **भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वर** इति। त्रिगुणप्रधानास्त्रयो निरूपिताः। तथापि 'दाता जगति दुर्लभः' इति न्यायेन कदाचिन्न दद्यात्तत्राह **स्मरतः पादकमलमिति**। यः स्मरति तस्मै बहु प्रयच्छति। किंबहुना ब्रह्मानन्दं किंबहुना आत्मानन्दमपि। तत्र किं वक्तव्यं **भजते अर्थकामान्** ददातीति। नन्वर्थकामावेव चेत्तस्याभीष्टौ तदा न दद्यादित्यत आह **नात्यभीष्टानीति**। अनभीष्टं बह्वेव दीयत इति लोके प्रसिद्धम्। सर्वथा अनभीष्टं सख्ये न दास्यतीत्यत आह **नातीति**। किंचिदभीष्टत्वं वर्तत एव। अतः प्रथमं दत्त्वा पश्चाद्दूरीकरिष्यतीति भावः। ननु पात्रं प्राप्य कदाचित्क्रूरं दास्यतीति शङ्कां वारयति **जगद्गुरुरिति**। सर्वेषां हितोपदेष्टा कथमन्यथा कुर्यादित्यर्थः। अनभीष्टत्वे वा हेतुः। अन्यथा जगद्गुरुत्वं न स्यादिति स्वयं विषयासक्तः न ह्यन्येभ्यो वैतृष्ण्यं बोधयितुं शक्नोति ॥११॥

व्याख्यार्थ—उनको अन्य कार्यों की व्यग्रता नहीं है, जिससे उनके ऐश्वर्य का निरूपण करती है। भोज, वृष्णि और अन्धकों के ईश्वर स्वामी हैं। ये तीन त्रिगुण प्रधान हैं, तो भी 'दाता [1]जगति दुर्लभः' इस न्याय से कदाचित् न भी देवें, इसका उत्तर देती है, कि जो उनके चरण कमल का स्मरण करता है, उसको बहुत देते है बहुत क्या कहूँ ब्रह्मानन्द तो देते हैं, किन्तु इससे भी विशेष आत्मानन्द को देने से नहीं हिचकते हैं, वह भी दे देते हैं, जब वे भी देते हैं तो फिर स्मरण करने वाले को अर्थ और काम देवे, तो इसमें क्या बड़ी बात है। अर्थ काम प्रभु को अत्यन्त अभीष्ट नहीं हैं, अतः वे देते हैं। लोक में यह प्रसिद्ध है, कि जो अपने को इच्छित (पसन्द) न हो वह ही बहुत दिया जाता है, किन्तु प्रभु जो **अभीष्ट** नहीं हैं वह मित्र को नहीं देते हैं, जो कुछ थोड़ा सा अभीष्ट भी दे देते हैं, किन्तु पहले अर्थ काम देकर पीछे मित्र वा भक्त के हितार्थ उनसे छीन लेते हैं। पात्र मिले, तो भी, कदाचित् क्रूर को दे देवे, इस शङ्का को मिटाती हुई कहती है, कि 'जगद्गुरुः' सबको हित का उपदेश करने वाले कैसे अहित करेंगे अथवा अनभीष्टपन में हेतु है, नहीं तो जगद्गुरुत्व ही न होवे, यों जो स्वयं विषयासक्त हैं, वह दूसरों को विषयों के त्याग का उपदेश नहीं दे सकते हैं ॥११॥

आभास—एवं तस्या वाक्यान्युक्त्वा तेषामावृत्त्या तस्यापि मनः किंचित्तथाजातमित्याह **एवं स** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार उसके वाक्यों के अभ्यास करने से ब्राह्मण का भी मन कुछ वैसा हुआ अर्थात् वहाँ जाने की इच्छा हुई, जिसका वर्णन 'एवं स' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**एवं स भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः।**
अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—इस तरह स्त्री ने बार बार बहुत प्रार्थना की तब उसने सोचा कि वहाँ जाने से भगवान् के दर्शन होंगे यह ही परम लाभ है ॥१२॥

सुबोधिनी—ननु स्वत एव कुतो न गतः किमिति भार्यया प्रार्थितः यतो भगवद्दर्शनं सर्वेषामेवाभीष्टं तत्राह **विप्र** इति। **बहुशो** बहुप्रकारेण उक्तसदृशेन। **मुहुः** एकस्मिन्नपि दिवसे वारं वारं भर्त्रे रोचत इति। ततः तस्य गमनार्थमालोचनमाह **अयं हि परमो लाभ** इति। **उत्तमश्लोकस्य दर्शनं** ब्रह्मभावादपि दुर्लभम्। यतो ब्रह्मणोपि तद्वाञ्छितम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अपने आप ही क्यों न गया? **स्त्री** की प्रार्थना करने पर जाने का विचार क्यों किया? भगवान् का दर्शन तो सभी को अभीष्ट है। इसका उत्तर है कि 'विप्रः' ब्राह्मण है, **स्त्री** ने बहुत प्रकार से एक ही दिन बार-बार प्रार्थना इस प्रकार की, जैसे पति को पसन्द आवे, पति प्रसन्न हो उसको स्वीकार करे, पश्चात् उसके जाने की इच्छा का विवरण देते हैं कि यह ही महान् लाभ है, भगवान् का दर्शन ब्रह्मभाव से भी दुर्लभ है; क्योंकि ब्रह्म भी उसको चाहता है ॥१२॥

१— जगत् में देने वाला दुर्लभ होता है,

श्लोक—**इति संचिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।**
अप्यस्त्युपायनं किंचिद्गृहे कल्याणि दीयताम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—यों मन में विचार कर, उसने जाने का विचार किया और अपनी स्त्री से कहा कि 'हे कल्याणि:' घर में कुछ भी भेंट के लायक होवे तो दे ।।१३।।

सुबोधिनी—एवमेकं कार्यमुभयं साधयिष्यतीति **संचिन्त्य,** इदं गोप्यं भार्यायै न वक्तव्यमिति **मनसे**त्युक्तम्, अन्यथा साप्यागच्छेत् । ततो **गमनाय मतिं दधे ।** ततो गमनसामग्रीं विचारयन् 'रिक्तहस्तो न पश्येत' इत्युपायनं याचितवान् । याचनावाक्यमाह **अप्यस्तीति । अपीति** संभावनायाम् । **कल्याणीत्वात्** कदाचित् कुतश्चित् प्राप्नुयात्, **गृहेऽस्तीति** प्रश्नः । नास्तीत्युक्ते कदाचिद्गमनप्रतिबन्धकमेतदेव भवेत् इति तूष्णीं स्थिता । ततः अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीति ज्ञात्वा याचयति **दीयतामिति** ।।१३।।

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण ने विचार किया कि इस प्रकार करने से एक कार्य, दोनों को सिद्ध करेगा, यह विचार गुप्त रखना चाहिए स्त्री को भी नहीं कहना चाहिए, यों मन में निश्चय कर लिया, यदि सुनाऊँगा तो वह भी कहेगी. कि मैं भी चलूँ यों निश्चय करने के बाद जाने का विचार किया, बाद में जाने की सामग्री का विचार करते हुए समझा, कि भगवान् के यहाँ खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, अतः भेंट के लिये स्त्री को कहा, कि भेंट के लिए कुछ भी घर में है ? स्त्री को 'कल्याणि:' यह संबोधन देने का आशय यह है, कि कदाचित् घर में कुछ भी न होगा तो कहीं से भी लाएगी, घर में है ? यों प्रश्न रूप में कहा है, घर में तो था नहीं, अब यदि स्त्री पति को कह देवे, कि नहीं है, तो जाने में रुकावट होगी इसलिए चुप रही, यदि निषेध न किया गया तो समझ में आया कि है । अतः पति ने कहा कि दो ।। १३ ।।

श्लोक—**याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान् ।**
चैलखण्डेन तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् । १४।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मणी ने ब्राह्मण गृह से चार मुट्ठी तण्डुल (चावल) मांग कर चीथड़े में बांधकर, पति को भेंट के लिए दिये ।।१४।।

सुबोधिनी—सा च पतिव्रता भर्तृवाक्यं प्रतिपालयितुं **चतुरो मुष्टीन् पृथुकतण्डुलान्** धान्यचिपिटान्, ते मध्ये भक्षयितुमपि शक्यन्त इति तानेव याचयित्वा **चैलखण्डेन** स्ववस्त्रखण्डेन **तान् बद्ध्वा स्वभर्त्रे उपायनं प्रादात्** । एतद्भगवते देयमिति । अबद्ध्वा दाने कदाचिदन्यस्मै प्रयच्छेत्पातयेद्वा ।।१४।।

व्याख्यार्थ—वह पतिव्रता थी, पति की आज्ञा पालन करना अपना धर्म समझकर, चार मुट्ठी चावल मांग कर ले आई, यदि वे यों ही दिए जावें, तो मार्ग में खाये जा सकते हैं अतः अपने कपड़े

के चीथड़े में बान्धकर, अपने पति को कहा कि लीजिए, यह भेंट भगवान् के लिए है, उनको देनी, बान्धने का कारण यह था, कि कदाचित् दूसरे को देवे अथवा गिरा दे अतः बान्धकर दिया ।। १४ ।।

आभास—ततो भगवन्तं प्रति सोपायनस्य गमनमाह **स तानादायेति** ।

आभासार्थ—'स तानादाय, श्लोक में कहते हैं, कि वह उस भेंट को लेकर भगवान् के पास जाने लगा ।

श्लोक—**स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।**
कृष्णसंदर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ।।१५।।

श्लोकार्थ—वह उत्तम ब्राह्मण उन चावलों को लेकर द्वारका रवाना हुआ, मार्ग में विचार करता गया, कि मुझे श्रीकृष्ण के दर्शन कैसे होंगे ? ।।१५।।

सुबोधिनी—**किलेति** प्रमाणम् । मध्ये यो गच्छति स स्वाभिलषितं चिन्तयति ततोयमपि **चिन्तयन्** गच्छति । तत्किं धनं दर्शनं वेति संदेहे तन्निवृत्त्यर्थमाह **कृष्णसंदर्शनमिति** । न तु **कथं** कियद्वा धनं प्राप्स्यामीति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—'किल' शब्द से प्रमाण कहा है, अर्थात् वह द्वारका गया यह निश्चित सत्य है । जो कोई कहीं भी जाता है तो मार्ग में जाते हुए अपने अभिलषित का चिन्तन करता है, वैसे ही यह भी विचार करता हुआ जा रहा था, वह क्या विचार करता था, कि मुझे धन वा दर्शन चाहिए ? इस संदेह की निवृत्ति कर कहता है, कि मुझे तो श्रीकृष्ण के दर्शन चाहिए वे होगे कि नहीं ? धन तो कितना वा कैसे प्राप्त करूँगा ? ।। १५ ।।

आभास—ततः दुर्गत्वात् रक्षकास्तत्र तत्र स्थिताः ते कमपि न प्रवेशयन्ति अज्ञात-चरम् तत्र कथमयं गत इति शङ्कां निवारयति **त्रीणि गुल्मान्यतीयायेति** ।

आभासार्थ—वहां तो दुर्ग (किला) है, दुर्ग के द्वार पर रक्षक स्थित होते हैं, वे किसी नये मनुष्य को भीतर जाने नहीं देते हैं । वहां यह कैसे गया ? इस शङ्का को 'त्रीणिगुल्मानि' श्लोकों में निवारण करते है—

श्लोक—**त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः ।**
विप्रो गम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ।।१६।।

गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महीषीणां हरेर्द्विजः ।
विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा ।।१७।।

श्लोकार्थ—तीन रक्षकों की चौकियों को और तीन दरवाजों का उल्लङ्घन कर आगे गया, जहाँ प्रवेश न हो सके, ऐसे भगवान् के सेवक अन्धकवृष्णि आदि के घर आए, ब्राह्मण था, यों जानकर किसी ने रोका नहीं, तब तो भगवान् की सोलह सहस्र पटराणियों के घर के पास पहुँचे, उनमें से एक घर में प्रविष्ट हुआ, तब उसको ऐसा आनन्द हुआ, मानो ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुआ है ॥१६-१७॥

सुबोधिनी—गुल्मानि सेनाभेदाः । **कक्षाः** प्राकारभेदाः। गुल्मशब्देन गुल्मकृतवनदुर्गाणि वा। निःशङ्कगमने हेतुः **स द्विज** इति । द्विजैः सहितः, स एव वा द्विजः । द्विजत्वं साधारणमिति विशेषेण पूरणत्वं च वदन् विप्रत्वमाह **अन्धकवृष्णीनाम् । अच्युतधर्मिणां** वैष्णवानां परितो व्याप्तानां **गृहेषु** मध्ये हरेः **द्वयष्टसहस्राणां महिषीणां गृहेषु** च मध्ये । **द्विजः** अप्रत्याख्येयः । **एकतमं गृहं विवेश ।** भगवानत्र स्थास्यतीति । तत्र हेतुः **श्रीमदि**ति शोभासंपत्त्यतिशययुक्तम् । तत्र गमनमात्रेणैव तस्य यावस्था तामाह **ब्रह्मानन्दं गतो यथे**ति । द्वारकायां वैकुण्ठावेशात्तस्य च ब्रह्मत्वात् तन्मध्ये भगवद्गृहस्य च आनन्दांशत्वात् तत्र प्रविष्टो ब्रह्मानन्दं प्राप्नोत्येव । **यथे**ति प्रकारभेदार्थमुक्तम् ॥१६-१७॥

व्याख्यार्थ—'गुल्मानि' सेवा के भेद 'कक्षाः' कोट के भेद अथवा गुल्म शब्द से पेड़ों से बने दुर्ग, बिना शङ्का के भीतर चले जाने में कारण उसका ब्राह्मणत्व था, ब्राह्मणों के साथ था अथवा वह ही एक ब्राह्मण था, साधारण द्विज नहीं था, किन्तु 'विप्र' था अर्थात् विद्या, तप और भक्ति आदि से पूर्ण ब्राह्मण था । अच्युतधर्मी अर्थात् वैष्णव, जो अन्धक वृष्णि थे उनके घरों के मध्य में, भगवान् की षोडश सहस्रा (सोलह हजार) पटराणियों के गृह थे । उन घरों में से एक गृह में प्रविष्ट हुआ, ब्राह्मण होने से रोका नहीं जा सकता । यहां भगवान् विराजमान होंगे । जिसमें कारण, विशेष सम्पत्ति तथा शोभा वाला यह गृह है, उसमें प्रविष्ट होते ही, जैसी अवस्था ब्राह्मण की हुई, वैसी ही वर्णन की जाती है । मानों ब्रह्मानन्द में प्रवेश हुआ है । द्वारका में वैकुण्ठ का आवेश होने से, उसका ब्रह्मपन होने से, उसके मध्य में भगवद्गृह आनन्दाँश होने से, वहां प्रविष्ट को ब्रह्मानन्द प्राप्त होता ही है, 'यथा' शब्द, प्रकार भेद बताने के लिए कहा है ॥ १६–१७ ॥

आभास—ततः परितो विलोकनसामर्थ्यरहितः आनन्दानुभवेन निमीलिताक्ष इव भगवता दृष्ट इत्याह **तं विलोक्ये**ति ।

आभासार्थ—पश्चात् चारों तरफ देखने में असमर्थ, आनन्द के अनुभव से आँखे जिसकी मानों बन्द हो गई हैं, वैसे को भगवान् ने देखा, यह 'तं विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।**
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥१८॥

श्लोकार्थ—प्यारी के पलङ्ग पर विराजमान भगवान् दूर से उस ब्राह्मण को देख,

पलङ्ग से उठ त्वरित (जल्दी से) निकट आए और प्रेम से दोनों भुजा पसार उससे आलिङ्गन करते हुए मिले ।।१८।।

सुबोधिनी—प्रियापर्यङ्के लक्ष्मणापर्यङ्के, विरतिवेलायां चतुर्थप्रहरे रात्रौ वा प्रियापर्यङ्के भगवानुपविष्टः । सा लक्ष्मणा चिह्नेन लक्ष्मीर्भवति । ततः **सहसोत्थाय** अग्रे समागत्य **दोर्भ्यां पर्यग्रहीत्** । अनेन तुल्यता निरूपिता । **मुदे**त्यान्तरो भावः । यथा भगवत्संबन्धे तस्य हर्षः एवं तत्संबन्धे भगवतोपि, भक्तत्वादिति ज्ञापितम् । ।।१८।।

व्याख्यार्थ—भगवान् प्यारी लक्ष्मणा के पलँग पर, विरति के समय अथवा रात्रि के चौथे प्रहर में विराजमान थे, वह लक्ष्मणा चिन्ह से लक्ष्मी थी, अनन्तर झटपट उठकर सामने आके दोनों भुजाओं से आलिङ्गन कर उससे मिले, यों कहने से समानता (बराबरी) दिखलाई, 'मुदा' पद से भीतरी प्रेम भाव प्रकट करना कहा है जिस प्रकार भगवान् के मिलने पर इस ब्राह्मण को प्रसन्नता हुई, वैसे ही भगवान् को भी हर्ष हुआ, क्योंकि यह भक्त था यों प्रकट किया ।। १८ ।।

आभास—तत आनन्दापूरित इव लीलां कृतवानित्याह **सख्युः प्रियस्येति** ।

आभासार्थ—बाद में आनन्द से पूर्ण की तरह ही लीला की, निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।**
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ।।१९।।

श्लोकार्थ—अपने प्रिय मित्र विप्रर्षि के अङ्गस्पर्श से अति आनन्द युक्त कमल नयन भगवान् के नेत्रों में से प्रेम के कारण आँसू गिरने लगे ।।१९।।

सुबोधिनी—सखित्वात्तस्य यथा जातं तथैव भाव्यम् । भगवतोपि सुतरां **प्रियस्य** स प्रोतिविषयः पूर्वत्र हेतुरपि भवति । ततोपि **विप्रर्षिः** ब्राह्मणोत्तमः अलौकिकः परमानन्दोप्यस्मिन् प्रादुर्भूत इति । तत्स**ङ्गातिनिर्वृतः** अन्तःसुखं प्राप्तवान् । ततः प्रीत्या मनस्तं द्रष्टुं बहिरागतमिव **नेत्राभ्यां अब्बिन्दून् व्यमुञ्चत्** । **पुष्करेक्षण** इति कृपालुत्वमुक्तम्, हेतुत्वेन ।।१९।।

व्याख्यार्थ—सखापन से जैसे उसको हर्ष हुआ, वैसा ही होना योग्य था, इसलिए प्रिय भगवान् को भी वह प्रीति विषय हुआ इसमें पहले काल[1] का विषय भी हेतु था, उससे भी विशेष यह 'विप्रर्षि' अर्थात् ब्राह्मणों में भी उत्तम ब्राह्मण था और इसमें अलौकिक परमानन्द भी प्रकट हुआ है, अतः उसके सङ्ग से अत्यन्त अन्तः सुख को प्राप्त हुए, अनन्तर वा उससे[2] प्रेम के कारण, मन, उस ब्राह्मण को देखने के लिये मानों जलरूप से नेत्रों द्वारा आया जिसमें हेतु यह है, कि भगवान् कृपालु हैं, इसको सिद्ध करने के लिए ही भगवान् का 'पुष्करेक्षणः' नाम[3] दिया है ।। १९ ।।

१- सखा का दान जिस समय किया २- अन्तः सुख प्राप्त होने से ३- विशेषण

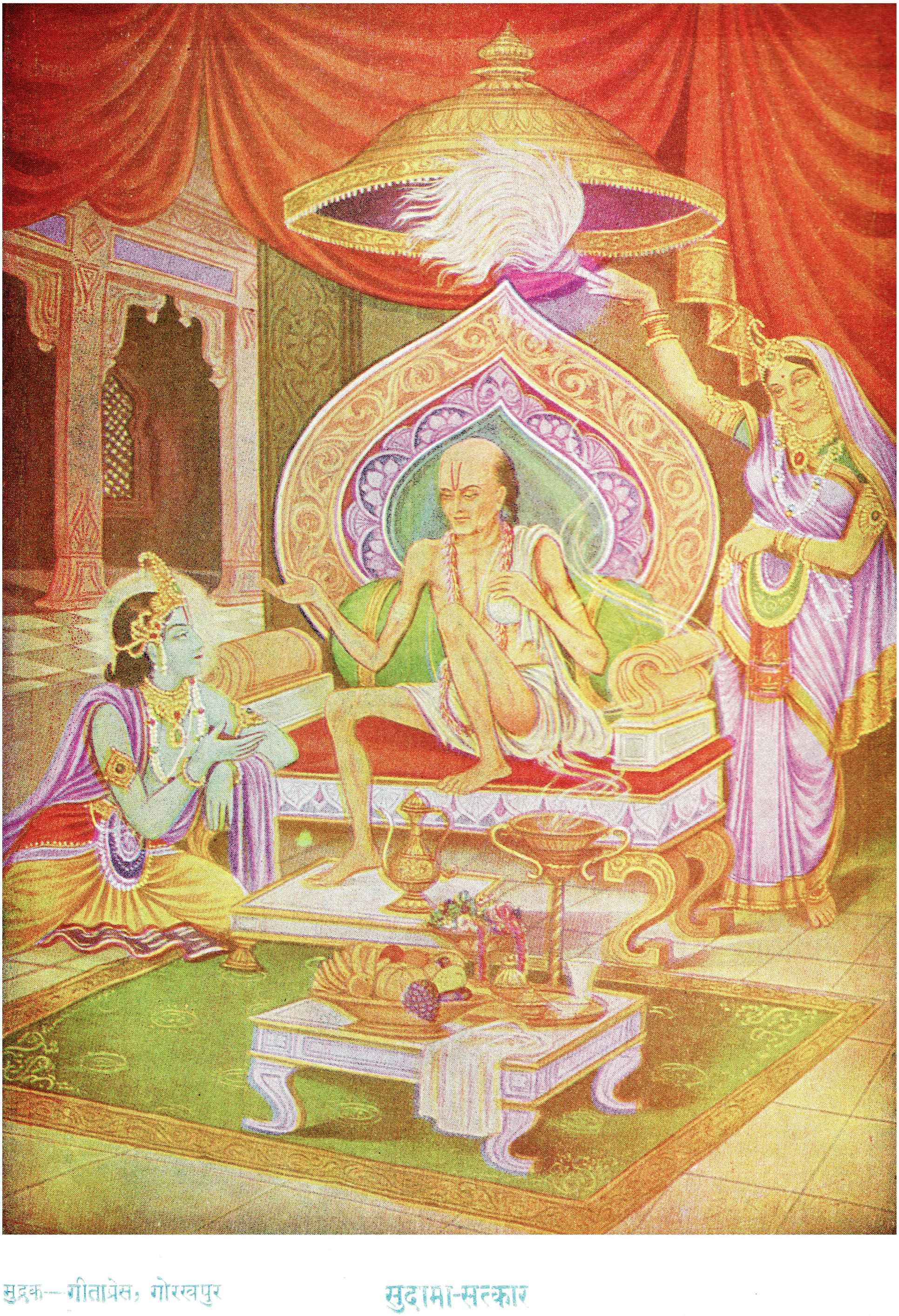

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

सुदामा-सत्कार

आभास—ततो भार्याकृतवैलक्षण्यमावश्यकमिति तेनैव सख्यं न्यूनं भविष्यतीति शङ्कायामाह **अथोपवेश्य पर्यङ्क** इति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर स्त्रीकृत विलक्षणता आवश्यक है, उससे सखा भाव कम होगा, इस शङ्का का निम्न श्लोकों में उत्तर देते हैं—

श्लोक—**अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।**
उपाहृत्यावनिज्यापः पादौ पादावनेजनीः ।।२०।।
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ।।२१।।
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ।।२२।।

श्लोकार्थ—फिर उस मित्र को पलङ्ग पर बिठाकर, पूजा की सर्व सामग्री स्वयं लाकर भगवान् ने उसके चरण धोए, यद्यपि आप स्वयं लोक पावन हैं, तो भी आपने उसके चरणों का जल सिर पर चढ़ाया । महाराज! पश्चात् दिव्यगन्ध, चन्दन, अगरु, केशर इनका अरगजा लगाकर सुगन्धी धूप किया तथा दीपावलियों से आरती की, इस प्रकार पूजा कर ताम्बूल दिया और गौदान दिया, अनन्तर स्वागत किया ।।२०-२२।।

सुबोधिनी—ततः **सख्युः समर्हणं स्वयं** कृतवान् । अस्य पादाववनिज्य समर्हणसाधनान्युपा**हृत्य पादावनेजनीः अपः शिरसाग्रहीत्** । धर्मोयमिति नात्र दूषणम् । लोकशिक्षार्थं च धर्मकरणम् । **राजन्निति** संमत्यर्थम् । विशेषतः चरणोदकधारणे अभिप्रायान्तरमाह **लोकपावन** इति । स हि सर्वलोकात्मकः ब्राह्मणेपि स्वयं स्थित इति पूर्वमुक्तं तेन स्वचरणारविन्दोदकेन लोकान्पावितवानित्युक्तम् । नैतावता त्वपकर्षः यतो **भगवान्** । ततः पूजामाह **व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेनेति** । पूजया प्राप्तदेवत्वं वारयति **मित्रमिति** । **प्रदीपावलिभिरा**रात्रिकैः । अनेन तस्य सुखं तथा यद्यपि न भवति तथापि **मुदा** कृतवान् । ततः पुष्पैः शिरसि **अर्चित्वा ताम्बूलं** निवेद्य **गां** च विधिपरिपालनार्थम् । पश्चात्**स्वागतमब्रवीत्** । अत्र वृषभो गौः ।।२०-२२।।

व्याख्यार्थ—पलँग पर बिठाने के बाद सखा की पूजा स्वयं करने लगे, इसके बाद प्रक्षालन और पूजन की सामग्री लाकर अनन्तर पाद प्रक्षालन (पैर धो) कर वह चरण जल शिर पर धारण किया, यह धर्म है, इसमें कोई दूषण नहीं है लोक को शिक्षा देने के लिए स्वयं धर्माचरण किया, हे राजन्! कहकर उसकी भी सम्मति ली है । चरणोदक धारण करने का विशेष अभिप्राय प्रकट करते हैं, कि 'लोक पावनः' वह चरण जल लोक को पवित्र करने वाला है, कारण कि, भगवान् सर्वलोका-

त्मक हैं अतः ब्राह्मण में भी स्वयं (खुद) विराजमान हैं, यों पहले कहा है, इससे अपने चरणारविन्द के जल से लोकों को पवित्र करने लगे इससे किसी प्रकार न्यूनता नहीं होती है। क्योंकि स्वयं भगवान् हैं, अब पूजा कहते हैं, दिव्य गन्ध से ब्राह्मण के शरीर को लिप्त किया, पूजा की इससे यों समझा जा सकता है, कि वह देव है। उसका निवारण करने के लिए कहा है, कि मित्र है, इसलिए पूजादि किया है। दीपों से आरती की, यद्यपि आरती से उसको वैसा सुख नहीं होता है तो भी आपने प्रसन्नता पूर्वक हर्ष से की है, आरती के बाद, शिर पर पुष्पों की वर्षा कर ताम्बूल दिया, विधि का पूर्ण पालन हो जाय इसलिए गौ भी दी, पश्चात् स्वागत वाक्य कहने लगे यहाँ गौ से वृषभ समझना चाहिए ।। २०-२१-२२ ।।

आभास—ततो भार्यापि पतिव्रतात्वान्मात्सर्यादिकमकृत्वा तं पूजितवतीत्याह **कुचैलमिति**।

आभासार्थ—पश्चात् स्त्री ने भी उसकी पूजा की, पतिव्रता होने से उसमें मात्सर्य आदि दोष नहीं थे, यह 'कुचैलं' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम् ।**
देवी पर्यचरच्छैब्या चामरव्यजनेन वै ।।२३।।

श्लोकार्थ—मैले-फटे जीर्ण वस्त्र पहने, मलीन, दुर्बल, जिसकी नसें देखने में आ रही हैं, ऐसे ब्राह्मण को शैव्या नाम रानी चमर से पंखा करने लगी ।।२३।।

सुबोधिनी— **मलिनभग्नस्थूलवस्त्रं** शरीरसंस्काररहितम्। **दुर्बलं, धमनिभिः** शिराभिः **संततम्**। तथापि **द्विजं** ब्राह्मणस्यैषैव शोभा। तादृशमपि **देवी** देवतारूपा लक्ष्म्यावेशात्, **शैब्या** लक्ष्मणा **चामरव्यजनेन पर्यचरत्**। पूर्वं भगवति चामरव्यजनं कुर्वाणा स्थिता। पश्चाद्ब्राह्मणपूजायामपि तथैव कुर्वाणा स्थितेत्यर्थः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—मलीन, फटे स्थुल वस्त्र वाले शरीर का संस्कार अर्थात् स्नानादि से मैल मिटाने के लिए कोई उपाय न करने से मैले, दुर्बल भी ऐसा था जो शरीर की नसें प्रकट देखने में आ रही थी, ऐसा था तो भी ब्राह्मण था, ब्राह्मण की यह ही शोभा है। ऐसे की भी देवता रूप लक्ष्मी के आवेश वाली शैव्या (लक्ष्मणा) चंवर से वायु की सेवा करने लगी, पहले भगवान् को चंवर से हवा करती थी, जब भगवान् ब्राह्मण की पूजा कर रहे थे तब यह चंवर डुला रही थी ।। २३ ।।

आभास—एवमुभाभ्यां पूजितं दृष्ट्वा तत्रत्या आश्चर्ययुक्ता जाता इत्याह **अन्तःपुरजन** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मण को दोनों से पूजित देखकर वहां जो स्थित थे वे अचम्भे में पड़ गए, यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना ।**
विस्मितोभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ।।२४।।

श्लोकार्थ—अमल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण ने उस मलीन ब्राह्मण का अति प्रीतिपूर्वक सत्कार किया, वह देखकर अन्तःपुर के जन विस्मय में पड़ गए अर्थात् चकित हो गए ।।२४।।

सुबोधिनी—कृष्णेन सभाजितमवधूतं दृष्ट्वा **विस्मितो**भूत् । अनेन भगवत्यपि अपकर्षो भाव्यतामिति शङ्काभावायाह **अमलकीर्तिने**ति । तत्राप्यति**प्रीत्या** । तत्रापि सो**वधूतः** मलिन एव अन्यद्वारा मलापकर्षणं कृत्वा पश्चात्पूजापक्षो निवारितः ।।२४।।

व्याख्यार्थ—कृष्ण ने इस **अवधूत** का पूजन किया यह देख चकित हुए, इससे भगवान् का भी निरादर हुआ, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा, कि वे तो सदैव निर्मल कीर्ति वाले हैं, भगवान् ने ऐसी अवस्था में भी परम प्रेम से पूजा की, इससे यह बताया कि दूसरों से मैल सफा कराके फिर पूजा नहीं की ।। २४ ।।

आभास—विस्मितानां वाक्यमाह **किमनेने**ति ।

आभासार्थ—विस्मितों के वाक्य 'किमनेन' श्लोक से कहते है—

श्लोक—**किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।**
श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गर्हितेनाधनेन च ।।२५।।

श्लोकार्थ—इस निर्धन, भिखारी, शोभा से रहित, निन्दित अवधूत ने इस लोक में कौनसा पुण्य किया है ? ।।२५।।

सुबोधिनी—ते सर्वे पुण्यफलमेव शुभं मन्यन्ते अदृष्टपूर्वत्वात् । **किमि**त्याशङ्का । किंचित्तथा भविष्यतीति चेत्तत्राहुः **अवधूतेने**ति पञ्च विशेषणानि । यद्यस्य धर्मो भवेत् तदा प्रथमं धर्मोत्पादितं शरीरं भवेत् । तत्र च पापकार्यरूपं रजो न श्लेषं प्राप्नुयात् । अयं **चावधूतः** । किंच । यद्यस्य धर्मो भवेत् देहोत्पत्त्यनन्तरं देहपोषार्थं सदन्नं भवेत् । तदपि नास्ति यतोयं **भिक्षुः** । किंच । यद्यस्य धर्मो भवेत्, देहे कान्त्यतिशयो भवेत्, अयं च **श्रिया हीनः** लौकिकी संपत्तिश्च अनेनैव समुच्चिता । किंच । यद्यस्य धर्मो भवेत् । तदा लोके कीर्तिर्भवेत्, अयं च लोके **गर्हितः** । **अस्मिन्नि**ति वयमेवात्र प्रमाणम् । इहलोकवत् परलोकोपीति सूचितम् । किंच । धर्मे विद्यमाने तत्कार्यमस्य धनं भवेत् । अयं **चाधनो** दरिद्रः । अधम इति वा क्वचित्पाठः । तदा संस्कारसामग्र्यभावात्तथोक्तिः । **चकाराद**न्येपि लक्षणादयः संगृहीताः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—वे सब, यह इतना शुभ जो इसका हो रहा है, वह पुण्य का ही फल है। किन्तु वह अदृष्ट होने से, समझ में नहीं आता है। 'किम्' पद से शङ्का प्रकट की है, कि वह कौन से पुण्य हैं? यदि कहो, कि थोड़ा कुछ पुण्य होगा, इस पर कहते हैं कि एक तो इसका शरीर अवधूत सा है, यदि इसने थोड़ा भी धर्म किया हो तो प्रथम धर्म के फल रूप उत्तम शरीर की प्राप्ति होती। पाप कार्य फलरूप मैल से भरे अङ्ग न होते। यह तो अवधूत है, जो इसने कोई पुण्यधर्म किया हो, तो उसके फल में देह प्राप्त हो जाने के बाद इसको उत्तम अन्न की प्राप्ति होनी चाहिए। वह भी इसके पास नहीं है, अतः भिखारी है और यदि इसने धर्म दानादि किया हो, तो इसकी देह में विशेष कान्ति होनी चाहिए, यह तो शोभा से हीन है और इसने लौकिक सम्पत्ति भी गँवा दी है, फिर जो इसने पुण्य कर्म किया है, तो लोक में इसकी कीर्ति होनी चाहिए, इसको तो लोक सब निन्द रहे हैं, जैसे यह लोक वैसे परलोक भी समझना चाहिए यों सूचित किया, यदि इसने धर्म किया हो, तो उसका फल धन, इसके पास होना चाहिए, यह तो निर्धन अर्थात् दरिद्र है, किसी पुस्तक में 'अधम' यों पाठ है तब संस्कार सामग्री के अभाव के कारण यों कहा है, 'च' पद से दूसरे भी लक्षण आदि ग्रहण किए हैं ॥ २५ ॥

आभास—ननु किमस्य जातं येनैतावदुच्यत इति इति तत्राह **योसा**विति ।

आभासार्थ—तो, इसका कौन सा कर्म था जिससे इतना कहा जाता है इस पर 'योसौ' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**योसौ त्रैलोक्यगुरुणा श्रीनिवासेन संभृत ।**
पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोग्रजो यथा ॥२६॥

श्लोकार्थ—त्रिलोकी के गुरु, लक्ष्मी के निवास स्थान, भगवान् ने पलँग पर लक्ष्मी को छोड़कर, ज्येष्ठ भाई के समान मिलकर इसका जो आदर किया, सो इसने ऐसा कौनसा पुण्य किया है? ॥२६॥

सुबोधिनी—**त्रैलोक्यगुरुणा**। भगवान् हि लोकशिक्षार्थं कर्माणि करोति। लोके यद्येताद्दृशेनापि सख्यं बोधयेत् तदा नीचैरपि लोकाः सख्यं कुर्युः। किंच। भगवान् **श्रीनिवासः** यदि पुण्यरहितोऽपि लक्ष्म्या संयुज्येत तदा कोपि दरिद्रो न भवेत्। एताद्दृशेन **संभृत** इति किंचित्पुण्यमस्तीति ज्ञायते। किंच। धर्मसमये चेदयमागच्छेत्तदा धर्मार्थं करोतीति ज्ञायते। अयं तु कामसमये समागतः तमपि परित्यज्य **परिष्वक्त**श्चेत्तदा महानस्य धर्मोऽस्तीति ज्ञायते काम्यश्च परमकाष्ठापन्नः। किंच। महता आदरेण **परिष्वक्तः**। अनेनान्तरोपि भावोस्मिन्वर्णितः। तं भावं निरूपयितुं दृष्टान्तमाह **अग्रजो** बलभद्रो **यथे**ति। कदाचिद्देशान्तराद्बलभद्रः समागच्छेत्तदा भगवानेवमादरं करोतीत्यर्थः। पूजात्वधिका ॥२६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् त्रैलोक्य के गुरु हैं, अतः आप सर्व कार्य, लोक को शिक्षा देने के लिए ही करते हैं। लोक में यदि अपने से निम्न कोटि के इस प्रकार के जीवों से भी भगवान् मित्रता करते

हैं, तो उसको देखकर मनुष्य भी अपने से जो निम्न कक्षा के हों उनसे भी सख्य करना सीख कर मित्रता करें। फिर भगवान् लक्ष्मी निवास हैं, यदि पुण्य रहित भी लक्ष्मीवान् हो जावे, तो कोई भी दरिद्र न रहे, इससे समझा जाता है, कि इसके कुछ पुण्य हैं, और धर्म के समय यदि यह आया है तो समझना चाहिए, धर्म के लिए करता है। किन्तु यह तो काम के समय आया है। उस काम विषयक कार्य को भी छोड़कर भगवान् इससे मिले। तब जाना जाता है, कि इसने कोई महान् धर्म कार्य किया है, अतः यह परम काष्ठा को प्राप्त होता हुवा (परब्रह्म) भी कामना से युक्त है, जो इससे साधारण रीति से नहीं किन्तु बहुत आदर से मिले, जिससे समझ में आता है, कि इसमें आन्तर भाव भी है, उस भाव को निरूपण करने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि किस प्रकार उससे मिले, बलरामजी कभी अन्य देश से आते हैं तब भगवान् महान् आदर से उनसे जैसे मिलते हैं, वैसे ही इससे भी मिले, बलभद्र की पूजा नहीं करते हैं इसकी तो पूजा भी की, यह फिर उससे विशेषता बताई ॥ २६ ॥

आभास—एवं कायिकमानसिकसंतोषजननमुक्त्वा वाचिकसंतोषजननमाह **कथयांचक्रतु**रिति ।

आभासार्थ—इसी तरह काया और मन से सन्तोष पैदा करना कहकर अब वाणी से संतोष उत्पन्न करने के लिए 'कथयांचक्रतुः' श्लोक कहते है—

श्लोक—**कथयांचक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।**
आत्मनो ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! भगवान् और सुदामा परस्पर हस्त से हस्त मिलाकर, जब गुरुकुल में थे उस समय की सुन्दर कथाएँ आपस में कहने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—गाथाः पूर्वकथानिबद्धाः श्लोकाः। याः **पूर्वं गुरुकुले सतोः** संबन्धिन्यः ताः **कथयांचक्रतुः** कथानिमित्तं वा स्मृत्वा कथयामासतुः। ता **आत्मनो ललिताः** स्वस्यैव प्रियजनिकाः। **राजन्निति** सावधानार्थम्। **परस्परं करौ** गृहीत्वेति तुल्यतामापाद्य ये श्लोकाः या वा श्रुतयः ताः परस्परसंतोषार्थं प्रथमं पठितवन्तः ततो भगवानाह। समुदायानुवादो वा ॥२७॥

व्याख्यार्थ—'गाथाः' का आशय है कि पहली कथा के बने हुए श्लोक जो कार्य गुरुकुल में रह कर किए थे, उसके सम्बन्धवाली कहानियाँ, उनको कहने लगे, अथवा कथा का कारण याद कर कहने लगे, वे कथाएँ अपने को आनन्द देने वाली थीं, हे राजन् ! यह सावधान होने के लिए सम्बोधन दिया है, आपस में हाथ हाथ से मिलाकर अपनी समता सिद्ध कर जो श्लोक अथवा श्रुतियाँ थीं वे परस्पर सन्तोष पैदा करने के पहले कहने लगे। अब भगवान् कहते हैं, अथवा समुदाय का अनुवाद है ॥ २७ ॥

आभास— तत्र प्रथमं भगवद्वाक्यानि षोडशभिराह **अपि ब्रह्मन्निति** वाक्यैः । तस्य

संपत्त्यभावोपि स्थिरीक्रियते । अन्यथा वर्णनार्थमेव तथा वर्णितः स्यात् । तत्र प्रथमं वियोगावधि यज्ञातं तत्पृच्छति **अपी**ति त्रिभिः—

आभासार्थ—पहले 'अपि ब्रह्मन्' श्लोक से १६ श्लोकों से भगवान् के वाक्य कहते हैं, उसके पास सम्पत्ति नहीं है, यह भी स्थिर करते हैं, नहीं तो वर्णनार्थ ही वैसे वर्णित होगा, उसमें पहले वियोग की अवधि में जो कुछ हुआ वह भगवान् पूछते हैं 'अपि' से तीन श्लोकों में—

श्लोक—श्री भगवानुवाच—**अपि ब्रह्मन्गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ।**
समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! तुमने गुरुकुल में से गुरुदक्षिणा देकर घर लौट आने के बाद, अपने योग्य **स्त्री** से विवाह किया है कि नहीं ? हे धर्मज्ञ प्रथम यह बात बताओ ॥२८॥

सुबोधिनी—विद्यासमाप्तिस्तदैव जाता तदनु नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा समावर्तनेन विवाहो वा कृत इति वक्तव्यं तदर्थं पृच्छति । **ब्रह्मन्नि**ति संबोधनात् विद्यासिद्धिः सूचिता । **गुरुकुलात्** ब्रह्मचर्यं गुरुकुले अदृष्टार्थमपि स्थित्या भवति । गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यमिति ज्ञापयितुं **कुल**पदम् । 'गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया' इति स्नानाख्यं समावर्तनं दक्षिणादानानन्तरं भवति । तदनन्तरं **च** 'चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्' इति तदनन्तरं विवाहः । तत्राह **गुरुकुलाल्लब्धदक्षिणात्समावृत्तेन** । तदनन्तरं समावर्तनसंस्कारेण संस्कृतेन । हे **धर्मज्ञ** धर्मरहस्याभिज्ञ । **सदृशी** स्वस्य सर्वतः समा **भार्या ऊढा न वा** । ॥२८॥

व्याख्यार्थ—जब गुरुदक्षिणा दे समावर्त्तन संस्कार कर घर लौटे, तब ही विद्या का पठन पूर्ण हो गया, उसके बाद, तुमने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण किया अथवा विवाह किया ? इसके लिए पूछते हैं, कि, हे ब्रह्मन्! इस सम्बोधन से विद्या की सिद्धि हुई यह सूचित करते हैं ।

'गुरुकुलात्' पद का भावार्थ बताते हैं, कि गुरुकुल में स्थिति करने से अदृष्ट के लिए भी ब्रह्मचर्य होता है, केवल गुरु पद न देकर गुरुकुल कहा, इसलिए 'कुल' पद कहने का आशय स्पष्ट करते हैं, कि गुरुजी आश्रम में नहीं बाहर गए हों तो, उस समय भी, उनकी (गुरु की) पत्नी, पुत्र वा गोत्र वाले ब्रह्मचर्य पालन कराते हैं, 'गुरवे तु वरं दत्वा स्नायीत तदनुज्ञया, अर्थात् गुरुजी को दक्षिणा देकर, उनकी आज्ञा से ब्रह्मचारी स्नान करे' स्नान का आशय है समावर्तन संस्कार, यह संस्कार गुरु को दक्षिणा देने के बाद होता है' उसके पश्चात क्या करे ? 'चतुर्थ मायुषोभागमुषित्वाद्यं गुरौ-द्विजः द्वितीयमायुषोभागं कृतदारो गृहे वसेत्' इस वचनानुसार द्विज आयु का पहला चौथा भाग गुरु के पास ब्रह्मचर्य रह विद्याभ्यास करे, उसके बाद समावर्त्तन कर दूसरा चौथा भाग गृहस्थाश्रम पालन करे अतः हे धर्मज्ञ ! धर्म के रहस्य को जानने वाले, बताइए कि आपने सर्व प्रकार अपने योग्य भार्या से विवाह किया वा नहीं ॥ २८ ॥

आभास—ऊढेति तस्य भावं स्वीकृत्य रागविद्वेषयोर्विवाह इति निन्दायां प्राप्तायां तन्निषेधार्थमाह **प्रायो गृहेष्विति** ।

आभासार्थ—'ऊढा' इस पद का भाव स्वीकार कर कहते हैं, कि राग और उससे विशेष द्वेष वाले इन दोनों का विवाह ? इस प्रकार विवाह की निन्दा प्राप्त होने पर उसके निषेध के लिए 'प्रायो गृहेषु' श्लोक में करते हैं कि—

श्लोक—**प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा ।**
नैवातिप्रीयते विद्वन्धनेषु विदितं हि मे ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे विद्वान ! मैं अनुमान से समझता हूँ कि, घर में भी बहुत करके आपका चित्त विषयों में, लम्पट नही होता होगा, धन आदि में भी अधिक रुचि न होगी, विद्वानों को ऐसा ही होना चाहिए ॥२६॥

सुबोधिनी—ते चित्तं गृहेषु कामविहतं प्रायेण न भवति । अन्यथा कथं परिग्रह इति विशेषमाह **तथेति** । यथा लोकानां तथा कामैर्न हतमित्यर्थः। अत एव **गृहेषु नैवातिप्रीयते** अतिप्रीतियुक्तं चित्तं न भवति । तत्र हेतुं संबोधनेनाह **हे विद्वन्निति** । ज्ञानोदयाच्छरीराध्यासाभावात् तत्प्रीतिकरे गृहे न प्रीतिः । ननु धनाभावादपि गृहे पुरुषो न प्रीयते 'अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च, इति वाक्यात्तत्राह **धनेष्विति** । तव चित्तं नाना-प्रकारधनेष्वपि न प्रीयते गोभूहिरण्यादिभेदेन धनं बहुविधं तथा गृहा अपि स्त्रीभेदेन विलास-भेदेन च । अत्र प्रमाणमाह **विदितं हि म** इति । युक्तश्चायमर्थः । यो हि महापुरुषः स एतादृश एव भवेदिति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—अधिकतर तुम्हारा चित्त गृहों में कामनाओं से दबा हुआ नहीं है, अन्यथा परि-ग्रह कैसे ? इसलिए विशेष कहते हैं, कि जैसे लोगों का चित्त कामनाओं से दबा है, वैसे तुम्हारा नहीं है, इस कारण से ही, तुम्हारा चित्त गृहों में विशेष प्रीति वाला नहीं है, क्योंकि, तुम विद्वान हो इस-लिए ही, 'विद्वन्' यह संबोधन दिया है, ज्ञान के उदय हो जाने से शरीर से अध्यास (एक का गुण या दोष दूसरे में बता देना) छूट जाता है, अध्यास के कारण, प्रीति कर गृह में तुम्हारी प्रीति नहीं होती हैं, क्योंकि ज्ञानी होने से तुम में अध्यास का अभाव है । ज्ञान के सिवाय धनाभाव से भी पुरुष का गृह में प्रेम नहीं होता है । जैसे कि कहा है 'अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च' धनहीन और मरे हुए में कोई भेद नहीं है, अर्थात्, दुनियाँ में दरिद्र भी मरे के समान समझा जाता है । 'धनेषु' बहुवचन का आशय है कि धन अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे कि गौ, पृथ्वी और सुवर्ण आदि, वै 'गृहा' बहुवचन इसलिए कहा है, कि, स्त्री भेद तथा विलास भेद से अनेक हैं, इसमें प्रमाण देते हैं कि 'विदितंहि में' मैंने जान लिया है यों, यह अर्थ उचित है, जो महान् पुरुष होता है वह इसी प्रकार का ही होता है ॥ २६ ॥

आभास—ननु विरक्तस्य संन्यास एवाधिकारः 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुतेः । अतः कथं विवाह इति चेत्तत्राह **केचित्कुर्वन्ति कर्माणीति** ।

आभासार्थ—जो विरक्त है, उसे तो सन्यास का अधिकार है, जैसे कि कहा है, यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' जिसको जिस दिन संसार से वैराग्य होवे, वह उसी दिन सन्यासी हो जावे, अतः कैसे विवाह ? यदि यों कहते हो तो 'केचित्कुर्वन्ति' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—**केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।**
त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसंग्रहम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—कामनाओं से जिनका चित्त हट गया है, वैसे कितने ही पुरुष, दैवी प्रकृतियों को छोड़कर, लोक संग्रह के लिए मेरी तरह अनासक्त हो कर्म करते हैं ।३०।

सुबोधिनी—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इति । 'इन्धानास्त्वा शतं हिमाः' इति च श्रुतेः । यावज्जीवं कर्म कर्तव्यं अत एव अग्निहोत्रादौ यावज्जीवाधिकारः । तत्र विरक्ताविरक्तभेदेन परित्यागकर्मणां व्यवस्थां मन्यमानान् प्रति भगवान् प्रकारान्तरेण व्यवस्थामाह । एके तु यथा त्वयोक्तास्तथैव व्यवस्थापयन्ति । **केचित्तु कामैरहतचेतसो**ऽपि निष्कामा अपि **कर्माण्येव कुर्वन्ति** । ननु कषायपक्तिः कर्माणीति कर्मणां न साक्षात्पुरुषार्थसाधकत्वम् । किन्त्वन्तःकरणशोधकत्वमेव । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येस्य हृदि श्रिताः' इति कामाभावे मोक्षः संनिहित इति कर्मणां क्वोपयोग इति चेत्तत्राह **त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीरिति** । स्वभावविजयार्थं कर्मणां करणं, स्वभावो हि दुर्जयः । अत एव भगवानाह 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' इति । ताश्च प्रकृतयः स्वभावरूपाः देशकालबीजयोन्यादिभेदेनानेकविधा भवन्ति । ताश्चेत्पुरुषं त्यजन्ति तदा मूलप्रकृतिमपि त्यक्त्वा स्वस्थो भवति । तदभावे कामोऽप्रयोजकः कामाभावेऽपि संसारस्य निरूपितत्वात् । ननु ताः प्रकारेणैव जेतव्याः । तत्र कर्मणां किं प्रयोजनं तत्राह **दैवीरिति** । ता देवतारूपाः अतो वैदिककर्मभिरेव तासां निवृत्तिरिति कर्मकरणम् । ननु कषायपाकार्थमेव कर्मणां विनियोगः श्रूयते स्वर्गाद्यर्थं वा । न तु स्वभावजयार्थं ततश्च केवलयुक्त्या तदर्थं कर्मकरणमिति चेत् तत्राह **यथाहं लोकसंग्रहमिति** । अहं च कर्माणि करोमि लोकसंग्रहार्थं तत्र युक्तिरेव मूलं 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' इति न चैवं क्वचिदपि वाक्यमस्ति लोकसंग्रहार्थमीश्वरेण कर्तव्यानीति । तस्मात्फलनिर्णयः युक्त्यापि भवतीत्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—'कुर्वन्नेवेह[1] कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इति 'इन्धानास्त्वा शतं हिमाः' इन श्रुतियों के अनुसार जब तक जीवित हो, तब तक कर्म करता ही रहे, इस कारण से ही, जीवन पर्यन्त अग्नि होत्र करने की आज्ञा है उसमें, विरक्त और अविरक्त पुरुषों के भेद से, कर्मों के परित्याग की व्यवस्था मानने वालों को, भगवान् अन्य प्रकार से व्यवस्था बताते हैं ।

१– कितने तो जैसे तुमने कहा वैसे ही व्यवस्था करते हैं ।

२– कोई निष्काम होते हुए भी कर्म करते हैं ।

१– इस लोक में कर्म करते हुए शतवर्ष जीना चाहे,

३– तीसरे कहते हैं, कि 'कषायपक्तिः कर्माणि' वाक्य से कर्म साक्षात् पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले नहीं है, किन्तु केवल अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं जैसा कि कहा है 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा-येऽस्य हृदिश्रिताः'. अर्थात् जो कामनाएँ इसके हृदय में स्थित हैं वे सब, जब छोड़ी जाती हैं, तब मोक्ष रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इसलिए कर्मों का उपयोग कहा है ? इस पर कहते हैं, कि 'त्यजन्तः प्रकृती दैवीः' स्वभाव को जीतने के लिए कर्मों को करना चाहिए, किन्तु स्वभाव को जीतना दुर्लभ है, अतएव भगवान् कहते हैं, कि 'प्रकृतिंयान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति' भूतमात्र प्रकृति के अनुसार कर्म करते हैं उसके रोकने से क्या होगा ? वे स्वभावरूप प्रकृतियाँ देश, काल, बीज और योनि आदि भेद से अनेक प्रकार की हैं, वे यदि पुरुष को छोड़ती हैं तब पुरुष मूल प्रकृति को भी छोड़कर स्वस्थ होता है। यदि वह नहीं है, तो काम अप्रयोजक है, क्योंकि, काम के अभाव होते हुए भी संसार का निरूपण होने से, वे प्रकार से ही जीतने योग्य हैं ? उसमें कर्मों का क्या प्रयोजन हैं ? इस पर कहते हैं कि वे प्रकृतियां देवता रूप है, उनकी निवृत्ति वैदिक कर्मों के करने से ही होती है, इसलिए कर्म करने चाहिए, कषायों + के पाक के लिए ही कर्म विनियोग कहा है यों सुना जाता है अथवा स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए कर्म करने चाहिए, न कि स्वभाव को जीतने के लिए इस कारण से केवल युक्ति से उसके लिए करना चाहिए यदि यों कहते हो तो कहते हैं,'यथाहं लोक संग्रहम्' जैसे मैं लोक संग्रह के लिए कर्म करता हूँ, उसमें युक्ति ही मूल है, वह युक्ति है कि 'मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते' मेरे बताए हुए मार्ग पर सत्पुरुष चलते हैं। यह वाक्य कहीं भी नहीं है, कि ईश्वर को कर्म करने चाहिए, इसी कारण से फल का निर्णय, युक्ति से भी होता है, यों अर्थ है ।। ३० ।।

आभास—एवं स्वतो ज्ञातमप्यर्थं प्रश्नव्याजेन विरक्ततया गृहाश्रमे तिष्ठतीति कृत-मुक्त्वा तथा करणस्य प्रयोजनं स्वभावाद्वासनया केवलं कृतवानिति श्रुतेपि दोषे 'नानुभूय न जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्' इति मनःप्रत्ययजननार्थं विवाहं कृतवान् । यत इच्छा निवर्तते तत इच्छायामपि निवृत्तायां गले पतिता भार्येति उपहसन्निव कृतमभिनन्द्य तेन सह सख्यं स्मारयितुं गुरुकुलवासं बोधयति **कच्चिद्गुरुकुले वास**मिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार विषय को जानते हुए भी, प्रश्न के मिष से विरक्त भाव से, गृहाश्रम में रहता है, यों उसका कृत्यकर्म कहकर, यों करने का प्रयोजन कहते हैं, दोषों को सुनकर स्वभाव से वा केवल वासना से गृहस्थ किया है, कारण कि, 'नानुभूयन जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्' मनुष्य अनुभव किए बिना विषयों की तीक्ष्णता को पहचान नहीं सकता हैं, इसलिए मन को विषयों में तीक्ष्णता है ऐसा विश्वास दिलाने के लिए ही विवाह किया है, जिससे फिर इच्छा कामना निवृत्त हो जाती है, इच्छा तो निवृत्त हो गई, किन्तु भार्या गले में पड़ गई ऐसे हास्य करते हुए, जो किया उसका अभिनन्दन कर, उसके साथ मित्रता का स्मरण कराने के लिए निम्न श्लोक कहने लगे—

+ यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तंभयति, कण्ठं बाध्नाति, हृदयं कषति पीडयति

श्लोक—कच्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन्स्मरसि नौ यतः ।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥३१॥
स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह संभवः ।
आद्योऽयं यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! हम दोनों गुरुकुल में साथ रहते थे, यह तुमको याद है ? द्विज गुरुकुल में निवास कर जो जानने के योग्य वस्तु है, उसको जानकर, अज्ञान को पार कर जाता है ॥३१॥

मनुष्य के इस जगत् में तीन गुरु हैं—एक गुरु जन्म देने वाला पिता है उपनयन संस्कार कराके जिस विद्या से सत्कर्म हो सके उस विद्या को पढ़ाने वाला दूसरा गुरु है, तीसरा गुरु वह है जो ब्रह्म विद्या का दान देता है, जिस तरह मैं सबको ज्ञान देने वाला गुरु हूँ, गुरु की भक्ति का पर्यवसान (अन्त) अनुभव में होने से स्वतुल्यता (अपने बराबर) है । अतः सर्व पूज्य हूँ ॥३२॥

सुबोधिनी—आदौ गुरुकुलवासस्य प्रशंसा निरूप्यते । सफलत्वेन महत्त्वे स्मरणं भवति । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं तत्प्रसादादेव जातमिति बोधयति । **नौ** आवयोः **गुरुकुले वासं** किं **स्मरसि** । अनेन बाह्याभ्यन्तरभेदेन यत्किंचिदनुभूतं गुरुकुले तत्स्मरणेन कृतार्थता भवतीति ज्ञापितम् । गुरुकुलस्य प्रतिष्ठामाह **द्विजो विज्ञाय विज्ञेयमिति** । विज्ञेयमात्मानं प्रमाणं च विज्ञाय ज्ञात्वा, **तमसः पारं** भगवन्तमश्नुते । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इति श्रुतेः । किंच गुरुकुलवासो द्विजन्मनां द्वितीयं जन्म तच्च **साक्षात्कर्मणां** संबन्धि सम्यक् भवो यत्रेति । तत एव कर्माण्युत्पद्यन्ते । 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिॠणवान् जायते' इति श्रुतेः । किंच । **यत्राश्रमिणामाद्यो** भवति गुरुकुले स्थितो ब्रह्मचारी भवति, आश्रमाः पुरुषार्थसाधकाः तेषामाद्योऽयं तदभावे कोप्याश्रमो न भवेदिति । साधनसाधकत्वेन गुरोरुपयोगमुक्त्वा साक्षाज्ज्ञानसाधकत्वेन पुरुषार्थोपयोगित्वमाह **यथाहं ज्ञानदो गुरुरिति** । गुरोः भक्तेरनभवपर्यवसायित्वात् स्वतुल्यता ॥३१-३२॥

व्याख्यार्थ—प्रथम गुरुकुल में निवास की बडाई का निरूपण करते हैं, वहां रहकर सफलता प्राप्त होने से महानता प्राप्त होती है, जिससे उसका सदैव स्मरण रहता है । हे ब्रह्मन् ! यह संबोधन देकर बताते हैं, कि ऐसी योग्यता तुम्हें गुरुकुल के निवास के प्रसाद से हुई है । हम दोनों गुरुकुल में निवास करते थे वह याद है ? यों कहने से यह बताया है, कि, बाहर और भीतर के भेद से जो कुछ भी गुरुकुल में अनुभव प्राप्त किया, उसके स्मरण करने से कृतार्थता होती है । गुरुकुल की बड़ाई कहते हैं,-वहां रहकर द्विज. जानने योग्य आत्मा को और प्रमाण को जानकर तम (अज्ञान) से परे जो सद्वस्तु (भगवान्) हैं उसका आनन्द लेता है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है 'आदित्य वर्ण तमसः परस्तात्' तम से परे आदित्य वर्ण वाले को और विशेष गुरुकुल में निवास, द्विजातियों का

दूसरा जन्म है, वह जन्म साक्षात् कर्मों का सम्बन्धी है। जहां जन्म श्रेष्ठ हो जाता है, वहां से कर्म उत्पन्न होते हैं, अर्थात् वैदिक कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है। श्रुति कहती है, ब्राह्मण जन्मते ही तीन प्रकार ऋणी होता है, किञ्च आश्रमियों में आद्य आश्रमी गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी होता है, आश्रम ही पुरुषार्थों के साधक हैं, उनमें से पहला यह है, यदि यह सिद्ध न हुआ, तो दूसरा कोई भी गृहस्थादि आश्रम सिद्ध न होगा साधन और साधकपन से गुरु का उपयोग कह कर, साक्षात्, ज्ञान साधकपन से पुरुषार्थ के उपयोगीपन कहते हैं कि 'यथा हं ज्ञान दो गुरुः' जिस तरह मैं ज्ञान देने वाला गुरु हूँ ? भक्ति अनुभव की पराकाष्ठा होने से गुरु की अपने से समानता कही है ॥ ३२ ॥

आभास—ननूभयोः कथं कारणत्वमनुगमादित्याशङ्क्याह **नन्वर्थकोविदा** इति ।

आभासार्थ—दोनों का कारणपन कैसे होगा ? इस शङ्का के उत्तर में नन्वर्थ श्लोक कहते है-

श्लोक—**नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।**
ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! इस मनुष्य जन्म में वर्णाश्रम पालन करने वाले पुरुषों में से वही उत्तम हैं अर्थात् तत्त्व को जानने वाले हैं, जो मेरे ही रूप गुरु की वाणी से इस संसार रूप सागर को शीघ्र तर जाते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—**अर्थे** पुरुषार्थे ये **कोविदाः** पण्डिताः शीघ्रं पुरुषार्थसिद्धिर्भवत्विति विचारयन्ति ते तथैव । **ये मया गुरुणा वाचा** वाङ्मात्रेणैव **अञ्जः** अनायासेन **भवार्णवं तरन्ति** तरिष्याम इति निश्चित्य गुरुमेव भजन्ते त एव **अर्थकोविदा** इत्यर्थः । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं संमत्यर्थम् । साधनान्तरव्युदासार्थमाह **वर्णाश्रमवतामिहे**ति । अनेन वर्णधर्मा आश्रमधर्माश्च न साधका इत्युक्तं भवति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—पुरुषार्थ की सिद्धि शीघ्र होवे, ऐसा जो विचारते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करने में पण्डित हैं। जो मेरे ही रूप गुरु की वाणी से अर्थात् उपदेश से, बिना श्रम के हम शीघ्र पार पहुंचेंगे, यों निश्चय कर गुरु की ही सेवा करते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करने में पण्डित हैं, हे ब्रह्मन् ! यह संबोधन संमति के लिए है, दूसरा कोई साधन नहीं है यह बताने के लिए कहा है, कि वर्ण धर्म और आश्रम धर्म पुरुषार्थ के साधक नहीं हैं ॥ ३३ ॥

आभास—एवं प्रसङ्गात् ये केचन संसारतरणोपायाः गुरुसेवातिरिक्ताः तान् निषेद्धुं गार्हस्थ्यवानप्रस्थसंन्यासानां मुख्यधर्माणां मत्प्रीतिहेतुत्वं नास्तीत्याह **नाहमिज्याप्रजातिभ्यामि**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जो कोई बिना गुरु सेवा के संसार तरण के उपाय समझे जाते हैं, वे

उपाय वास्तविक नहीं हैं, अतः उनके निषेध करने के लिए कहते हैं, कि गार्हस्थ्य वानप्रस्थ अथवा सन्यास ये जो मुख्य धर्म माने जाते हैं वे मेरे प्रीति के हेतु नहीं है, यह निम्न श्लोक में स्पष्ट कहते हैं—

श्लोक—**नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।**
तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ।।३४।।

श्लोकार्थ—सर्वभूतों की आत्मा, मैं, जैसा गुरु सेवा से प्रसन्न होता हूँ, वैसा यज्ञ, संतति उत्पन्न करने, तपसे और संन्यासी हो जाने से सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ।।३४।।

सुबोधिनी—इज्या यागः, **प्रजातिः** संततिः, उभयं गार्हस्थ्यधर्मः ऋणापाकरणरूपः । **तपः** वनस्थस्य, **उपशमः** परमहंसस्य । एवं त्रिभिरपि **अहं न तुष्येयम्** । तत्र हेतुः **सर्वभूतात्मेति** । सर्वभूतेषु आत्मा यस्य । यागेन जीवानां नाशः, प्रजात्या उत्पत्तिः, तेनोत्पत्तिप्रलयौ कुर्वन्मम संतोषं न जनयति । उत्पादनेनापि जीवः क्लिष्टो भवतीति । **तपसा** शरीरक्लेशः । **उपशमेन** देहेन्द्रियादीनामतःक्लेशकरत्वान्मम न संतोषः । गुरुशुश्रूषायां तु स्नेहसेवया सेवकस्यानन्दः गुरोश्चेति । अतोऽहं तुष्येयम् । वेदाध्ययनस्यैव ऋणापाकरणरूपत्वात्सेवा अधिकैव । यद्यप्यङ्गभावेनैव सेवाया विनियोगः तथापि भक्त्या कृतः मत्प्रीतिहेतुरपि भवति संयोगपृथक्त्वन्यायेन।३४।

व्याख्यार्थ—'इज्या' यज्ञ 'प्रजातिः' सन्तान, ये दोनों ऋण उतारने के लिए हैं । गार्हस्थ्य धर्म के अङ्ग हैं, वानप्रस्थ तपरूप है, इन्द्रियों का दमन सन्यास धर्म है । इन तीनों से मैं प्रसन्न नहीं होता हूं, कारण कि सर्वभूतों में मेरी आत्मा है । यज्ञ से जीवों का नाश होता है । सन्तान की उत्पत्ति, इससे भी मुझे हर्ष नहीं हैं, क्योंकि उत्पत्ति और प्रलय करते हुए मुझे सन्तोष पैदा नहीं करते हैं । उसमें कारण यह है, कि उत्पादन से जीव को क्लेश होता है, तपस्या से शरीर को क्लेश होता है दमन से देह इन्द्रियादिकों को क्लेश होता है अतः मुझे उससे भी संतोष नहीं है । गुरु की सेवा तो प्रेम से होती है, जिससे सेवक और गुरु दोनों को आनन्द प्राप्त होता है, अतः मैं उससे प्रसन्न होता हूँ । वेदों का अध्ययन, ऋषि-ऋण उतारने के लिए है इसलिए सेवा अधिक ही है, यद्यपि उनका भी सेवा के अङ्ग रूप से ही विनियोग है, तो भी प्रेम से किया हुआ ही संयोग पृथक्त्व न्याय से मेरी प्रीति का भी हेतु होता है ।।३४।।

आभास—एवं गुरुकुलावासं स्तुत्वा तं स्मारयित्वा आवयोर्वासः सेवार्थं परमक्लेशं संपादितवानिति सेवाविशेषं स्मारयति **अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन्निति** नवभिः ।

आभासार्थ—इसी तरह गुरुकुल निवास की स्तुति कर, उसकी याद दिलाके वहां अपना निवास सेवार्थ परम क्लेशवाला हुआ था,यों विशेष सेवा का स्मरण निम्न श्लोक से कराते हैं—

श्लोक—**अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।**
गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने क्वचित् ।।३५।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! हम लोग जब गुरु के पास रहते थे, तब गुरु की स्त्री ने हमको लकड़ी लाने के लिए वन में भेजा था, वहाँ जो कुछ हुआ क्या वह आपको याद है ? ।।३५।।

सुबोधिनी—त्रिगुणकार्यमेतदिति **नोऽस्माकं** संबन्धि वक्ष्यमाणं **स्मर्यते । अपी**ति संभावनायाम् । **ब्रह्मन्नि**त्यनसूयार्थम् । **गुरौ निवसतां** व्रतस्थानां गुरुवाक्यवत् गुरुपुत्रगुरुपत्नीवाक्यमपि कर्तव्यमिति । अत एव **गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने** अरण्यादिन्धनमानीयतामिति । **क्वचि**त्कदाचिद्विषमसमये ।।३५।।

व्याख्यार्थ—यह त्रिगुण का कार्य है, यों जो, मैं कहने वाला हूं वह अपने से सम्बन्ध रखने वाला कार्य है । क्या उसका स्मरण है ? 'अपि' शब्द संभावना के अर्थ में दिया है, हे ब्रह्मन् ! यह पद असूया के अभाव में कहा है, अर्थात् आप में ईर्ष्या नहीं है, गुरु के पास रहने वाले ब्रह्मचर्य व्रत करने वालों को गुरु की आज्ञा समान, गुरुपत्नी और गुरुपुत्र की आज्ञा माननी चाहिए, अतएव गुरुपत्नी ने आज्ञा दी, कि वन से लकड़ियाँ ले आओ, 'क्वचित्' पद का तात्पर्य है कि कदाचित् वह समय विषम (भीषण) था ।। ३५ ।।

श्लोक—**प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद्द्विज ।**
वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ।।३६।।

श्लोकार्थ—हे द्विज ! लकड़ी लेने के लिए हम वन में घुसे, उस समय वर्षा ऋतु भी नहीं थी, किन्तु तीव्र वायु के साथ वर्षा होने लगी और बड़ी गर्जना होने लगी ।।३६।।

सुबोधिनी—तत उत्कृष्टेन्धनार्थं **महारण्यं प्रविष्टानां अपर्तौ** वर्षातिरिक्तकाले शिशिरे । **द्विजे**ति संबोधनं जन्मभूमिः सेति ज्ञापनार्थम् । **सुमहद्वातवर्षमभूत् निष्ठुराश्च स्तनयित्नवः** गर्जितानि । नैष्ठुर्यं कर्णासह्यत्वम् ।।३६।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् तोड़कर लकड़ी लाने के लिए गहन बन में हम घुसे, वहां उस समय, शिशिर ऋतु थी, तो भी जबर्दस्त वायु के साथ भारी वर्षा होने लगी और निठुर बादल गर्जने लगे, निठुर का भावार्थ है कि उनकी ध्वनि कर्णों को असह्य थी, हे द्विज ! यह संबोधन, यह जन्मभूमि है इसका ज्ञान कराने के लिए दिया है ।। ३६ है

श्लोक—**सूर्यश्चास्तंगतस्तावत्तमसा चावृता दिशः ।**
निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन ।।३७।।

श्लोकार्थ—इतने में सूर्य अस्त हो गया, दिशा अन्धकार से पूर्ण हो गई, नदी के

किनारे तक जल भर गया, कुछ भी जान नहीं सकते थे कि नदी है या पृथ्वी है ।।३७।।

सुबोधिनी—एतस्मिन्नन्तरे **सूर्यश्चास्तंगतः तमसा दिशश्चावृताः** । तथापि कथं नागतमित्या-काङ्क्षायामाह **निम्नं कूलं जलमयमिति** । नद्याः कूलं सर्वमेव जलमयं, कियतो नदी कियती भूमिरिति ज्ञातुमशक्यम् । ततः क्षिप्रोत्तरणार्थं **न प्राज्ञायत** कमप्युपायं न ज्ञातवन्तः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—इतने में ही सूर्य अस्त हो गया, दिशाओं में अन्धेरा छा गया तो भी आये क्यों नहीं ? जिसका उत्तर है कि नदी का किनारा जलमय हो गया, अर्थात् भूमि और नदी सब एक हो गई, जल ही जल चारों तरफ सर्वत्र दीख पड़ता, भूमि कहां है नदी कहां है जान नहीं पड़ता था, क्षिप्रा को पार करने का कोई उपाय न रहा ।। ३७ ।।

आभास—ततस्तत्परपार एव रात्रौ स्थिता इति क्लेशस्थितिं स्मारयति **वयं भृशमिति** ।

आभासार्थ—इस कारण रात्रि को नदी के दूसरे (परले) पार ही रहे, इस प्रकार हुई क्लेश की स्थिति की याद 'वयं भृशं' श्लोक में दिलाते हैं—

श्लोक—**वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिर्निहन्यमाना मुहुरम्बुसंप्लवे ।**
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ।।३८।।

श्लोकार्थ—वहाँ तेज पवन और वर्षा से हम तीनों पीड़ित हुए थे, दिशाओं का पता न पड़ता था, बैठने का कोई स्थान नहीं रहा, तब आतुर हो, भूल न जाए, इस-लिए परस्पर हाथ पकड़ फिर रहे थे ।।३८।।

सुबोधिनी—वयं त्रयोपि तत्रैवारण्यप्रदेशे अत्यन्तं **महानिलाम्बुभिः** नितरां **हन्यमानाः** । उपवेशनार्थमपि भूमिर्नास्तीत्याह **अम्बुसंप्लव** इति । ततो **दिशोऽप्यविदन्तः** एवं जाते किं कर्त-व्यमिति विचार्य । **अथ** भिन्नप्रक्रमेण अतः परं गमनार्थं प्रयत्नो न कर्तव्यः किंतु कालक्षेप एवेति विचार्य अन्योन्यविश्लेषाभावाय **गृहीतहस्ताः** सन्तस्तस्मिन्**वने आतुरा** दीनाः क्षुधिताः सन्तः **परिबभ्रिम** इतस्ततो भ्रमणमेव कृतवन्तः ।३८।

व्याख्यार्थ—हम तीनों (हम दोनों और बलरामजी) ही उसी जंगल के प्रदेश में तेज वायु और वर्षा से पीड़ित हो रहे थे, बैठने के लिये कोई भूमि नहीं थी, सर्वत्र जल ही जल पड़ा था, दिशाओं को भी पहचान नहीं सकते थे ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए यह विचार कर, निश्चय किया कि कहीं भी जाने का यत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु कैसे ही समय बिताना चाहिए, आपस में साथ ही रहे अलग २ न हो जावें इसलिए एक दूसरे के हाथ पकड़ लिए बाद में उसी ही वन में, दीन और भूखे होते हुए भी, यहां वहां चक्कर ही काटने लगे अर्थात् फिरने लगे ।। ३८ ।।

आभास—तर्हि निर्दयो गुरुः कथं तत्र वासः कृत चेत्तत्राह **एतद्विदित्वेति** ।

आभासार्थ—तुम्हारी वहां ऐसी दशा हुई इससे जाना जाता है, कि 'गुरु' निर्दयी था, तो ऐसे गुरु के वहां वास कैसे किया ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक— **एतद्विदित्वाऽनुदिते रवौ सांदीपनिर्गुरुः ।**
अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥३९॥

श्लोकार्थ—जब गुरु को इस बात का पता लगा, तब सूर्योदय से पहले ही, हम शिष्यों को ढूंढने के लिये निकले, ढूंढ़ते ढूंढ़ते हमें काम्पते हुए देखा ।

सुबोधिनी—गुरोरपि हृदये अयमस्मत्क्लेशो भात एव अत **एवानुदित** एव **रवौ सांदीपनिर्गुरु**-गृहान्निर्गतः । **नः** **अस्मानन्वेषमाण** **आतुरान्** वेपमानानपश्यत् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—गुरु के हृदय में यह अपना क्लेश प्रकट हुआ ही, जिससे सूर्य के उदय से पूर्व ही सांदीपनि गुरु गृह से निकले, हमको ढूंढते २ आकर काम्पता हुआ देखा ।। ३९ ।।

आभास—ततो दया परमा तस्योत्पन्नेत्याह **अहो** इति ।

आभासार्थ—हमको इस दशा में देख गुरु को दया आई, यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।**
आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥४०॥

श्लोकार्थ—अहो ! हे पुत्रों ! मेरे लिए तुमने बहुत दुःख पाया है देहधारियों को सबसे प्रिय निश्चय से आत्मा है, उसका भी अनादर कर मेरी सेवा में लगे रहे ।४०।

सुबोधिनी—एतदर्थमेव भगवतैवैवं संपादितम् विद्या हि वैधन्यायेन गुरौ स्थिता अतिमथनात्प्रादुर्भुता शिष्ये समायाति । तत्र मथनस्थानीया परमा दया । **अहो** इत्याश्चर्यम् । **हे पुत्रका** इति दयया जातस्नेहात्संबोधनम् । **पुत्रकाः** पुत्रप्रायाः । अनेन भवतामेव गृहमिति स्वार्थमेवैतत् क्रियत इत्याश्वासनमप्युक्तम् । तेषां दुःखं निरुक्तं गच्छतीत्यनुवदति **अस्मदर्थेऽतिदुःखिता** इति । ननु व्रतं क्रियते कथं दुःखमिति चेत् तत्राह **आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठ** इति । 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीयः' इति न्यायेन शरीरव्रतयोर्विरोधे शरीरमेवादरणीयम् । तत्रापि स्नेह पात्रं विधिस्नेहयोः स्नेहो बलिष्ठ इति । एवं वैदिकलौकिकन्यायोल्लङ्घनमपि कृत्वा यतो **मत्परा** जाताः । तदाह **आत्मा** देहः **प्राणिनामति प्रेष्ठः** **तमनादृत्य मत्परा** जाता इति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—इसलिए ही, भगवान् ने ही यों किया है, क्योंकि विद्या "वैधन्याय" से गुरु में स्थित रहती है। वह अतिशय मथन करने से प्रकट होकर शिष्य में आती है। वहां मथन स्थानीया यह परम दया है, अर्थात् हमने जो इतना दुःख गुरु के कार्य के लिए सहन किया है, उसने गुरु के हृदय का मथन किया है, जिससे गुरु को हमारे लिए दया उत्पन्न हुई है। हे पुत्रकाः ! यह संबोधन, दया से उत्पन्न स्नेह के कारण दिया है, 'पुत्रकाः' यह पद पुत्र से समानता प्रकट करता है। इससे गुरु ने आश्वासन के लिए यों कहा, कि यह आश्रम आपका ही गृह है, अतः तुमने लकड़ी लेते हुए जो दुःख भोगा है, वह अपने स्वार्थ के कारण भोगा है, इसलिए उसकी चिन्ता नहीं करनी, गृह कार्य करते हुए दुःख भोगना ही पड़ता है। फिर गुरुजी उनका दुःख कम हो इसलिए फिर कहते हैं, कि तुम हमारे लिए बहुत दुःखी हुए हो, हम तो अपना व्रत पालते हैं, इसमें दुःख कैसे ? यदि यों कहो तो उसके उत्तर में कहा कि, प्राणियों को आत्मा ही सबसे प्रिय है, 'द्रव्यसंस्कार विरोधे द्रव्यं बलीयः' 'जहां द्रव्य और संस्कार का विरोध आवे, वहां द्रव्य बलवान है' शरीर और व्रत इनमें शरीर द्रव्य है, और व्रत संस्कार है अब यहां व्रत पालने से शरीर को कष्ट होता है, व्रत संस्कार होने से, त्यागकर शरीर की रक्षा करनी चाहिए। उसमें भी शरीर स्नेहपात्र है, व्रत विधि है, विधि और स्नेह में भी स्नेह बलिष्ठ है, तुमने वैदिक लौकिक न्याय का भी उल्लङ्घन कर मेरी सेवा ही की है, देह सबसे प्रिय होते हुए भी उसका अनादर कर मेरी सेवा में लगे रहे, देह की परवाह नहीं की ॥४०॥

आभास—तर्हि विरुद्धाचरणात् कथं भवान् प्रसन्न इत्याशङ्क्याह **इयदेव हीति**।

आभासार्थ—हमने वैदिक लौकिक न्याय का उल्लङ्घन कर विरुद्ध आचरण किया तो फिर आप कैसे प्रसन्न हुए ? इसका उत्तर 'इयदेव' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम्।**
यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मसमर्पणम् ॥४१॥

श्लोकार्थ – जिस देह से, सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं वह प्रिय देह और अर्थ, शुद्ध भाव से गुरु को अर्पण कर गुरु के प्रति उपकार करना, यह ही सत् शिष्यों का कर्त्तव्य है ॥४१॥

सुबोधिनी—सच्छिष्यैरलौकिकैः इयदेताव-देव। गुरुनिष्कृतं गुरोः प्रत्युपकारः। तदाह **यद्वि-शुद्धभावेन सर्वस्यार्थस्य आत्मनश्च समर्पणम्। वै** निश्चयेन ॥४१॥

व्याख्यार्थ—सत् शिष्य अर्थात् अलौकिक शिष्यों को इतना ही करना चाहिए कि विशुद्ध भाव से समस्त पुरुषार्थ और आत्मा को निश्चय पूर्वक गुरुचरणों में समर्पण करना यह ही गुरु के प्रति उपकार है ॥४१॥

श्लोक—**तुष्टोहं हे द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।**
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे द्विज श्रेष्ठों ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ इस लोक तथा परलोक में तुम्हारे मनोरथ सफल होवें और जो वेद पढ़े हैं वे भी निष्फल कभी भी न होवें ॥४२॥

सुबोधिनी—न तु केनचित् व्याजेन तद्भवद्भिः कृतमित्यहं तुष्टः यावच्छक्यं निष्कपटतया कृतमिति । संबोधनेनैव तोषफलमाह हे द्विजश्रेष्ठा इति । श्रैष्ठ्यं भवतु व्रतस्य सर्वोत्कर्षः संपद्यतामित्यर्थः । यदर्थं च व्रतं कृतं तद्दानमाह सत्याः सन्तु मनोरथा इति । पठितानां विद्यानां च अयातयामत्वमाह छन्दांस्ययातयामानीति ।

व्याख्यार्थ—तुमने यह जो सेवा की है, वह जितना बन सका उतनी सेवा की, किसी भी बहाने वा कपट से नहीं की है, इसलिये मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हुं, हे द्विजश्रेष्ठ ! संबोधन देकर अपनी प्रसन्नता का फल कहते हैं, इस व्रत के पूर्ण करने से तुम्हारा सर्व प्रकार श्रेष्ठ उत्कर्ष सिद्ध होगा, जिसके लिये व्रत पालन किया, उसका दान देते हैं कि तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हों तथा जो विद्याएँ पढ़ी हैं, वे कभी भी निष्फल न होवें, जिन अवसरों में वेद आदि पढ़ने से वेद विद्या निष्फल हो जाती है । (उसका स्पष्टीकरण आचार्य श्री ने निम्न कारिकाओं में किया है ।)

कारिका—**'आम्नायात्तु विनिर्मुक्ता अनध्याये तथा स्मृताः ।**
अयाज्ये योजिताश्चैव निषिद्धाय च पाठिताः ॥
फलार्थं योजिता दृष्टा यातयामा भवन्ति हि ।
अन्यथा ज्ञातरूपाश्च अन्यथार्थप्रबोधिताः ॥
अव्रतैः शूद्रसंकाशैः पातित्याद्याकुले स्थले ।
अधीताः सर्वथैवैते यातयामा भवन्ति हि' ॥

कारिकार्थ—जिन्होंने गुरु परम्परागत उपदेश छोड़ दिया है, अनध्याय के दिनों में पढ़ा है, यज्ञ कराने के योग्य नहीं उनको यज्ञ कराया है, जिन शूद्रादि को न पढ़ाना चाहिये उनको पढ़ाया है, फल[१] के लिये ही वेदों को देखा है, वेदों का जो ज्ञान रूप है उसको अन्यथा समझा है, अर्थ भी असत्य से समझाये हैं, नियम रहित शूद्र के समीप, जहाँ पतित आदि रहते हैं वैसे स्थल में पढ़ा है, उनका वेद पढ़ना निष्फल हो जाता है ॥१-२-३॥

१—पैसा कमाने के लिए वेद पाठ किया है

सुबोधनी—तेष्वपि समयेषु मत्प्रसादादयातयामा। **भवन्त्विति** वरः। इह परत्रेति परलोकार्थमिहलोकार्थं च स्वार्थं स्थापिताः परलोकार्थं भवन्ति। विनियुक्तास्त्वैहिकफलाः। भवतां तूभयत्रापि फलसाधका भवन्त्वित्यर्थः। चकारात्सर्वकर्मस्वपि ॥४२॥

मैं वर देता हूं कि तुम यदि ऐसे अवसरों पर पढ़ोगे तो भी तुम्हारी विद्या निष्फल न होगी, इस लोक में चाहे परलोक में भी यह वेद विद्या स्मरण ही रहेगी। यों तो पढ़ी हुई विद्याएँ इस लोक में फलदायिनी होती हैं, किन्तु तुम्हारी विद्याएँ दोनों लोकों में फलीभूत होगी। 'च' पद से यह बताया है कि यह विद्या सर्व कर्मों में भी सफल होगी ॥४२॥

आभास— इदमेकं फलसाधनरूपं चरित्रमुक्त्वा नैतदेवेत्याह **इत्थंविधान्यनेकानीति**।

आभासार्थ—यह एक फल का साधन रूप चरित्र कहकर अब कहते हैं कि यह एक ही ऐसा चरित्र नहीं है, किन्तु वैसे अनेक चरित्र हैं यह निम्न श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—**इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु।**
गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये ॥४३॥

श्लोकार्थ—गुरु के गृह में रहते हुए वैसी अनेक सेवाएँ की थीं वे तुम्हें याद तो होगी ? शिष्य गुरु की कृपा से ही पूर्ण होता है और शान्ति प्राप्त करता है ॥४३॥

सुबोधिनी - **गुरुवेश्मसु वसतां** भवन्ति। गुरुवासस्य नित्यत्वमाह **गुरोरनुग्रहेणैवेति**। न केवलं वासेन **पुमान् पूर्णो** भवति। सर्वार्थैः प्रशान्त एव भवति। स्वाभाविकाः कामादयः तदुत्पन्नैर्न शान्ता भवन्ति किंतु गुर्वनुग्रहेणैव भगवता कृतस्मरणेन वा। **प्रशान्तये पूर्णः** समर्थः। एवमुपाख्यानः सर्वे पुरुषार्थास्त्वया साधिता न वेति प्रश्नः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—गुरु के गृहों में रहते हुए क्या होता है वह बताते हैं, गुरु के यहां जो निवास किया जाता है, वह नित्य है क्योंकि गुरुजी के अनुग्रह से शिष्य, वहां वास करने से केवल पूर्णता प्राप्त नहीं करता है, किन्तु सर्व प्रकार शान्ति भी प्राप्त करता है, स्वाभाविक जो कामादिक उनसे उत्पन्न इच्छाएँ अन्य प्रकार शान्त नहीं होती हैं किन्तु गुरुजी के अनुग्रह से ही शान्त होती हैं अथवा भगवान् के स्मरण से शान्त होती हैं, यों दोनों से पूर्ण शान्ति के लिये समर्थ होता है, इस प्रकार उपाख्यान कहकर यह प्रश्न किया कि तुमने सर्व पुरुषार्थ सिद्ध किये वा नहीं ? ॥४३॥

आभास—तत्रोत्तरमाह **किमस्माभिर्न निर्वृत्तमिति**।

आभासार्थ—ब्राह्मण, भगवान् के प्रश्न का 'किमस्माभिर्न' श्लोक से उत्तर देता है—

श्लोक—ब्राह्मण उवाच—**किमस्माभिर्न निर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो।**
भवता सत्यकामेन येषां वासोऽभवद्गुरौ ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण ने कहा, हे देवदेव ! हे जगत् के गुरु ! सत्यकाम वालों आप के साथ, जिसका गुरुकुल में वास हुआ हो उसको शेष क्या करना रहेगा ? ।।४४।।

सुबोधिनी—को वा पुरुषार्थोऽस्माभिर्नोत्पादितः । परं विशेषोस्तीत्याह **भवता सह येषां गुरौ वासाऽभवदित्यर्थः** । गुरुगृहवासानन्तरं तत्प्रासादे च जाते पश्चात्सर्वे पुरुषार्थाः साधयितुं शक्यन्ते । अस्माभिस्तु गुरुकुल एव सर्वपुरुषार्थस्वरूपेण त्वया संगतम्, अतो गुरुकुलवासोऽस्माकमेव सफलो जातः, न त्वन्येषामिति **अस्माभिः किं न निर्वृत्तम** । नापि तत्तन्मन्त्रदेवतानां तृप्तिः प्रयोजिका मृग्यते यतो भवानेव **जगद्गुरुः** । किंच । भवान् **सत्यकामः** अस्मत्सङ्गेऽध्ययनयुक्तानामस्माकं च लोकन्यायेन सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्त्विति भवतः कामः स सत्य एव भवतीति भवदिच्छयैवास्माकं सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा इत्यर्थः । अतस्त्वया सह गुरुगृहवासः पुरुषार्थस्तत्साधनं च ।।४४।।

व्याख्यार्थ—हम लोगों ने कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध न किया हो, किन्तु उनसे भी विशेष सिद्ध किया है, जैसा कि आपके साथ जिसका गुरु के पास निवास हुआ, यही विशेषता है, गुरुगृह में रहने के अनन्तर वे प्रसन्न हुए, तो उनके प्रसन्न होने पर कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् जो पुरुषार्थ चाहे वह सिद्ध होता है, हमने तो गुरुकुल में सर्व पुरुषार्थ रूप आप से मिलाप कर लिया, अतः गुरुकुल में निवास हम लोगों का ही सफल हुवा, नहीं कि दूसरों का, उन उन मन्त्रों के देवताओं की तृप्ति भी प्रयोजक नहीं है जो उनकी खोज करे, क्योंकि आप ही देवों के देव हैं इसलिए हमको अन्य किसी की भी आवश्यकता नहीं है । गुरु के प्रसाद को भी हम नहीं ढूँढते हैं, कारण कि आप ही जगद्गुरु हैं और विशेष आप सत्य काम हैं, वे आप हमारे संग में वहाँ रहे । अध्ययन में लगे हुए हम लोगों का लोक न्याय से सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे, यों आप से काम प्राप्त हो वह काम सत्य ही होता है । इस लिए भगवदिच्छा से ही हम लोगों के सर्व पुरुषार्थ सिद्ध ही हैं, अतः आपके साथ गुरुकुल में निवास ही पुरुषार्थ और उसका साधन भी है ।।४४।।

आभास—किंच यदुक्तमस्माकं सर्वेषां गुरुगृहवासं स्मरसीति तत्र स्वामिनस्तव वासः अनुकरणार्थमेव भवतीत्याह **यस्य छन्दोमयं ब्रह्मे**ति ।

आभासार्थ—आपने जो कहा कि, हमारा और अन्य सर्व का गुरु गृह में निवास तुम्हें स्मरण है ? जिसके उत्तर में ब्राह्मण सुदामा कहता है कि आप स्वामी का वहां निवास तो अनुकरण के लिए ही था, यह 'यस्य छन्दोमयं' श्लोक में कहता हैं—

श्लोक—**यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभोः ।**
श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ।।४५।।

श्लोकार्थ—जिनका वेद रूप देह है, जिस देह से सर्व प्रकार के श्रेय होते हैं, ऐसे स्वरूप वाले आपका, गुरु गृह में निवास, केवल अनुचित, अनुकरण मात्र है ।।४५।।

सुबोधिनी—वेदात्मकं **ब्रह्म** शब्दब्रह्मे ति यं विदुः तत्तव **देहः** । यदध्ययनार्थं गुरुगृहवासोऽपेक्ष्यते । ननु कथं मम देहः जीवविशेष एव कश्चित्तत्राधिष्ठितो भवेदिति तत्राह **विभो**रिति । भवानेव तमधिष्ठातुं शक्तः देशकालपुरुषानन्त्येष्वधिष्ठितस्य तस्य फलदानं व्यापकाधिष्ठानव्यतिरेकेण न भवतीति तस्यैव फलसाधकत्वमाह **श्रेयसामावपन**मिति । श्रेयांस्यस्मिन्नासमन्तादुप्यन्त इति एतादृशदेहवतस्तव **गुरुषु वासोऽत्यन्तं विडम्बन**मनुचितानुकरणमित्यर्थः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—जिसको वेदात्मक अर्थात् शब्दात्मक ब्रह्म कहते हैं वह आपका शरीर है, जिस वेद के अध्ययन के लिए गुरुगृह में रहने की आवश्यकता होती हैं, मेरी देह वैसी कैसे ? इस शरीर में तो कोई जीव विशेष ही अधिष्ठित है, इसके उत्तर में कहता है कि 'विभोः' आप सर्व व्यापक सर्व समर्थ हैं, अतः आप ही उसका शासन करने के लिए समर्थ हैं । देश काल पुरुष आदि अनन्तों में अधिष्ठित को फलदान करना, व्यापक अधिष्ठान के सिवाय नहीं हो सकता है, उसको ही फल का साधकत्व कहता है, 'श्रेयसां आवपनं' इस शरीर में ही श्रेय सर्वत्र बोए हुए हैं, ऐसे शरीर वाले आपका गुरुकुल में निवास अनुचित अनुकरण है ।।४५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकत्रिंशाध्यायविवरणम् ।। ३१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७७वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३१वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

सुदामा चरित्र

राग धनाश्री

सुदामा सोचत पंथ चले ।
कैसें करि मिलि हैं मोहिं श्रीपति, भए तब सगुन भले ।।
पहुँच्यौ जाइ राजद्वारे पर, काहूँ नहिं अटकायौ ।
इत उत चितै धस्यौ मंदिर मैं, हरि कौ दरसन पायौ ।।
मन मैं अति आनंद कियौ हरि, बाल मीत पहिचान ।
धाए मिलन नगर पग आतुर, सूरज प्रभु भगवान ।।

--- --- ---

सीस पगा न झगा तन पे प्रभु जाने कोउ आय बसो केहि ग्रामा ।
धोती फटी सी लटो डुपटी, अरु पाय उपानह की नहीं सामा ।।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकसों वसुधा अभिरामा ।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ।।
ऐसे बिहाल बिवाइनसों भये, कंटक जाल लगे पग जोये ।
हाय सखा ! दुःख पायो महा, अरु आए इते न किते दिन खोये ।।
देख सुदामा की दीन दसा, करुणा करिके करुणानिधि रोये ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोये ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८१वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७८वाँ अध्याय

उत्तरार्ध ३२वाँ अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—४"

सुदामाजी को ऐश्वर्य की प्राप्ति

कारिका—**द्वात्रिंशे भगवानस्य पुरुषार्थतयोदितः ।**
स्वकर्तव्यं विदित्वैव कृतवानित्युदीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीमद्भागवत के उत्तरार्ध के ३२वें अध्याय में सुदामा ने भगवान् को पुरुषार्थपन से जाना है, अतः भगवान् ने भी अपना कर्त्तव्य जानकर ही इसको सम्पत्ति दी ॥१॥

कारिका—**मर्यादया प्रेरिता तु लक्ष्मीः स्थैर्यमिहाश्नुते ।**
अतोत्र भगवांस्तस्य पृथुकानप्यभक्षयत् ॥२॥

कारिकार्थ—मर्यादापूर्वक जो लक्ष्मी प्रेरित होकर प्राप्त होती है, वह स्थिर रहती है, उससे भोग की सिद्धि होती है, इसलिए ही भगवान् स्वयं तण्डुलों को आरोगते हैं ॥२॥

कारिका—**दानेपि तेजोहानिः स्यात् भार्यादत्तमुपायनम् ।**
तस्या एवं फलं भूयादिति जग्धुं समुद्यतः ।।३।।

कारिकार्थ—**स्त्री ने** जो भेंट दी थी, वह भेंट यदि सुदामा देवे तो उसके तेज की हानि हो जावे, अतः भगवान् ने स्वयं स्त्री की दी हुई भेंट ले ली और इसका फल भी स्त्री को ही मिलना चाहिए, यों विचार कर वे तण्डुल स्वयं आरोगने लगे ।।३।।

कारिका—**मुष्टिरेको जगत्तृप्त्यै वनवासे निरूपितः ।**
सर्वं फलं सर्वतृप्त्या परलोके तथापरः ।।४।।

कारिकार्थ—भगवान् एक मुष्टि आरोगें, तो सर्व जगत् की तृप्ति हो जाती है । यह आपने वनवास में पाण्डवों के यहाँ दुर्वासा के साथ आए हुए समग्र ऋषियों को एक पत्र खाकर तृप्त कर सिद्ध कर दिखाया है । दूसरी आरोगें, तो परलोक के फल की सिद्धि हो जावे ।।४।।

कारिका—**तृतीये देवतां दद्यादात्मानं च ततः परे ।**
एवं बुद्ध्या तया दत्तास्ते चेन्निर्विविशुर्हरिम् ।।५।।
चतुर्थांशः सिद्धिमेतु तस्या नाधिकमित्युत ।
लक्ष्मणायां प्रविष्टा श्रीः प्रतिबन्धं चकार ह ।।६।।

कारिकार्थ—तीसरी आरोगें, तो देवता उसके आधीन हो जाय, इससे विशेष आरोगें, तो हमको भी दे देवें । इस प्रकार प्रेमपूर्वक बुद्धि से दिए हुए सर्व तण्डुल यदि भगवान् के हृदय में जावें तो पूर्ण फल की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु भगवान् के उदर में चतुर्थांश ही गया, जिससे इतनी ही सिद्धि स्त्री को प्राप्त हुई, अधिक नहीं कारण कि लक्ष्मणा में प्रविष्टा लक्ष्मी ने रोक दिया ।।५-६।।

॥ इति श्री कारिका समाप्त ॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते मनःप्रीतिमुक्त्वा तदिष्टं पूरयित्वा तद्भार्येष्टं पूरयितुं पूर्वमुपसंहरन्नाह **स इत्थमिति** ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में सुदामा के मन की प्रसन्नता का वर्णन कर उसकी इच्छा की पूर्ति की । अब इस अध्याय में उसकी पत्नी की इच्छा पूर्ण करने के लिए पूर्व कथा का उपसंहार करते हुए श्रीशुकदेवजी 'स इत्थं' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**स ईत्थं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः ।
सर्वभूतमनोभिज्ञः स्मयमान उवाच ह ।।१ ।**

श्लोकार्थ—द्विजश्रेष्ठ सुदामा के साथ इस प्रकार वार्तालाप करते हुए सब के मन के भावों को जानने वाले वे हरि कुछ मुस्कराते हुए कहने लगे ।।१।।

सुबोधिनी—जीवेन सह कथं संकथेत्याह **द्विजमुख्येनेति** । ब्रह्मभावाज्जीवोपि आवेशी भवतीति संकथनं न दोषायेत्यर्थः । किंच । **हरिः सः** सर्वपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति । तस्य निश्चयात्सर्वभावेन चेद्भगवांस्तदधीनो न स्यात्तदा तस्य मनःपीडा न गच्छेदिति तथाकृतवानित्यर्थः । ततो भार्याहृदयं ज्ञात्वोवाचेत्याह **सर्वभूतमनोभिज्ञ** इति । हेतुत्वार्थं साधारण्येन निरूपयति **स्मयमानः** भार्यासंबन्धात् तेन सह परिहासं चिकीर्षुः । हेत्याश्चर्यं । न हि पूर्णो भगवान् अदत्तं स्वयं गृह्णातीति ब्राह्मणस्तु जानन्नपि लज्जया न दत्तवान् ।।१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् हो के जीव से कैसे इस प्रकार वार्त्तालाप करने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही कहा है, कि वह सुदामा साधारण ब्राह्मण नहीं था किन्तु ब्राह्मणों में मुख्य ज्ञानी ब्राह्मण था, जिससे ब्रह्मभाव से वह जीव होते हुए भी आवेशी हो गया था, अर्थात्, उसमें ब्रह्म आवेश रूप से प्रविष्ट था अतः उससे वार्त्तालाप करने में कोई दोष नहीं है, और विशेष में वे हरि हैं जिससे सर्व पुरुषार्थरूप भगवान् ही हैं, जिससे दोष नहीं है । अनन्तर, सर्वभूतों के मन के भावों को पूर्णतया जानने वाले होनेसे, सुदामा की भार्या के हृदय की इच्छा को भी जानते थे, इसी कारण, साधारण रीति से, मुस्कराते हुए निरूपण करते हैं । भार्या के सम्बन्ध से उसके साथ परिहास करने की इच्छावाले थे, 'ह' यह पद आश्चर्य अर्थ में दिया है, भगवान् पूर्ण हैं अतः बिना दिए स्वयं लेते नहीं, इस बात को ब्राह्मण श्रेष्ट होने से सुदामा जानते थे, तो भी इतने थोड़े चाँवल, भेंट रूप में कैसे दूं यों लज्जा आने से दिए नहीं ।।१।।

श्लोक—**ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम् ।
प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ।।२।।**

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के हितकारी भगवान् कृष्ण हँसी करते हुए, प्रेम भरी दृष्टि से देखते हुए, सत्पुरुषों के रक्षक प्रिय मित्र ब्राह्मण को कहने लगे ।।२।।

सुबोधिनी—तथापि भगवान् **ब्रह्मण्यः** ब्राह्मणानां हितकर्ता । सोपि **ब्राह्मणः** । स्वयं च **कृष्णः** तदर्थं चावतीर्णः, अन्यथा भगवान् कथमागच्छेत् । **प्रहसन्निति** गोप्यं करोतीति । तं प्रति तथाकथने हेतुः **प्रियमिति** ।।२।।

व्याख्यार्थ तो भी, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं अर्थात् ब्राह्मणों के हितकारी हैं, वह (सुदामा) ब्राह्मण है, अतः उसका हित तो करना ही है आप (श्रीकृष्ण प्रकट ही इसके लिए ब्राह्मणादि के हित करने के लिए) हुए हैं नहीं तो भगवान् भूमि पर कैसे पधारें ? अथवा पलङ्ग से उठकर उसको

लेने के लिए कैसे आवें ? और सादर प्रेमाश्रु बहाते हुए उसको साथ में लेकर अपने पलङ्ग पर बिठाकर पूजनादि क्यों करे ? इसके बाद भगवान् मुस्कराते हुए सुदामा को प्रिय वचन कहने लगे। मुस्कराहट से कहने का भावार्थ है कि प्रभु को सुदामा के लिए जो करना था वह गुप्त करना था ।।२।।

आभास—सार्धभ्यामाह भगवद्वाक्यं **किमुपायनमानीतमिति** ।

आभासार्थ—भगवान् के वाक्य 'किमुपायनं' डेढ़ श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-**किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।**
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।।३।।

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे कि हे ब्रह्मन् ! आप मेरे लिए घर से क्या भेंट लाए हो ? भक्त लोग प्रेम से किंचित् मात्र भी अर्पण करें, तो उसे मैं बहुत अधिक कर मानता हूँ और अभक्त पुरुष बहुत अर्पण करे, तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं होता हूँ ।।३।।

सुबोधिनी—**ब्रह्मन्निति** । संबोधनाद् धर्मज्ञानं सूचितम् । तेन उपायनानयनं निश्चितम् । **मे** मह्यम् । मध्ये शास्त्रार्थत्वाय गृहीतं तु न मे सुखायेति विशेषमाह **गृहादिति** । ननु पूर्णस्य तव किमुपायनेन अस्मदर्थं तु अस्माभिरेव दत्तं स्यादतो व्यर्थं ग्रहणमिति चेत्तत्राह **अण्वप्युपाहृतमिति** । **भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते** एतत्सर्वं प्रायेणाभक्तैरुपाहृतम् । पृथुकतण्डुला एव भक्तोपाहृताः सर्वस्यामपि द्वारकायाम् । भक्ताहृतत्वे को विशेष इति चेत् **प्रेम्णा अण्वपि भक्तोपाहृतं भूर्येव मे भवेत्** । प्रेमान्तःकरणधर्मः यो हि स्वापेक्षया अधिकमानयति तत्तस्याधिकं भवति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति । मम चायं नियमः प्रेम्णा समानीतं हृदयानीतं भवति हृदयमणुमात्रम्, तण्डुलास्तु मुष्टिचतुष्टयात्मकाः अहं च हृदयरूप एव तद् गृह्णामि । अतः अण्वप्युपाहृतं मत्समानत्वात् भक्ष्यं न्यूनपरिमाणमेव युक्तमिति मे भूर्येव भवेत् । अभक्तेन तूपहृतं बहिर्देच्छया उपहृतं भवति बहिश्च ब्रह्माण्डमिति तद्ग्रहणे अहमपि तथा । अतो यथाकथंचित् सर्वसामर्थ्येनापि समाहृतं मम तृप्तिहेतुर्न भवतीति अल्पत्वान्न **मे तोषाय कल्पते** । अथवा । 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' इति वाक्यात् प्रेम्णैव तुष्यति न त्वन्यथेति, प्रेम तु साधारणमेव मत्संनिधौ समायातीति तस्या देहोऽन्यार्थमेव विनियुक्त इति लिङ्गशरीरं च तेनैवावरुद्धमिति तण्डुलाश्रितैव भक्तिरत्रागता । अतो भक्तिसहभावः पदार्थानां निरूप्यते । **अभक्तेन** रूक्षेण । लोकेऽपि घृतादिप्लुतं भक्ष्यं तोषाय न तु रूक्षम् । विधौ द्वयं प्रयोजकं अधिकारविशेषणं करणं च । निषेधे तु विशेषमाह करणं तु सिद्धमेवेति । अभक्तस्य भक्तिरप्यभक्तिरेवेति वा ।।३।।

व्याख्यार्थ—ब्रह्मन् । संबोधन देने का भाव यह है, कि आपको धर्म का ज्ञान है जिससे मेरे लिए भेंट जरूर लाए होंगे किन्तु वह भी घर से लाए होंगे, न कि आते हुए, मध्य में कहीं से लाए हो, वह तो मुझे आनन्द देने वाली नहीं होगी । यदि तुम कहो, कि आप पूर्ण हैं, पूर्ण के लिए भेंट

लाने की क्या आवश्यकता है ? जो कहो, कि हमारे लिए जो हम लोगों को दी गई, वह भेंट (आपके लिए) लानी व्यर्थ है । इस पर भगवान् कहते हैं, कि किञ्चन्मात्र भी भक्त से अर्पण हुआ पदार्थ मुझे प्रसन्न करनेवाला होता है और अभक्त कितना भी अधिक ले आवे, तो वह मुझे आनन्द नहीं देता है । यह जो द्वारका में स्थित है, वह सर्व ऐश्वर्य के वश हो, अभक्त इन्द्र आदि देवों से लाए गए हैं न कि प्रेम से, अतः उससे मुझे प्रसन्नता नहीं है । इस समस्त द्वारका में, ये तण्डुल ही भक्त के लाए हुवे हैं । भक्त के लाए हुवे में क्या विशेषता है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर है कि प्रेम से थोड़ा सा भी भक्त द्वारा दिया हुआ मुझे बहुत दीखता है, कारण कि, प्रेम अन्तःकरण का धर्म हैं । हृदय अणु है अतः उसकी अपेक्षा अधिक लाता है वह लाया हुआ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीता वाक्यानुसार अधिक हो जाता है । मेरा तो यह नियम है, कि प्रेम से जो वस्तु लाई जाती है, वह हृदय से लाई जाती है, हृदय अणुमात्र है और ये तण्डुल चार मुट्ठी भर होने से हृदय से अधिक हैं । हम तो वे हृदय रूप ही समझ ग्रहण करते हैं, अतः अणु भी लाया हुवा मेरे समान होने से 'भक्ष्य' क्रम परिमाण ही उचित है, इसलिए वह मेरे लिए बहुत ही हो जाता है । अभक्त का बहिर्दृष्टि से अर्थात् बिना प्रेम से, लाया हुआ है, बहिर्दृष्टि ब्रह्माण्ड में है, अतः मैं भी उसके ग्रहण करने में वैसा ही बन जाता हूँ, अतः वह अपनी सामर्थ्य से कितना भी लाया हुआ मुझे तृप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि वह मेरे लिए अल्प हो जाता है, कारण कि, मैं महान् ब्रह्माण्ड रूप होकर ही ग्रहण करता हूं । जिससे बहिर्दृष्टि से अभक्त का लाया हुआ कितना भी, अधिक हो तो मुझे प्रसन्न नहीं कर सकता है, अथवा 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' भगवान् तो भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं न कि दूसरे प्रकार से यों प्रेम तो साधारण ही मेरे पास आ जाता है उसकी देह धर्मार्थ में ही लगी हुई हैं, लिङ्ग शरीर उसने ही रोक रखा है इसलिए तण्डुल में आश्रित उसकी भक्ति ही यहाँ आई है, अतः पदार्थों का भक्ति के साथ सहभाव कहा जाता है । जो अभक्त हैं वे प्रेम रहित होने से रूक्ष हैं, लोक में भी घृत आदि से चुपड़ा हुआ स्निग्ध पदार्थ ही मन को आनन्द देता है, न कि रूखा नीरस पदार्थ प्रसन्न करता है, विधि में दो प्रयोजक हैं, एक अधिकार और दूसरा करण, निषेध में तो विशेष कहते हैं कि करण तो सिद्ध ही है अथवा अभक्त की भक्ति भी अभक्ति ही है, यों ।।३।।

आभास—एवं पदार्थस्थितिमुक्त्वा स्वस्य बलादिव ग्रहणे हेतुमिव स्वसंकल्पमाह **पत्रं पुष्पमिति** ।

आभासार्थ इस प्रकार पदार्थ स्थिति कहकर आपने बलपूर्वक (जबर्दस्ती) स्वयं ले लिए जिसके हेतु की तरह अपना 'पत्रं पुष्पं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।**
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।४।।

श्लोकार्थ—मुझ में ही जिसकी आत्मा है, वैसे का प्रेम से दिया हुआ जो पत्र, पुष्प, फल और जल है, उसको मैं स्वीकार करता हूँ ।।४।।

सुबोधिनी—पत्रं तुलस्यादि, **पुष्पं** लवङ्गादि. **फलमाम्रादि**, **तोयं** गङ्गाजलादि, एतच्चतुष्टयमविकृतमनुपहृतं च अन्यत्पाकादिना उपहृतं भवेत् अग्निसंस्काराद्यभावात् । वनस्थानां दरिद्राणां परमहंसानामुपलक्षणविधया तेषामर्थे चतुष्टयमुक्तमिति केचित् । ब्राह्मणद्वारा त्वन्यदपि भक्षयतीति 'नाहं तथाद्मि' इति वाक्यात् । अविकृतमुत्तमसंस्कारेण संस्कृतमिति विचारकाः । एकेन त्वाहृतमेक एव भक्षयामि न हि कस्यचिदपि चतुष्टये श्रद्धाधिक्यं भवति । अत उद्दिष्टानां विकल्प इति ख्यापयितुं तदित्याह तत्पत्रादीनामन्यतरत् । **अहमिति** पुरुषोत्तमः मदर्थं संपाद्य स्वाधिकारानुसारेण यत्र क्वचिन्निवेदयतु तत्रैवाहं भक्षयामीत्यर्थः । दानसमये भक्त्यैव दानं, यथेष्टं पुत्राय कश्चित्प्रयच्छति मम तु ततोऽपि विशेष इत्याह **भक्त्युपहृतमिति** । तत्स्थानादुद्धरणप्रभृतिमत्समीपानयनपर्यन्तं स्नेहस्याविच्छेदोऽपेक्ष्यते । स्मरणसहितस्नेह इति केचित् । किंच । तच्चेद्द्रव्यं **प्रयतात्मनो** भवति प्रकर्षेण नियतान्तःकरणस्य कामादिसर्वदोषरहितस्य चेत्पत्रादिकं भवेत्तदा अवश्यम**श्नामि**। **अशनं** यथाक्रियोपलक्षकम् । वस्तुतस्तु सर्वमेतच्चतुष्टयमध्ये निविशति अन्नवस्त्रादिकमपि **फलमेव**, दुग्धेक्षुरसादिकं **तोयं**, ताम्बूलादिकं **पत्राणि** । सुवर्णरत्नादिकं **पुष्पाणीति** । अन्तःप्रवेशनं च भोजनम् । यत्र क्वचित् स्थापितमात्मसात्करोतीत्यर्थः ।।४।।

व्याख्यार्थ—'पत्र' तुलसी आदि 'पुष्पं' लवङ्गआदि, 'फलं' आम्र आदि 'तोयं' गङ्गाजलादि, ये चार ही विकार रहित और अनुपहत (अप्रभावित) हो और अन्यपाकादि से मिला हुआ हो जो अग्नि संस्कारादि के अभाव वाले ही कोई कहते हैं कि जो वनस्थ हैं, दरिद्र हैं और परमहंस हैं उनके लिए ये चार उपलक्षण विधि से कहे हुवे हैं, जैसे ब्राह्मण द्वारा विकृत और उपहत (प्रभावित) ही भक्षण किया जाता है वैसे मैं भक्षण नहीं करता हूं, विचारक कहते हैं कि उत्तम संस्कारों से संस्कार किया हुआ जो अविकृत है वह ही मैं आरोगता हूँ । एक द्वारा उनमें से लाया हुआ एक हो, तो भी मैं उसका भक्षण कर लेता हूं कारण कि, किसी की भी चारों में विशेष श्रद्धा नहीं होती है, अतः उद्दिष्टों (विशेष रूप से कही हुई बातों का) का विकल्प है यह प्रकट करने के लिए 'तत्' पद दिया है जिसका भावार्थ है पत्र आदि चारों में से कोई एक भी हो तो मैं पुरुषोतम हूँ अतः मेरे लिए अपने अधिकारानुसार बना के तैयार किया हुआ, जहाँ भी कुछ निवेदन हो, तो वहाँ ही मैं आरोगता हूं ।

दान के समय, भक्ति से दान होता है । कोई पुत्र को यथेष्ट देता है, मुझे तो उससे भी विशेष देता है, इसलिए 'भक्त्युपहृतं' भक्ति से लाया हुआ, अर्थात् उस स्थान से उठाकर मेरे समीप लाने तक स्नेह नहीं टूटे ऐसी प्रक्रिया के साथ स्नेहमग्न हो जाते हैं तब मैं वहाँ ही आरोगकर उनके स्नेह को बढाता हूं । कोई कहते हैं कि स्मरण सहित स्नेह होना चाहिए. और विशेष में वह द्रव्य यदि कामादि दोष से रहित, मुझ में ही जिसके अन्तःकरण की स्थिति है, वह लाता है, तो निश्चय मैं आरोगता हूँ 'अशन' शब्द भोजन की क्रिया का उपलक्षक है' वास्तविक में तो ये सर्व पदार्थ इन चारों में ही आजाते हैं. जैसे कि, अन्नवस्त्र आदि भी फल हैं, दुग्ध, ईख, रस आदि सर्व जल हैं, ताम्बूल आदि पत्र' हैं, सुवर्णरत्नआदि पुष्प गिने जाते हैं भीतर प्रवेश होना ही भोजन है, जहां कहीं भी रखा हुआ अपना लेते हैं ।।४।।

श्लोक **इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।**
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥५॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् ने कहा, तो भी लज्जा के कारण नीचा मुखकर बैठे हुए सुदामा ने लज्जा से लक्ष्मी के पति भगवान् को वे तण्डुल नहीं दिए जो स्त्री ने भगवान् को भेंट करने के लिए दिए थे ॥५॥

सुबोधिनी—एवं भार्यया प्रहितं त्वया भक्तेन भक्त्या चाहृतं देयमित्**युक्तोऽपि द्विजः** सङ्कोचाविष्टोऽल्पबुद्धिः **श्रियः पतये तस्मै पृथुकप्रसृतिं** मुष्टिचतुष्टयात्मकं प्रसृतिः सेरमात्रं भवतीति **न प्रायच्छत्** । लज्जया चाधोमुखो जातः, किं मया समाहृतमिति, अतिसाधारणानामेवैतद्भक्ष्यम् । ततो भगवान् विचारितवान्, अयं तु न प्रयच्छति तथापि ग्राह्यं न वेति । तदर्थं चैतद्विचारयति किमस्मै संपदो देया न वेति ॥५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कहा कि स्त्री ने लाकर मेरे लिए तुमको दिए हैं। तुम जो मेरे भक्त हो, उसने भक्ति से भेजे हैं, इस कारण वे मुझे देने चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मण को कहा, किन्तु ब्राह्मण सङ्कोचवाला हो गया और अल्प बुद्धि था। अतः लक्ष्मी के पति भगवान् को सेर भर चावल नहीं दिए, लाज के मारे नीचा मुख कर बैठा ही रहा और मन में विचारा कि मैं लाया ही क्या हूँ ? जो कुछ लाया हूं वह तो अति साधारण मनुष्यों के खाने के योग्य हैं। अतः कैसे दूँ ? भगवान् भी फिर विचारने लगे कि यह तो देता नहीं, तो भी लेना चाहिए वा नहीं ? इसके लिए विचारते हैं कि इसको (सुदामा को) सम्पदा देनी चाहिए वा नहीं ? ॥५॥

कारिका—**कामितं दोषरहितं भगवांस्तु प्रयच्छति ।**
अलौकिकत्वात्संपत्तेर्दोषाभावः सुनिश्चितः ॥१॥

कारिकार्थ भगवान् जो कुछ सम्पदा देते हैं, वह दोष रहित होती है; क्योंकि वह सम्पदा अलौकिक होने से निश्चय निर्दोष है ॥१॥

कारिका—**कामाभावस्त्वस्य सिद्धो न देयं तत्कथंचन ।**
स्वत आगमनं तस्य न भवत्येव भार्यया ॥२॥

कारिकार्थ इसको (सुदामा को) किसी प्रकार की कामना नहीं है, अतः इसको कुछ भी नहीं देना चाहिए क्योंकि इसका यहाँ आना अपनी इच्छा से नहीं है किन्तु भार्या के कहने से आया है ॥२॥

कारिका—**प्रेषितस्यागतिस्त्वस्य भार्यागतिरियं मता ।**
प्रतिबन्धकता त्वस्य दाने लज्जादिदोषतः ।
तस्मात्तस्या गृहीत्वैतत् तस्यै दास्यामि निश्चितम् ॥३-५॥

कारिकार्थ—भार्या ने भेजा है, अतः यहाँ यह आना भार्या का ही है। यह तण्डुल नहीं देता है, इसका कारण लज्जादि दोष है। इस कारण से ये चाँवल उस भार्या के हैं, उसके चावल लेकर सम्पदा भी उसको ही दूँगा। यह निश्चित् है ।।३-५।।

आभास—एतद्वदन्नस्य दोषाभावमाह **सर्वभूतात्मदृगिति** ।

आभासार्थ—यों कहते हुए 'सर्वभूतात्म दृक्' श्लोक में भगवान् इसकी निर्दोषता प्रकट करते है—

श्लोक—**सर्वभूतात्मदृक् साक्षात्तस्यागमनकारणम् ।**
विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा ।।६।।

श्लोकार्थ—सकल भूतों के हृदयों के ज्ञाता भगवान् ने इसके आने का कारण जान लिया कि यह लक्ष्मी लेने की इच्छा से मेरे पास नहीं आया है और इसने पूर्व में भी लक्ष्मी के लिए भजन नहीं किया है ।।६।।

सुबोधिनी — **सर्वभूतानामात्मानमन्त**:करणं पश्यतीति। एतस्य तस्या अपि हृदयं जानातीत्युक्तम्। **साक्षात्तस्य** आगमनकार्यं भार्यार्थमेव। प्रासङ्गिकं तु स्वार्थं एतद्**विज्ञायाचिन्तयत्**। अत्रार्थः संदिग्ध इति संदेहमेवाह **नायं श्रीकाम** इति। **मां च पुरा अभजत्**। ततोऽयं भक्तो निष्कामः। अतोऽस्मै स्वरूपमेव देयम् ।।६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् सकल जीवों के अन्तःकरण को जानते हैं अतः इसके और इसकी पत्नी के हृदय को भी जानते हैं, इसका यहाँ आने का साक्षात् कारण इसकी स्त्री के लिए ही है, केवल प्रासङ्गिक अपने लिए है, यह जानकर विचार करने लगे। इस प्रसङ्ग में अर्थ संदिग्ध (संदेहवाला है, उस संदेह को कहते हैं कि इस ब्राह्मण को लक्ष्मी की इच्छा नहीं है, पहले भी यह मेरा भजन करता था तब भी लक्ष्मी की इच्छा नहीं की थी, अतः यह भक्त निष्काम है, इसलिए इसको अपना स्वरूप ही देना चाहिए न कि लक्ष्मी ।।६।।

श्लोक—**पत्न्या मे प्रेषितायातः सखा प्रियचिकीर्षया ।**
प्राप्तो मामस्य दास्यामि संपदोऽमर्त्यदुर्लभाः ।।७।।

श्लोकार्थ—पत्नी के कहने से यहाँ आया है और मेरा मित्र है, अतः मेरे प्रिय करने की इच्छा से भी आया है, देव दुर्लभ सम्पदाएँ इसको दूँगा ।।७।।

सुबोधिनी—सांप्रतं च **पत्न्या स प्रेषितः आयातो** मत्समीपम् । **सन्धिरार्षः** । तर्हि कः संदेहः इदानीं तस्या एवार्थे देयमिति चेत्तत्राह **मे सखेति** । तथापि मम मित्रम् । मम च प्रियकरणार्थमागतः । अत किमेतद्धितं कर्तव्यम्, तस्या हितं वा । भोगः किमेतद्गामी तद्गामी वा । एतद्गामी चेन्न देयं तद्गामी चेद्देयमिति आद्ये अस्य भोगात्स्वरूपात्प्रच्युतिः । द्वितीये तु प्रासङ्गिको भोग इति स न नाशकः । तस्याश्च प्रासङ्गिको मोक्षोऽपि भविष्यति । अत एतदर्थं पृथुकभक्षणमावश्यकम् । अस्मै चेद्दानं स्यात् तदैवमेव दद्यात् न ह्यन्येभ्यो ब्राह्मणेभ्यः किंचिद्गृहीत्वा प्रयच्छति, अतो द्वितीयपक्षमाह **प्राप्तो मामस्य दास्यामी**ति । मत्प्रीत्यर्थमेव मां प्राप्तः । **अस्येति** संबन्धमात्रं न तु संप्रदानम् । एवं विचार्य देयोत्कर्षमाह **संपदोऽमर्त्यदुर्लभा** इति । अमर्त्यानामपि दुर्लभाः । यदा भगवान् स्वयमिन्द्रोऽभूत् तदा या संपत् तां दत्तवानिति वाक्यान्तरादवगम्यते 'सुदामरङ्कभक्तार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभवः' इति । अत्र चा**मर्त्यदुर्लभा** इति । अतो देवव्यतिरिक्तेन्द्रो भगवानेवेति ।।७।।

व्याख्यार्थ—अभी तो स्त्री का भेजा हुआ मेरे पास आया है, तो क्या संदेह है ? अब स्त्री के लिए ही देनी चाहिये, यदि यों कहो तो यह भी मेरा मित्र है, और मेरे प्रिय करने के लिए आया है, अतः मैं इसका हित करूँ ? वा इसकी पत्नी का हित करूँ ? भोग यह करेगा वा उसकी पत्नी करेगी ? यदि यह करेगा तो नहीं देना चाहिए, यदि वह करे तो देना चाहिए । यदि इसको दूँगा तो यह उसका उपभोग करने से स्वरूप से गिर जाएगा, यदि भार्या को दूँगा तो प्रासङ्गिक भोग होगा । वह नाश करनेवाला नहीं है और यों उसको देने से उसका भी प्रासङ्गिक मोक्ष हो जाएगा, इसलिए तण्डुलों का भक्षण आवश्यक है । इसके पास यदि दान की वस्तु होती तो यों ही दे देते, किन्तु अन्य ब्राह्मणों से कुछ लेकर उन्हें कुछ नहीं देते । अतः दूसरा पक्ष कहते हैं कि यह मेरी प्रीति के लिए ही मेरे पास आया है, इसलिए इसका केवल सम्बन्ध ही है, न कि दान है । यों विचार कर जो देता है उसका उत्कर्ष बताते हैं, जो सम्पदाएँ दी जाएगी, वे देवों को भी दुर्लभ हैं । भगवान् जब इन्द्र बने थे, उस समय जो सम्पदाएँ थीं, वे सम्पदाएँ भगवान् ने इसको दी । यह ज्ञान दूसरे वाक्यों से होता है । 'सुदामरङ्कभक्तार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभव इति' रङ्कभक्त सुदामा के लिए ही पृथ्वी पर इन्द्र का वैभव भगवान् ने ला दिया है, देव दुर्लभ कहने का आशय यह है कि यह इन्द्र देव इन्द्र नहीं है, किन्तु भगवान् ही इन्द्र हैं; उनकी ही ये सम्पदाएँ हैं ।।७।।

श्लोक—**इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान् द्विजन्मनः ।**
स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ।।८।।

श्लोकार्थ—यों विचार कर ब्राह्मण के फटे वस्त्र में बाँधे हुए तण्डुल, यह क्या है ? ऐसे कहकर भगवान् ने स्वयं अपने हस्त से उस कपड़े में से तण्डुल ले लिए ।८।

सुबोधिनी—एवं निश्चित्य **वसनाच्छादितात्** तेन प्रावृतात्तत्प्रावरणं दूरीकृत्य **चीरेण** वस्त्रखण्डेन **बद्धान्** । **द्विजन्मन** इति । यदायमसावधानः कर्मकरणार्थं व्यग्रो वा तदा **स्वयं जहार** । हरणसमयवाक्यमाह **किमिदमिति** ।।८।।

व्याख्यार्थ—यों विचार पूर्वक निश्चयकर, वस्त्र से आच्छादित् (ढके हुए) जीर्ण वस्त्र में बन्धे हुवे तण्डुल थे, उनका वह आच्छादन हटा लिया, जब देखा कि ब्राह्मण दूसरे कार्य करने में व्यग्र होने से इस तरफ उसका ध्यान नहीं तब भगवान् ने 'यह क्या है'? यों कहकर स्वयं तण्डुल ले लिए ॥८॥

आभास—पश्चान्मोचयित्वा पृथुकतण्डुलान् दृष्ट्वा भगवानाह **नन्वेतदुपनीत**मिति ।

आभासार्थ—पीछे उस पोटली को खोल चाँवल देखकर भगवान् 'नन्वेतदुपनीतं' श्लोक कहने लगे—

श्लोक—**नन्वेतदुपनीतं मे परमप्राणनं सखे ।**
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे सखा ! यह तो आप ऐसी चीज ले आए हो, जो मुझे बहुत प्यारी है, हे अङ्ग ! ये तण्डुल तो मुझे और विश्व को तृप्त करने वाले हैं ॥९॥

सुबोधिनी—एतदुपायनं परमप्रीतिजनकम् । सखित्वात्सङ्कोचाददीयमानमपि ग्राह्यम् । पृथुकतण्डुलानां माहात्म्यमाह **तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्व**मिति । **एते** उपस्थिता भक्त्या संवलिताः ॥९॥

व्याख्यार्थ—यह भेंट अत्यन्त आनन्द देनेवाली है, मित्र के नाते और सङ्कोचवश न देने पर लेने योग्य है । इन तण्डुलों का माहत्म्य बताते हैं कि हे अङ्ग! ये तण्डुल ऐसे उत्तम हैं जो मुझे और समग्र विश्व को तृप्त करते हैं । ये तण्डुल भक्ति से पूरित हैं ॥९॥

आभास—एवं विचार्य मुष्टिमात्रं गृहीत्वा भक्षितवानित्याह **इति मुष्टि**मिति ।

आभासार्थ इसी प्रकार, विचार कर, एक मुट्ठी चाँवल लेकर भक्षण किए यों 'इतिमुष्टि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयं जग्धुमाददे ।**
तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥१०॥

श्लोकार्थ—यों कहकर, एक मुठ्ठी तो आरोग गये और जब दूसरी आरोगने लगे तब भगवत्परायण लक्ष्मी ने भगवान् का हाथ पकड़ लिया ॥१०॥

सुबोधिनी—सर्वमेव **जग्धुं द्वितीयं मुष्टिमाददे** तदा लक्ष्म्या प्रतिबन्धः कृत इत्याह **तावच्छ्रीर्जगृहे हस्त**मिति । लक्ष्मणाभिनिविष्टा । प्रतिबन्धे तस्या अभिप्रायमाह **तत्परे**ति । सा हि भगवत्परा सर्वं चेद्भक्षयिष्यति तस्मै सर्वं दास्यति । ततो मां दास्यति । अहमेव सर्वमिति । अहं तु भगव-

त्परेति न तत्र गमिष्यामीति तात्पर्यम् । किंच । अर्धेऽपि दत्ते आमुष्मिकमपि फलं सेत्स्यतीति तस्य मर्यादा ब्रह्माण्डमेव सर्वमिति सांप्रतं ब्रह्माण्ड-विग्रहो भगवानेवेति द्वितीयमुष्टावेव विघ्नं कृतवती तदाह **परमेष्ठिन** इति । भगवतः पुरुष-रूपत्वे लक्ष्मीरपि तथा जाता ।।१०।।

व्याख्यार्थ—पोटली में जो चाँवल थे, उन सब को खाने के लिए उसमें से दूसरी मुट्ठी लेली, तब लक्ष्मी ने रोका, कैसे रोका ? इस पर कहते हैं कि भगवान् के हस्त को पकड़ लिया, लक्ष्मी लक्ष्मणा में प्रविष्ट थी, प्रत्यक्ष में तो लक्ष्मणा ने हाथ पकड़ा था, किन्तु वास्तव में, लक्ष्मणा में लक्ष्मी ने प्रवेश कर हाथ पकड़ लिया था, इस प्रकार खाने में प्रतिबन्ध क्यों किया, जिसका अभिप्राय प्रकट करते हैं कि वह लक्ष्मी भगवत्परायण है उसने जान लिया, कि यदि सर्व आरोग लेंगे, तो सर्व सम्पत् उसको दे देंगे, पश्चात् मुझे भी दे देंगे, मैं हो सब कुछ हूँ, मैं तो भगवत्परायण हूँ अतः वहां न जाऊँगी । यह हाथ रोकने का भाव था । इस दूसरी मुट्ठी खाने में तो लक्ष्मी नहीं देते थे, तो दूसरी मुट्ठी खाने में प्रतिबन्ध क्यों किया ? दूसरी मुट्ठी आरोगते, तो आमुष्मिक फल मिल जाता, इसकी मर्यादा यह हुई, कि सर्व ब्रह्माण्ड आ गया (दे दिया) अब भगवान ही ब्रह्माण्ड विग्रह है, अर्थात् अपने को भी दे डालना चाहते हैं, अतः दूसरी मुट्ठी के आरोगने में प्रतिबन्ध डाल दिया, इसलिए 'परमेष्ठिनः' पद दिया है, भगवान् के पुरुषरूपपन में लक्ष्मी वैभी सी ब्रह्माण्ड की अर्धरूपा हुई ।।१०।।

आभास—तत्र ब्रह्माण्डविग्रहस्यैव संबन्धिनीति सुदाम्न एव तथात्वे पुनरनिष्टं स्यात् । तस्याः फलमात्रप्रतिबन्धकत्वशङ्कायां सा स्वाभिप्रायं निरूपयति **एतावताल-मिति** ।

आभासार्थ—लक्ष्मी, ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुषरूप भगवान् की सम्बन्धिनी है, यदि सुदामा को ब्रह्माण्ड रूप फल की प्राप्ति हो गई तो उसकी अर्धरूपा लक्ष्मी भी उसके आधीन हो जाएगी, जिससे लक्ष्मी का अनिष्ट होगा । अभी भगवान् के सङ्ग रहकर उनकी सेवा करती है, फिर दे देने पर, फलरूप से लक्ष्मी उसके (सुदामा के) आधीन हो जावेगी, यों अनिष्ट होगा अतः फल मात्र की यह प्रतिबन्ध हुई इस शङ्का को मिटाने के लिए अपना अभिप्राय 'एतावतालं' श्लोक से प्रकट करती है ।

श्लोक—**एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसंपत्समृद्धये ।**
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ।।११।।

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मा! भक्त पुरुष पर जब आप प्रसन्न होते हैं,तब आप उसको इतनी सम्पदा देते हैं, जिससे आपको इस लोक और परलोक में आनन्द आता है, अतः आपने अब जो एक मुट्ठी खाकर सम्पदा दी है इतनी ही काफी है ।।११।।

सुबोधिनी--एतस्यै दित्सितमल्पं मुष्टिमात्र-स्यापि बहुदानसभवाद्, अत उक्त**मेतावतेति** । अन्यथा एतावदलमिति वदेत् । न च वक्तव्यं सर्वमेव दास्यामीति यतस्त्व **विश्वात्मा** । अन्येभ्यः

किं दास्यसि । अन्ये च तवावश्यका इत्यर्थः । सर्वा या धनादिसंपदः तासां समृद्धये । ननु मुष्टिमात्रेण ऐहिकी सर्वा संपत् सिद्धयेत् न त्वामुष्मिकी तत्राह **अस्मिन् लोकेऽथवामुष्मिन्निति**। लोकद्वये न तस्य भोगापेक्षा उत्तमाधिकारत् । किंचित् क्वचिद्भोगापेक्षा तदिहलोके परलोके वा भवतु । तत्र एक एव मुष्टिः प्रयोजकः समुच्चयस्तु न तस्यापि संमत इति । ननु मुष्टिमात्रेण कथं सर्वा संपत्तिस्तत्राह **त्वत्तोषकारणमिति** । एकमुष्टिभक्षणे प्रयत्न आरब्धः संपूर्णगिलनपर्यन्तमनुवर्तते तावता तद्रसेन तृप्यति । मुष्ट्यन्तरे पुनः प्रयत्न आरम्भणीयस्तेन च प्रीतिरन्या पुनर्भविष्यति । फलं च देयमेकं अतस्तव संतोषो द्वितीय एवमेव तिष्ठेदिति द्वितीयो नोत्पादनीय एवेत्यर्थः ।।११।।

व्याख्यार्थ इसके दिए हुए अल्प, (केवल मुट्ठी भर चाँवल) के बदले में जो आपने दिया है, वह बहुत है, अतः इतने से ही बस करो. क्योंकि यही काफी है, नहीं तो 'एतावता अलं' के स्थान पर 'एतावत् अलं' कहते, यों भी न कहना, कि मैं इसको सब दे दूंगा, क्योंकि आप विश्वात्मा अर्थात् सर्व विश्व की आत्मा हो, यदि सब इसको दे दोगे तो दूसरों को क्या दोगे ? दूसरों को भी देना आपको आवश्यक है, जो सर्व धन आदि सम्पदाएँ हैं, उनकी समृद्धि के लिए, केवल एक मुट्ठी आरोगने से इस लोक की सर्व सम्पदा सिद्ध हो सकती है, न कि परलोक की भी, इस पर कहते हैं, कि इस लोक अथवा परलोक में इसको भोग की इच्छा ही नहीं है, क्योंकि यह उत्तमाधिकारी है, यदि किञ्चित् कभी भोग की अपेक्षा इस लोक वा परलोक में हो, तो भी, एक ही मुट्ठी उसमें प्रयोजक हो सकती है । समूह वा संग्रह तो इसको भी इच्छित (पसन्द) नहीं है, केवल, एक मुट्ठी से कैसे समस्त सम्पत्ति प्राप्त होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि इसमें आपकी प्रसन्नता ही कारण है । एक मुट्ठी के भक्षण करते हुए, प्रयत्न प्रारम्भ किया । जब तक सर्व निगल जाए तब तक जो रस प्रकट होता है उसके रस से वह तृप्त हो जाता है, फिर दूसरी मुट्ठी के भक्षण करते हुए प्रयत्न आरम्भ किया जाए उससे फिर अन्य प्रीति उत्पन्न होगी उसको फल तो एक ही देना है, अतः आपको सन्तोष होता है, जो दूसरी मुट्ठी आरोगोगे, तो भी सन्तोष ही आपको होगा अन्य कुछ नहीं, इसलिए दूसरे का उत्पादन नहीं करना चाहिए, अर्थात, दूसरी मुट्ठी आरोगने से आपको कोई विशेष लाभ नहीं इसलिए दूसरी मत आरोगो यों ही भावार्थ है ।।११।।

आभास—एवं भगवल्लक्ष्म्योः संवादमुक्तवा एकं फलं भविष्यतीति विनिर्धार्य ब्राह्मणस्य तत्फलप्राप्त्यर्थं स्वगृहगमनं वदन् भगवत्संनिधौ तस्य स्वाभिलषितमानन्दमाह **ब्राह्मणस्तां तु रजनीमिति** ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् और लक्ष्मी का संवाद कहकर एक ही फल होगा यह निश्चय कर ब्राह्मण को उस फल की प्राप्ति कराने के लिए अपने घर जाने को कहते हुए. भगवान् की संनिधि में उसको अपने अभिलषित आनन्द का वर्णन 'ब्राह्मणस्तां तु' श्लोक में करते हैं—

श्लोक - **ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।**
भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ।।१२।।

श्लोकार्थ - ब्राह्मण तो, उस रात्रि में भगवान् के मन्दिर में रहा, वहाँ भोजन और पान कर ऐसा आनन्द पाया जिससे मानने लगा कि मैं मानो स्वर्ग में बैठा हूँ ।।१२।।

सुबोधिनी--अच्युतमन्दिरे उषित्वा तत्रैव वासं कृत्वा । **भुक्त्वा पीत्वा** नानाविधरस्यानि अमृतादीन्यपि । अलौकिकभोगसमर्थो भूत्वा । **मेने आत्मानं स्वर्गतं** स्वर्गत एव अमृतपानादिकं प्राप्नोति । भगवान् पूजार्थं किंचिदाभरणं वस्त्रादिकं गां च दत्तवानिति लक्ष्यते । यावता सुवेषेण गृहं गच्छति ।

व्याख्यार्थ—भगवान् के मन्दिर में निवास कर, अनेक प्रकार के अमृत आदि रस युक्त पदार्थों को खा और पीकर, अलौकिक भोग भोगने में समर्थ हो के, अपने को स्वर्ग में बैठा हुआ समझने लगा, क्योंकि स्वर्ग में ही अमृतपानादि प्राप्त होते हैं । भगवान् ने पूजा में कुछ आभरण, वस्त्रादि और गौ दी, यों जाना जाता है जिससे सुन्दर वेष धारण कर घर जावे ।।१२।।

आभास—ततः प्रातःकाले ततो निर्गत इत्याह **श्वोभूत** इति ।

आभासार्थ—अनन्तर प्रातः काल वहाँ से रवाना हुआ, यह 'श्वोभूते' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिनन्दितः ।**
जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ।।१३।।

श्लोकार्थ—सर्वत्र जिसका प्रभाव प्रकट है, वैसे सुखरूप भगवान् से सुदामा ने दूसरे दिन बिदा ली, तब प्रभु ने प्रसन्नता से उसका अनुमोदन किया एवं उसके साथ, मार्ग में आगे जल की खाई तक चलकर बिदा दी, और जब वह रवाना हुआ तब भगवान् अपने घर लौट आए ।।१३।।

सुबोधिनी-- समक्षादाने हेतुः **विश्वभावेनेति** विश्वस्मिन्नेवानुभावो यस्य यत्रैव गमिष्यति तत्रैव सर्वाविर्भावे संभवति किमर्थमितो नयनम् सख्यमेव पुरस्कृतमिति सखा बहु न ददाति । गच्छामीत्युक्ते **अभिनन्दितः** गन्तव्यमिति । ततः **स्वालयं** गतः भगवान् पुनः **पथि** उदकान्तमागत्य **नन्दितः** संतोषं प्रापितः ।।१३।।

व्याख्यार्थ— समक्ष देने में हेतु यह है, कि आपका प्रभाव समस्त विश्व में है, अतः जहाँ जावेगा वहाँ ही सर्व के आविर्भाव होते हुए ही सब कुछ प्राप्त होने का संभव है, तो फिर यहां से ले जाने की क्या आवश्यकता है । जिसके उत्तर में कहते हैं, कि भगवान् ने मित्रता का ही पुरस्कार किया है, इसलिए सखा बहुत नहीं देता है । सुदामा ने कहा मैं जा रहा हूँ इसका आपने अभिनन्दन किया, कि भले जाइये, पश्चात् सुदामा अपने घर को रवाना होने लगा, फिर उन (भगवान्) ने भी मार्ग में खाई तक आकर उसको सन्तोष कराया, अनन्तर घर लौट आए ।।१३।।

आभास—मध्ये तस्य भार्याभयाच्चिन्ता जाता तामाह **स चालब्ध्वेति** ।

आभासार्थ—ब्राह्मण को रास्ते में, भार्या अप्रसन्न होगी, इस भाव से चिन्ता होने लगी, जिसका वर्णन 'स चालब्धवा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ।**
स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥१४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने स्वयं इसको धन नहीं दिया और न इसने ही मांगा, भगवान् के दर्शन होने से आनन्दमग्न लज्जित होते हुए घर लौट आया ॥१४॥

सुबोधिनी--स्वतो भगवता न दत्तमिति **धनमलब्ध्वा स्वयं च न याचितवान्** सख्युः सकाशात् । तत उभयथापि लज्जितः **स्वगृहान्गच्छत्** । **महद्दर्शनेन निर्वृतः** सुखित एव जातो न तु धनाभावेन दुःखितो जात इत्यर्थः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने स्वतः धन नहीं दिया, अतः धन न मिलने से मित्र से स्वयं (खुद) ने मांगा नहीं, पश्चात् दोनों प्रकार लज्जित हो अपने घर जाने लगा । भगवान् के दर्शन हो जाने से आनन्द मग्न हो गया जिससे धन न मिलने का उसको थोड़ा भी दुःख न हुआ ॥१४॥

आभास—ततस्तस्य मनोरथो यथा जातस्तमाह **अहो ब्रह्मण्यदेवस्येति** षड्भिः ।

आभासार्थ—उसके बाद जैसे उसका मनोरथ पूर्ण हुआ, वह 'अहो ब्रह्मण्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।**
यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥१५॥

श्लोकार्थ—अहो ! ब्रह्मण्यदेव की ब्रह्मण्यता मैंने देखी, जो वक्षःस्थल में लक्ष्मी को धारण करने वाले भगवान् हैं, वह मुझ दरिद्री से आलिङ्गन पूर्वक मिले ॥१५॥

सुबोधिनी– धर्मिणा तु सिद्ध एवार्थः । धर्मैः कृत्वा सन्देह इति **ब्रह्मण्यदेवोपि** अवसरविशेषे ब्राह्मणस्य हितं करोति । अस्य तु अनवसरेपि तथाकरणादाश्चर्यम् । **मयैव ब्रह्मण्यता दृष्टा** तदाह **यद्दरिद्रतम** इति । **लक्ष्मीमुरसि बिभ्रता** भगवता-**दरिद्रतमः** द्रष्टुमप्ययोग्योहं **आश्लिष्टः** ॥१५॥

व्याख्यार्थ—धर्मी से तो अर्थ सिद्ध ही है, धर्मों से अर्थ सिद्ध होने में सन्देह है । यों ब्रह्मण्य देव भी विशेष अवसर होते हुए ब्राह्मण का हित करते ही हैं । इसका तो अवसर न होने पर भी वैसा करने में आश्चर्य है । मैंने ही भगवान् की ब्रह्मण्यता देखी, वह कहते हैं, कि जो मैं अत्यन्त दरिद्र हूँ, दरिद्रता के कारण देखने के भी योग्य नहीं हूँ तो भी उर में लक्ष्मी को धारण करने वाले मुझ से आलिङ्गन कर मिले ॥१५॥

आभास—एतदेव विशदयति **क्वाहं दरिद्र** इति ।

आभासार्थ—इसको विशदरूप से वर्णन करते हैं कि 'क्वाहं दरिद्रः ।'

श्लोक—**क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।**
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥१६॥

श्लोकार्थ—दरिद्र और पापी मैं कहाँ ? और लक्ष्मी के निवास भगवान् कहाँ ? मुझे केवल ब्राह्मण जाति जानकर मुझसे आलिङ्गन किया ॥१६॥

सुबोधिनी—अत एव **पापीयान्** दारिद्र्यव्याप्तदेहः दारिद्र्येण वा अनुमितपापवान् । कुत्र वा भगवान् **श्रीनिकेतनः** । अतः सखित्वसंभावनापि नास्ति अतुल्यत्वात् । तर्हि कथमालिङ्गनं कृतवानित्यत आह **ब्रह्मबन्धुरिति स्मे**ति प्रसिद्धे । ब्राह्मणो माननीय इति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस कारण ही पापी होने से, दरिद्रता से मेरी देह व्याप्त है, अथवा दरिद्रता से अनुमित (अनुमान किया हुवा) पापवाला हूँ वैसा मैं कहाँ ? और कहाँ लक्ष्मी के निवास भगवान् ? दोनों समान न होने से सखापन की सम्भावना भी नहीं हो सकती है, तो आलिङ्गन कैसे किया ? मैं ब्राह्मण हूँ यह प्रसिद्ध है, ब्राह्मण मान देने योग्य है. इसलिए ही आलिङ्गन आदि किया है ॥१६॥

आभास—स हि ब्रह्मणो भावः स्वयं विष्णुरिति तुल्यतया आलिङ्गनं सर्वभोगदानं च कृतवानित्याह **निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्क** इति ।

आभासार्थ—वह ब्रह्म का भाव स्वयं विष्णु है, इस प्रकार समानता, मान आलिङ्गन और सर्व प्रकार के भोग का दान दिया यह 'निवासितः श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।**
महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ॥१७॥

श्लोकार्थ—प्रिया के सेवन करने योग्य पलङ्ग पर जैसे बन्धुओं को बिठाया जावे वैसे मुझे बिठाया, मार्ग के परिश्रम को मिटाने के लिए भगवान् की महिषी ने हाथ में चँवर लेकर वायु की ॥१७॥

सुबोधिनी-स्वस्थाने स्वयमेव योग्यो भवति न त्वन्यस्तत्रोपवेशनीयस्तत्राह **भ्रातरो यथे**ति । अनेनानौचित्यमेव परिहृतम् । उपचारास्तु कृता एवेत्याह **महिष्या वीजित** इति । अदृष्टार्थतां निवारयति **श्रान्त इति** । **बालव्यजनहस्तये**ति राजोपचारः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—अपने स्थान पर आपका विराजमान होना ही योग्य है न कि दूसरे का, इसलिए ही 'भ्रात रोयथा' जैसे बान्धव पद दिया है, यों कहकर इसका अनौचित्य मिटा दिया है । उपचार

तो किए ही हैं; पटराणी ने पवन की, क्योंकि मैं थका हुआ था यह जान उस थकावट को दूर करने के लिए चँवर हाथ में लेकर पवन की, चँवर से वायु का करना यह राजाओं का उपचार है ॥१७॥

आभास— ततो भगवतापि ब्राह्मण इति पूजित इत्याह **शुश्रूषया परमयेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने भी ब्राह्मण जानकर पूजन किया, यों 'शुश्रूषया' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।**
पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—देवों के देव और ब्राह्मण ही जिनके लिए देव हैं वैसे भगवान् ने उत्तम सेवा करते हुए पांव दाबना आदि क्रियाओं से देव समान मेरा पूजन किया ।१८।

सुबोधिनी - **पादसंवाहनमेवादिर्येषा**मिति ते उपचाराश्चतुःषष्टिः नृत्यगीताद्याः । ननु किमाधिक्यमेतावता तत्राह **देवदेवेने**ति । देवाः पूज्याः तेषामपि देवो भगवान् तेनापि **पूजितश्चे**त् किमवशिष्यते । ननु भगवान् हीनभावं किमित्य अवलम्बते तत्राह **विप्रदेवेने**ति । विप्रा एव देवा यस्येति । **देववदि**त्यणुमात्रमपि स्वव्यापारस्तत्र निवारितः, स्नानादिकमपि भगवतैव कारितमिति ज्ञापितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पांव दाबना जिनकी आदि (प्रारम्भ) है वैसे उपचार नृत्य गीत आदि चौसठ हैं इतनी अधिकता क्यों? तो कहते हैं कि आप देवों के देव हैं, देव पूजने योग्य हैं उन पूज्य देवों को भी जो पूजने योग्य हैं, तो शेष क्या रहा ? भगवान् ऐसे हैं, तो फिर हीन भाव का अवलम्बन क्यों करते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि, ब्राह्मण को अपना देव मानते हैं, अतः देव की तरह पूजा की, स्वल्प भी उसमें कमी नहीं की जैसे देव के पूजन में स्नान आदि देव को स्वयं अपने हाथों से कराया जाता है शरीर भी पोंछा जाता है, देवता कुछ नहीं करता है इसी तरह भगवान् ने भी अपने हस्तों से सुदामा ब्राह्मण की पूजा की ॥१८॥

आभास—एवं भगवन्तं स्तुत्वा धनादानात् अन्यथावचनं प्राप्नोति तन्निराकरणार्थं हेत्वन्तरमेवात्र स्थापयति **स्वर्गापवर्गयो**रिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की स्तुति कर धन न देने से दूसरे प्रकार के वचन कहेगा उसके निराकरण के लिए दूसरा हेतु यहां स्थापित करते हैं 'स्वर्गापवर्गयोः' श्लोक में—

श्लोक—**स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि संपदाम् ।**
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—स्वर्ग, मोक्ष और पाताल लोक के सुख, ऐहिक सम्पत्ति और सर्व प्रकार की सिद्धिओं, इन पाँच प्रकार के फल का मूल कारण भगवान् के चरणारविंद की सेवा ।।१६।।

सुबोधिनी - पञ्चधा हि फलं जगति प्रसिद्धं लोकत्रयसुखं, मोक्षः, अणिमादिसिद्धयश्चेति । तेषां एकमेव हरेः पादसेवनं कारणम् । **पुंसां** सर्वेषामेव न तु कस्यचिदपि देवान्तरोपासकस्य हेत्वन्तरमस्तीति । **मूलं** मुख्यकारणम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—जगत् में तीन प्रकार के फल प्रसिद्ध हैं, १- तीन लोक के सुख, २- मोक्ष, ३- अणिमादि सिद्धियां, इनकी प्राप्ति का मूल कारण एक ही भगवान् के चरणों की सेवा है, सर्व ही पुरुषों का, न कि एक का, अन्य देवों के उपासकों के लिए दूसरा हेतु है यों, किन्तु मुख्य मूल कारण हरि की सेवा है ।।१६।।

आभास—नन्विदानीं चरणसेवार्थं गतस्तदा कथं न दत्तवान् पूर्वं चरणसेवा न कृतेति चेदिदानीं चरणसेवा कृतेति तस्याः कारणतैव न स्यात्। तत्राह **अधनोऽयं धनं प्राप्येति** ।

आभासार्थ—यदि कहो कि चरण सेवा कारण है तो पूर्व चरण सेवा नहीं की अब चरण सेवा **के** लिए भगवान् के पास गया, तब क्यों नहीं दी, इसलिए चरण सेवा कारणता ही सिद्ध नहीं होती है, इसके उत्तर में 'अधनोऽयं धनं प्राप्य' श्लोक कहता है—

श्लोक—**अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।**
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददत् ।।२०।।

श्लोकार्थ - निर्धन धन पाकर अहंकार (घमण्ड) में आ जाएगा, फिर मुझे भूल जाएगा यों सोचकर, मुझे बहुत धन नहीं दिया, क्योंकि दयालु हैं, अतः मुझ पर दया की, जो धन नहीं दिया, यदि देते तो मैं अभिमान (घमण्ड) में आने से भगवत् स्मरण भूल जाता ।।२०।।

सुबोधिनी धनेनावश्यं मदो भवेत् मदेन च विस्मृतात्मा **मां** सुतरामेव **न स्मरेत्** । ततः स्मरणाभावे सर्वनाशः । **इति कारुणिको** भगवान् **मे भूरि धनं नाददत्** अल्पं तु दत्तवानिति सूचितम् ।।२०।।

व्याख्यार्थ - धन से मद अवश्य होता है, मद से अपनी तथा प्रभु की विस्मृति हो जाती है, इसको धन दूँगा तो मुझे भूल जाएगा, मुझे भूल जाने से इसका सब नाश हो जाएगा, अतः दयालु भगवान् ने बहुत ऐश्वर्य नहीं दिया, स्वल्प तो दिया, इससे यों सूचित किया है ।।२०॥

आभास—उपसंहरन्नग्रिममाह **इति तच्चिन्तयन्निति** ।

आभासार्थ—'इति चिन्तयन्' श्लोक से उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम् ।**
सूर्यानलेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार विचार करता हुआ वह ब्राह्मण अपने गृह के पास आ पहुंचा । वहाँ देखे तो सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा के समान प्रकाशमान विमान चारों ओर शोभ रहे हैं ।।२१

सुबोधिनी—**तत्प्रमेयं चिन्तयन् निजगृहस्यान्तिकं प्राप्तः** । अपूर्वं दृष्टवानित्याह **सूर्यानलेन्दुसंकाशैरिति** द्वाभ्याम् । उपरि परितो मध्ये च वर्णयति । सूर्यस्य दिवसेप्रकाशः, अग्नेः सन्ध्यायां, चन्द्रस्य च रात्रौ, विमानानि तु कालत्रयेऽपि शोभायुक्तानि । एतादृशैर्मनोभिलषितसुखावहैः **सर्वतो** व्याप्तम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ—उस प्रमेय को विचारता हुआ अपने गृह के पास आ पहुँचा वहां आगे जो न देखा था वह नवीन देखा, ऊपर, चारों तरफ और मध्य में क्या था ? इसका वर्णन करता है, सूर्य का दिन में प्रकाश होता है, अग्नि का सन्ध्या के समय उजाला होता है, चन्द्रमा का रात्रि को प्रकाश होता है, वहाँ विमान तो तीनों कालों में भी शोभा वाले थे, मन के अनुकूल सुख देने वाले विमानों से चारों तरफ घिरा हुवा था ।।२१।।

आभास—ततः परितः शोभामाह **विचित्रोपवनोद्यानैरिति** ।

आभासार्थ—इसके बाद चारों तरफ जो शोभा हो रही थी उसका 'विचित्रो'-श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—**विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः ।**
प्रफुल्लकुमुदाम्भोजकल्हारोत्पलवारिभिः ।।२२।।

श्लोकार्थ—जिनमें अनेक पक्षियों के कुल कलरव कर रहे हैं वैसे विचित्र उपवन वाला, प्रफुल्लित कुमुद, कल्हार और उत्पल जिसमें शोभा दे रहे हैं वैसे जलाशयों वाला ।।२२।।

सुबोधिनी—**उपवनं** फलप्रधानं, **उद्यानं** पुष्पप्रधानम् । अवान्तरभेदपरिग्रहार्थं बहुवचनम् । **कूजद्द्विजानां** कूजद्विहङ्गानां **कुलानि** जातिविशेषाः **तैराकुलानि** । फलपुष्पसमृद्धिर्निरूपिता । तामसराजसभावान्निरूप्य सात्त्विकान् भावानाह **प्रफुल्लानि कुमुदानि** येषु वारिषु तैः पुष्करिणीस्थैः सर्वतो वृतम् । **कुमुदं** रात्रिविकासि अव्यवस्थितं, **अम्भोजकल्हारोत्पलानि** दिनसन्ध्यारात्रिविकास-युक्तानि नियतानि ।।२२।।

व्याख्यार्थ— जिसमें फलों की प्रधानता होती है, उसे उपवन कहते हैं और जिसमें पुष्पों की प्रधानता होती है, उसे उद्यान कहते हैं, बहुवचन देने का तात्पर्य है, कि इनके अन्य भी प्रकार हैं- कलरव करने वाले अनेक पक्षियों के कुलों से व्याप्त यों कहकर फल और पुष्पों की समृद्धि बताई, इस प्रकार तामस राजस भावों का निरूपण कर, सात्विक भावों को कहते हैं-पोखरिणी जलों में खिले हुए कुमुदों से व्याप्त है। 'कुमुद' रात्रि में विकसित होते हैं और व्यवस्थित नहीं, कमल दिन को, कल्हार सन्ध्या को और उत्पल रात्रि को नियत विकास पाते हैं ।।२२।।

आभास— मध्यं वर्णयति **जुष्टं स्वलंकृतैः पुम्भिरिति** ।

आभासार्थ - मध्यका 'जुष्टं स्वलङ्कृतैः' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—**जुष्टं स्वलंकृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः ।**
किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ।।२३।।

श्लोकार्थ - शृङ्गार किए हुए पुरुष व मृगनयनी नारियों से सुशोभित स्थान देख विचारने लगा कि यह क्या? यह स्थान किसका है? क्या यह स्थान वह ही है, जहाँ मेरा गृह था; तो फिर यों कैसे हो गया ? ।।२३।।

सुबोधिनी—**स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः** परम-सौन्दर्ययुक्ताभिः । एवंविधं गृहान्तिकस्थानं दृष्ट्वा गन्धर्वनगरादिशङ्कया अलौकिकं किंचित्संभावयति **किमिद**मिति । इदं परिदृश्यमानं गन्धर्वनगरमायावैभवादीनामन्यतरत् आहोस्विद् सत्यमेवेति । ततः स्थिरतां पदार्थानां दृष्ट्वा स्वस्यैव भ्रमात् स्थानान्तरगमनं संभावयति **कस्य वा** स्थानान्तर**मिद**मिति । ततोऽपि परितो भागान् दृष्ट्वा मदीयमेवैतत् **स्थान**मिति निश्चित्य **तद**तिहीनमस्मद्गृहं **इद**मेतादृशं **कथमभू**दिति चिन्तितवान् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—परम सौन्दर्य से युक्त मृगनयनी स्त्रियोंवाला इस गृह का भीतरी भाग देखकर, गन्धर्वनगरादि की शङ्का से विचार मग्न हो कुछ अलौकिक की संभावना समझ कहने लगा, कि यह क्या ? यह जो मैं देख रहा हूँ वह, गन्धर्व नगर के माया का वैभव आदि में से एक है ? वा सत्य ही है, पश्चात् पदार्थों की स्थिरता देख कहने लगा कि- मैं ही भ्रम से दूसरे स्थान पर तो नहीं आ गया हूँ। तो यह किसका दूसरा स्थान है ? पश्चात् चारों ओर के भागों को देखकर निश्चय किया कि यह स्थान तो मेरा ही है, किन्तु वह मेरा घर तो बहुत पुराना और साधारण था, वैसा यह ऐसा सुन्दर कैसे हो गया ? यों विचार करने लगा ।।२३।।

आभास—एवमाश्चर्याविष्ट एव तस्मिन् तन्निर्णयार्थं कौतुकान्तरमाह **एवं मीमांसमानमिति** ।

आभासार्थ इस प्रकार अचम्भे में पड़कर उसका निर्णय करने के लिए 'एवं मीमां समानं' श्लोक में दूसरा कौतुक कहते हैं—

श्लोक—**एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।**
प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ।।२४।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार वह ब्राह्मण विचार ही कर रहा था, तो इतने में देव समान कान्ति वाले पुरुष और स्त्रियाँ बहुत जोर से गाती-बजाती उस महाभाग्यवान् को लेने के लिए सामने स्वागत करने लगे ।।२४।।

सुबोधिनी—पूजितविचारवचनो **मीमांसा**-शब्दः एवमुत्कृष्टार्थविचारकं पुरुषा **नार्यश्च गीतवाद्येन भूयसा प्रत्यगृह्णन्** । नन्वयं पिशाचसदृशः, गीतवाद्यादिकं कथं भजते योग्यत्वाभावादित्याशङ्कयाह **महाभाग**मिति परमभाग्ययुक्तम् । तस्मिन् भगवत्स्वरूपदेवेन्द्रावेशो जातः । अतो योग्यरूप एव सन् नृत्यादिभिः पुरस्कृतो जात इत्यर्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ मीमांसा शब्द का भावार्थ है कि ऐसे विचार के वचन हो जो पूजित हो अर्थात् उत्कृष्ठ विचार वाले वचन हो, यों उत्कृष्ठ विचार करने वाले को पुरुष तथा स्त्रियां गीत गाते वाद्य बजाते हुए बधावने के लिए आए, यह तो पिशाच जैसा दिखता है उसके लिए गीत गाने और बाजे बजाने का कार्य कैसे किया जाता है ? क्योंकि वैसी योग्यता नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'महा भाग' पद दिया है कि यह जो पिशाच जैसा देखने में आता है वह महान् भाग्यवान् है, उसमें भगवान् के स्वरूप और देवेन्द्र आवेश हैं, अतः योग्यरूप वाला है जिससे नृत्य आदि से इसका स्वागत हुआ है ।।२४।।

श्लोक—**पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षाऽतिसंभ्रमात् ।**
निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् । २५।।

श्लोकार्थ—पति के पधारने के समाचार सुन पत्नी अति हर्षित हो, बड़े संभ्रम के साथ, जैसे मूर्तिमति लक्ष्मी घर से निकलती है, वैसे शीघ्र घर से निकलने लगी ।।२५।।

सुबोधिनी—ततः पूर्वं तस्मिन्नेव स्थाने अमरावती प्रादुर्भूता, तस्यां च इन्द्रपत्न्याविर्भावः तेन परमसौन्दर्यं प्राप्तवती, ततो भगवता चिपिटभक्षणोत्तरक्षण एव तादृशीमवस्थां प्राप्ता, कदा पतिरायास्यतीति पतिमेव चिन्तयाना इदानीं **पतिमागतमाकर्ण्य पत्नी** तदेकनिष्ठा **उद्धर्षो**त्फुल्लनयना **अतिसंभ्रमात्**सर्वाभरणभूषिता सर्वैश्वर्ययुक्ता **तूर्णं गृहान्निश्चक्राम** । निष्क्रामन्तीं तां स्थानं च वर्णयति **रूपिणी श्रीः आलयादिवेति** । क्षीरसमुद्रात् कमलालयाद्वा रूपिणी श्रीः कृतावतारा लक्ष्मीः यथा निर्गच्छति ।।२४।।

व्याख्यार्थ पश्चात् सुदामा के आने से पहले ही उसके स्थान पर स्वर्ग-पुरी प्रकट हो गई और उसकी स्त्री में इन्द्राणी का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे वह परम सुन्दरी हो गई । भगवान् ने जिस क्षण में तण्डुल की एक मुट्ठी खाई, उसी समय ऐसी अवस्था हो गई । उसी काल से पति कब पधारेंगे

यों पति का ही चिन्तन कर रही थी, अब पति का आगमन सुन, उस एक में ही स्थिर बुद्धिवाली, वह हर्ष के कारण प्रफुल्लित नेत्र वाली हो गई। बहुत जल्दी सर्व आभरणों से भूषित होकर, सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त, झटपट घर से निकली, निकलती हुई उसका और स्थान का वर्णन करते हैं मानों क्षीर समुद्र में से कमल रूप गृह से अवतार लेकर लक्ष्मी बाहर निकलकर आ रही है ।।२५।।

श्लोक—पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।
मीलिताक्ष्यनमद्बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे ।।२६।।

श्लोकार्थ—पतिव्रता पति को देखकर प्रेम में गद्‌गद हो गई, जिससे नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, आँखें बन्द कर बुद्धिपूर्वक पति को प्रणाम किया और मन से आलिङ्गन किया ।।२६।।

सुबोधिनी—ततः **पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा** मदर्थं भर्त्रा क्लेशः प्राप्त इति चिरात् दूरादागत इति **प्रेमोत्कण्ठा** सती **अश्रुलोचना** जाता । ततो लज्जावशादपशकुनभयाद्वा **मीलिताक्षी** जाता । ततो यथोचितपूजां कृतवतीत्याह **बुद्ध्याऽनमदिति** । विवेकवत्या बुद्ध्यैव भर्तृनमस्कारं कृतवती । **मनसा** चालिङ्गनमेतावदेव च कर्तव्यम् २६।।

व्याख्यार्थ - पतिव्रता पति को देख मन में विचार करने लगी, कि मेरे लिए ही पति ने इतना क्लेश सहा है, इसलिए इतने दिनों के बाद दूर से आए हैं, यों प्रेम में गद्‌गद होने से उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए । पश्चात् लज्जा के वश से अथवा नेत्रों में आए हुए जल को अपशकुन जान आँखे बन्द करली, पश्चात् यथोचित पूजा करने लगी विवेक वाली ने बुद्धि से प्रणाम किया, मन से आलिङ्गन किया, इतना ही करना योग्य है ।।२६।।

आभास—ततो ब्राह्मणः पत्नीं दृष्ट्वा विस्मितो जात इत्याह **पत्नीं दृष्ट्वेति** ।

आभासार्थ—अनन्तर ब्राह्मण पत्नी को देखकर अचम्भे में पड़ गया यों 'पत्नीं दृष्ट्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—पत्नीं दृष्ट्वा प्रस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ।।२७।।

श्लोकार्थ—विमान में बैठी हुई अप्सरा के समान दैदीप्यमान, कण्ठ में सुवर्ण के आभूषण पहने हुई दासियों के मध्य में भासमान अपनी स्त्री को देख, उस ब्राह्मण को बहुत विस्मय होने लगा ।।२७।।

सुबोधिनी—पूर्वापेक्षया **प्रकर्षेण स्फुरन्तीं देवीं** देवतामिव वस्त्रालंकरणादिभिः पूजितां तस्यां तेजोविशेषं भावादिकं **दृष्ट्वा** तामुत्प्रेक्षते **वैमानिकीमिवेति** । यथा विमानस्था अप्सरा भवति ।

ततोप्यतिशयमाह **दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीमिति**। दासीनां विशेषणं रसस्त्रीत्वाय। तासां मध्ये विभान्तीं शोभमानामेतादृशीं दृष्ट्वा, स ब्राह्मणो **विस्मितः**, भगवच्चरित्रमेतादृशमलौकिकमिति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—पूर्व की अपेक्षा विशेष शोभा वाली देवी को, देवता की तरह वस्त्रालङ्कारों से पूजित उसमें विशेष तेज तथा भावादि देख यों मानने लगे कि यह विमान में स्थित अप्सरा सम है, किन्तु उससे भी विशेष है क्योंकि सुवर्ण की मालाओं को धारण करने वाली अनेक दासियों के मध्य में शोभायमान है ऐसी अवस्था में पत्नी को देख अचम्भे में पड़ गया, यों जान गया कि यह सब भगवान् के आलौकिक चरित्र है ॥२७॥

श्लोक—**प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम्।**
मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥२८॥

श्लोकार्थ—वह प्रसन्न हो, अपनी स्त्री के साथ अपने गृह में प्रविष्ट हुआ, वह गृह इन्द्र के भवन के समान सैंकड़ों मणि स्तम्भों से शोभित था ॥२८॥

सुबोधिनी—ततो भगवता कृपयैतद्दत्तमिति निश्चित्य **प्रीतः** सन् **तया युक्तो निजमन्दिरं प्रविष्टः**। तन्मन्दिरं वर्णयति **मणिस्तम्भशतोपेत**मिति। एकमेव भवनं **मणिस्तम्भशतेनोपेतं** यत्र पत्न्या सह स्थितिः : एवं लोकोत्तरं तदित्युक्त्वा सामान्यतः परमोत्कर्षमाह **महेन्द्रभवनं यथे**ति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् यों निश्चय किया कि, यह सब भगवान् ने कृपा कर दिया है, जिससे प्रसन्न हो पत्नी के साथ अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुआ उस मन्दिर का वर्णन करते हैं कि, भवन तो एक ही था जहाँ पत्नी के साथ स्थिति थी किन्तु उसमें एक सौ, मणियुक्त स्तम्भ लगे हुए थे, इस प्रकार वह लोक से उत्कृष्ट था यों कहकर सामान्य रूप से उसकी उत्कृष्टता कहते है कि जैसे महेन्द्र का भवन होता है वैसा ही यह भी है ॥२८॥

आभास—तत्रत्यान् पदार्थान् वर्णयति **पयःफेने**ति त्रिभिः।

आभासार्थ—'पयः फेननिभा' श्लोक से तीन श्लोकों में वहाँ के पदार्थों का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः।**
पल्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥२९॥

श्लोकार्थ—दूध के फेन के समान शय्या, सुवर्ण से मँडे हुए हाथी दाँत के पलङ्ग, सोने के डण्डे वाले चँवर और पंखे ऐसे अन्य उपकरण भी थे ॥२९॥

सुबोधिनी—शयनोपयोगीनि आसनोपयोगीनि गृहोपयोगीनि च वस्तूनि वर्ण्यन्ते **पयःफेननिभाः** शुभ्राः उत्तुङ्गाः **शय्याः**। **दन्तनिर्मिताः पल्यङ्काः रुक्मपरिच्छदाः** सुवर्णेन दन्ता मध्ये योजिताः। **हेमदण्डानि चामरव्यजनानि चका**रादन्यान्यपि शयनसाधनानि ॥२९॥

व्याख्यार्थ—सोने के काम में आने वाली, बैठने के योग्य, गृह के उपयोगी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, दूध के फेन के समान उच्च फूला हुआ, साफ बिछोना, हाथी दाँत से बने 'पलङ्ग' वे दाँत मध्य में सुवर्ण से जड़े हुवे थे, सुवर्ण के दण्डों वाले चंवर और पंखे थे, 'च' पद से यह बताया है दूसरे भी शयन के साधन थे ।।२९।।

श्लोक—**आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च ।**
मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ।।३०।।

श्लोकार्थ—कोमल बिछौनों वाले सोने का सिंहासन और मोतियों की झालरीदार दैदीप्यमान चँदवे शोभ रहे थे ।।३०।।

सुबोधिनी— **आसनान्युपवेशनस्थानानि, हैमानि** सुवर्णमयानि **मृदु**पट्टसन्नद्धानि **आस्तरणानि** मृदुपट्टनिर्मितानि चकारादन्यानि सिंहासनोपयोगीनि । तदुपरि **मुक्तादामविलम्बीनि** चन्द्रातपानि, **द्युमन्ति** च विचित्राणि कान्तियुतानि ।।३०।।

व्याख्यार्थ—बैठने के लिए जो आसन थे वे सब सोने के बने हुए थे, उनके ऊपर जो बिछोने धरे थे, वे सब कोमल पट्ट वस्त्रों से बने हुए थे, 'च' पद से बताया है कि अन्य प्रकार के भी सिंहासन के योग्य बिछौने थे, उनके ऊपर मोतियों की मालाओं की झालरें थीं, व ऐसे हासिये थे जो विचित्र कान्ति वाले चमक रहे थे ।।३०।।

आभास—गृहभित्तीर्वर्णयति **अच्छस्फटिकुड्येष्विति** ।

आभासार्थ—घर की दीवारों का 'अच्छस्फटिक' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक **अच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।**
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ।।३१।।

श्लोकार्थ स्वच्छ स्फटिक मणियों की और मरकत मणियों की भींतों में रत्न के दीप दैदीप्यमान हो रहे थे तथा स्त्री-रत्न शोभ रहे थे ।।३१।।

सुबोधिनी—स्फटिकमया भित्तयः **महामरकतमयाश्च** तेषु सर्वत्र **रत्नप्रदीपा आभान्ति** । **ललना** स्त्रियो **रत्नसंयुताः** चित्रमया रत्नैर्विरचिताः सत्यः स्त्रिय एव वा ।।३१।।

व्याख्यार्थ—घर की भींत स्फटिकमणी तथा महा मरकत मणियों से जड़ी हुई थी, उनमें सर्वत्र रत्नों के दीप शोभा दे रहे थे, भींतों में स्त्रियों की आकृतियां चित्रित थी तथा रत्नों से बनाई हुई स्त्रियों की मूर्त्तियाँ खड़ी थीं अथवा रत्नों से सुशोभित सत्य स्त्रियाँ वहाँ घूम रही थी ।।३१।।

आभास—एवं दृष्ट्वा ब्राह्मणस्य या बुद्धिस्तामाह **तां विलोक्य ब्राह्मण** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार देखकर ब्राह्मण की जैसी बुद्धि हुई, जिसका 'तां विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**तां विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसंपदाम् ।**
तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण वहाँ सर्व प्रकार की सम्पदाओं की समृद्धि देखकर, सावधान हो, विचार करने लगा कि कारण के बिना इतनी समृद्धि मेरे पास क्यों ? ।।३२।।

सुबोधिनी—किं **सर्व संपदां समृद्धीर्दृष्ट्वा** तस्य हेतुं **तर्कयामास** । **निर्व्यग्रः** सावधानः । ननु हेतुः प्रसिद्ध एव भवति किमिति चिन्तनं तत्राह **स्वसमृद्धिमहैतुकी**मिति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—सर्व सम्पदाओं की समृद्धि देखकर इसके आने का क्या कारण है ? सावधान हो के इसका विचार करने लगा, कारण प्रसिद्ध है, विचार की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहता है कि मेरे पास समृद्धि के आने का कोई कारण नहीं है ।।३२।।

आभास—लोकावगतहेत्वभावात् तत्र बहून् हेतून् उत्प्रेक्ष्य निराकरोति **नूनं बतैत**दिति ।

आभासार्थ—लोक में प्रसिद्ध हेतु के अभाव से वहां बहुत हेतुओं का पूर्ण विचार कर 'नूनं बतैतन्मम' श्लोक से निराकरण करता है—

श्लोक—**नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।**
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ।।३३।।

श्लोकार्थ—निश्चय से मन्द भाग्य और जन्म से दरिद्री मुझको ऐसी सम्पदा मिलने का कारण महाविभूतिमान् भगवान् की कृपा दृष्टि बिना दूसरा कोई हो नहीं सकता है ।।३३।।

सुबोधिनी—भगवदिच्छा, अदृष्टं, कालो, ग्रहाः, भगवानेव वेति । तत्रान्ये बाधितविषया इति भगवानेव दृष्टः कारणमिति निर्णयमाह एतत्परिदृश्यमानं **मम दुर्भगस्य** कथम् । **बते**ति हर्षे । कदाचिद्भाग्योदयेन भवतीति चेत्तत्राह **शश्वद्दरिद्रस्ये**ति । सर्वदा दरिद्रोऽहं कथमेकदैव सुसमृद्धो जातः न ह्यकस्मादेवं भाग्यानि भवन्ति । अतो **महाविभूते**र्भगवत **एवावलोक**नादृते **अन्यो हेतुर्नैवोपपद्येत** । लोकेष्वेवं श्रूयते । अकस्माल्लक्ष्म्या दृष्टो महासमृद्धो जात इति भगवांश्च महाविभूतिः महत्यो विभूतयो लक्ष्मी सदृश्यो यस्येति । अत्रोपपत्तिमप्याह **यदूत्तमस्ये**ति । यादवाः पूर्वमत्यप्रयोजकाः स्थिताः इदानीं भगवद्दृष्ट्या अतिसमृद्धाः, दृष्टा उपपत्तिर्यदूत्तम इति ।।३३।।

व्याख्यार्थ—इस सम्पदा के मिलने के कारण भगवदिच्छ, अदृष्ट, काल, ग्रह अथवा भगवान् ही हो सकते हैं। उनमें भगवान् के सिवाय अन्य कारणों का बाध हो सकता है इसलिए इसकी प्राप्ति में देखा जाय, तो भगवान् ही कारण है, जिसका निर्णय कहता है, कि इतनी जो यह सम्पदा प्रत्यक्ष देखी जाती है, वह मुझ अभागे को कैसे मिल सकती है ? 'बत' पद हर्ष वाचक हैं, यदि कहो कि कदाचित् भाग्य से भी सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है, तो इसके उत्तर में कहता है कि मेरा भाग्य कहां, मैं तो निरन्तर सर्वदा ही दरिद्र हूँ, कैसे यकायक ही विशेष सम्पत्तिवान् बन गया, अचानक इस प्रकार भाग्य नहीं बढ़ जाते हैं, अतः महाविभूतिवान् भगवान् की ही कृपा दृष्टि के सिवाय दूसरा कोई कारण बन नहीं सकता हैं। लोकों में यों सुना जाता है, कि अचानक लक्ष्मी की जिस पर दृष्टि पड़ी वह बहुत सम्पतिवान् बन गया जब एक विभूति लक्ष्मी की दृष्टि से बहुत सम्पत्ति स्वतः आ जाती है तो लक्ष्मी जैसी अनेक विभूतियाँ जिनके पास हैं, वैसे प्रभु की दृष्टि पड़ने पर क्या नहीं हो सकता है ? अर्थात् सर्वसिद्धि होने में कोई संशय नहीं है, अतः उनकी कृपा दृष्टि से ही यह सम्पदा प्राप्त हुई है,इसमें उपपत्ति(हेतुपूर्वक युक्ति) बताता है कि आप यदूतम हैं, आपके ही यदुकुल में प्राकट्य होने से, जो यादव पहले अत्यन्त साधारण दशावाले थे, वे अब भगवद्दृष्टि से अतिशय सम्पत्तिमान् हो गये हैं यह देखी हुई उपपत्ति, यदूत्तम है ॥३३॥

आभास—ननु भगवांश्चेद्द्यात् तर्हि कथं न वदेत् अतः संदेह इति चेत्तत्राह **नन्वब्रुवाण** इति।

आभासार्थ—यदि भगवान् ने दी है, तो आपको क्यों नहीं कहा ? इससे संदेह है, इस पर 'नन्वब्रुवाणो' श्लोक कहकर संदेह मिटाता है—

श्लोक—**नन्वब्रुवाणो दिशतेऽसमक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः।**
पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥३४॥

श्लोकार्थ—दाशार्हों (दाशार्हवंशी) में श्रेष्ठ कृष्ण मेरा मित्र है। वह बहुत भोजन करने वाला है। जैसे मेघ स्वयं देखकर जब समझता है कि कृषक की कृषि को जल की आवश्यकता है, तब बिना कहे वर्षा कर देता है; वैसे ही यह मेरा मित्र न कह कर याचक को बिना कहे बहुत दे देता है ॥३४॥

सुबोधिनी—**नन्विति** निश्चये। भगवानेव **याचिष्णवे** एतद्**दिशते** आदिशति प्रदर्शयति प्रयच्छति इत्यर्थः परम**समक्षं अब्रुवाणश्च** इयं प्रयच्छामीति नोक्तवान्, स्वसमक्षं च न दत्तवान्। एतावान् परं विशेष इत्यर्थः। नन्वेतादृशं दातृस्वरूपं न क्वाप्युपलक्षितमिति चेत्तत्राह **पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाण** इति। यथा पर्जन्यः कृषीवलानात्मैकशरणान् निदाघपीडितान् दृष्ट्वा कदाचिच्छयानेष्वेव तेषु तत्सस्यं सर्वमेवाप्याययति। एवं भगवानपि मां तथाविधमेवमाप्यायितवान् **तद्** भक्तानां स्वरूपं स्वय**मेवेक्षमाणः**। ननु तथापि यावदपेक्षितं तावदेव दद्यात्कथं बहु दत्तवानित्याशङ्कयाह **भूर्यपीति**। यतः स्वयं **भूरिभोजः**। ननु वेचि-

त्स्वयं भोक्तारोऽपि परस्मै न बहु प्रयच्छन्तीति चेत् तत्राह दाशार्हकाणामृषभ इति । दाशार्हका दाशार्हाः यादवविशेषाः ते सेवकसमृद्धिवाञ्छायुक्ताः तेषामधिपः स्वसेवकान् दाशार्हांस्तथा कृतवानिति । ननु ते तस्य संबन्धिन इति चेत् तथाहमपीत्याह **सखा म** इति ।।३४।।

व्याख्यार्थ—निश्चय से, भगवान् ही याचक को देते हैं, किन्तु सामने कहकर नहीं देते हैं इसलिए समक्ष नहीं दिया, इतनी विशेषता है, यदि कहो कि ऐसा दाता स्वरूप कहीं भी नहीं देखा है तो इसका उत्तर यह है, कि जैसे मेघ जब देखता है कि, कृषकों का मेरे सिवाय अन्य कोई शरण नहीं है यह गर्मी से पीड़ित हैं तब उनके सोते हुए ही बिना कुछ उन्हें कहे हुए उनका सारा खेत पानी से भर देता है, इसी प्रकार भगवान् ने भी वैसे ही मुझे भर दिया, भक्तों का वह स्वरूप स्वयं ही देख लिया, ठीक है, तो भी आपको जितना चाहिए था उतना ही देता यह तो बहुत दिया है, जिसके उत्तर में कहा कि आप (भूरिभोज) हैं अर्थात बहुत भोक्ता है अतः स्वल्प कैसे देंगे ? थोड़े देने से प्रसन्न नही होते हैं, कितने ही स्वयं बहुत भोक्ता होते हुए भी दूसरे को बहुत नहीं देते हैं, जिसके उत्तर में कहता है, कि दाशार्ह जो यादव विशेष हैं उनमें श्रेष्ठ है । वे सदैव सेवकों की समृद्धि ही चाहते हैं अतः अपने सेवक, दाशार्हों को सम्पत्तिमान् बना दिए, यदि कहो कि वे उनके सम्बन्धी थे, इसलिए उनको बहुत सम्पत्ति दी, तो मैं भी मित्र होने से सम्बन्धी हूँ ।।३४।।

आभास—अन्यदपि भगवद्गुणं स्मृत्वा धीरोदात्तो भगवानेवैवं दातुं समर्थ इति निश्चिनोति **किंचित्करोतीति** ।

आभासार्थ—भगवान् के दूसरे गुण भी स्मरण कर, धीरे और उदात्त भगवान् ही हैं, अतः इस प्रकार देने में वही समर्थ हैं, यों 'किञ्चित् करोति' श्लोक से निश्चय करता है ।

श्लोक—**किंचित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं**
सुहृत्कृतं फल्वपि भूरिकारी ।
मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ।।३५।।

श्लोकार्थ—भगवान् अपने अधिक दिए हुए को भी स्वल्प मानते हैं और भक्त के स्वल्प को भी बहुत मान लेते हैं, मेरी लाई हुई चावलों की एक मुट्ठी को प्रेमयुक्त होकर स्वयं ग्रहण की; क्योंकि महात्मा हैं ।।३५।।

सुबोधिनी—यो ह्यल्पं प्रयच्छति स लज्जया अनुक्त्वा प्रयच्छति । तथा प्रकृते अनुक्त्वा प्रयच्छन्नल्पत्वं ज्ञापयति, अतः **स्वदत्तमुर्वपि किंचित्करोति** । **सुहृत्कृत**मस्मन्नीतं तु तर्पयत्यङ्ग मां विश्वम्' इत्यादिवाक्यैः **फल्वपि** मुष्टिचतुष्टयात्मकमुपायनं **भूरिकारी** । तत्प्रकटीकरोति **मयोपनीत**मिति । भगवानिन्द्रादिभिरप्यानीतमेवममृतं न भक्षयति यथा **पृथुकानामेकमुष्टिं** भक्षितवान् । अतोऽमृतापेक्षयापि पृथुकानां मानदानत्वाद्भूरिकारित्वम् । तत्रापि **प्रीतियुतः** परमापेक्षितपदार्थं प्राप्त इव । स्वयं तु **महात्मा** कोटिब्रह्माण्डनायकः ।।३५।।

व्याख्यार्थ –जो स्वल्प देता है, उसको लज्जा आती है जिससे वह बिना कुछ कहे दे देता है। वैसे प्रकृत विषय में बिना कहे देकर, इतनी बड़ी सम्पदा का भी भगवान् अल्पत्व प्रकट करते हैं। मित्र का किया हुआ अर्थात् मैं जो भेंट ले गया तो उसको 'तर्पयत्यङ्ग मां विश्वं'[1] इत्यादि वाक्यों से चार मुट्ठी भर थोड़ी सी भेंट को भी बहुत मान लिया है, वह 'मयोपनीतं' से प्रकट करता है, भगवान् इन्द्रादिक देवों द्वारा अमृतादि भेंट लाई गई को भी इस प्रकार नहीं आरोगते हैं जैसे कि मेरी भेंट के चावलों की एक मुट्ठी आरोगी है, अतः अमृत की अपेक्षा से भी चाँवलों को मान देने से, वे भूरि (बहुत) हो गये हैं, उसमें भी प्रेम पूर्वक प्राप्त करने से व आरोगने से परम अपेक्षा वाली मेरी भेंट सिद्ध कर दिखाई है यों तो आप महात्मा कोटि ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं ।।३५।।

आभास—तस्मादेवं भक्तवत्सलः कोऽपि नास्तीति तत्सम्बन्धा मम बहवो भवन्त्विवति प्रार्थयते **तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री**ति ।

आभासार्थ—इस कारण से ऐसा भक्तवत्सल कोई भी नहीं है, उनके साथ मेरे सम्बन्ध बहुत हों, इस 'तस्यैव मे' श्लोक से प्रार्थना करता है—

श्लोक—**तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री-**
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ।।३६।।

श्लोकार्थ—मुझे जन्म-जन्म में उनके लिए ही प्रेम और उनसे ही सखाभाव, सौहृद एवं मैत्री तथा उनका ही दास होकर रहूँ और महानुभाव तथा गुणों के आलय भगवान् में आसक्ति होवे, उनके भक्तों का सत्सङ्ग मिले, यही उनसे प्रार्थना है।३६।

सुबोधिनी – प्राणिनो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि चतुर्विधानि भवन्ति । तत्र हृदयस्य संबन्धः सौहार्देन भवति सौहार्देनैव स्मरणम् । **सख्यं** प्राणस्य, स हि सर्वत्र जीवमुपयाति सखायमेवानुगच्छति । भगवांश्चेन्मत्प्राणानां सखा भवेत्तदा तमेवानुगच्छेयुरिति तात्पर्यम् । इन्द्रियाणां **मैत्री** तानि मित्रानुगुणमेव कुर्वन्ति । **दास्यं** देहस्य । एतच्चतुष्टयं मम पूर्वं स्थितमेव, अन्यथा भगवत्संबन्धः कथं भवेत् । **पुनर्जन्मनि जन्मनि स्या**दिति प्रार्थना । यत्र याञ्चाभावेपि समृद्धिमेतावतीं दत्तवांस्तत्र किं न दद्यादिति गृहे प्रविष्टो याचते । नन्वेकस्मिन् जन्मनि एकेन सह जातम्, जन्मान्तरे शिवेनान्येन वा प्रार्थ्यतां कोयं निर्बन्ध इति चेत् तत्राह **महानुभावेन गुणालयेने**ति । स हि **महानुभावः** तत्सेवकसेवकेष्वपि न संसारादिधर्मा भवन्तीति । किंच । **गुणालयेन** गुणानां स एव एक आलयः आकरः । ननु तत्र सख्यार्थं जन्मादिप्रार्थनायां तत्र विषयैः सह आसङ्गः स्यात् तदा अनर्थो भवेदित्याशङ्क्याह **विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्ग** इति । तदा भगवद्भक्तैः सह सङ्गो भवतु तेनैवासङ्गदोषो निवर्तिष्यत इत्यर्थः ।।३६।।

१- हे अङ्ग ! यह भेंट मुझे और विश्व को तृप्त करती है ।

व्याख्यार्थ—प्राणी को देह इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण चार प्रकार होते हैं उनमें से हृदय का सम्बन्ध सौहार्द से होता है। सौहार्द होने से हो स्मरण, बन सकता है। प्राण का सखा भाव से सम्बन्ध होता है, वह ही जीव के पास जाता है, अतः सखा के पीछे ही जाता है। यदि भगवान् मेरे प्राणों के सखा बन जावे, तो तब मेरे प्राण उनकी ओर ही जाएंगे, यही तात्पर्य है, इन्द्रियों का सम्बन्ध मैत्री से है, वे इन्द्रियाँ मैत्री की तरह ही बर्ताव करेगी, देह का सम्बन्ध दासपन से है, अर्थात् दासत्व प्राप्त हुवा भगवान् के साथ देह का सम्बन्ध सर्वदा बना रहेगा, ये चार ही मेरे पहले भगवान् में स्थित हैं, नहीं होते, तो भगवान् से मिलाप कैसे हो सकता ? फिर जन्म जन्म में वैसा ही रहे यह प्रार्थना है, जहाँ बिना मांगे भी, इतनी सम्पत्ति दे दी तो वे क्या नहीं देंगे अर्थात् सब कुछ मांगने पर तो देंगे ही, यों गृह में प्रविष्ट हो माँगने लगा।

एक जन्म में एक कृष्ण से ये सम्बन्ध हुए तो दूसरे जन्म में शिव से या दूसरे किसी से हो, वैसी प्रार्थना करो, एक के लिए ही आग्रह क्यों ? यदि यों कहते हो, तो इसका उत्तर यह है, कि वे महानुभाव हैं, जिसमे उनके सेवक के सेवकों में भी संसारादि धर्म नहीं हैं। और विशेष यह है कि गुणों की निधि वे ही हैं, उनमे सख्य आदि के लिए जन्म लेने की प्रार्थना करते हो, तो जन्म लेने पर विषयों में आसक्ति होगी तो अनर्थ हो जाएगा, इसके उत्तर में कहता है, कि अनर्थ न होगा क्योंकि तब भगवद्भक्तों से सङ्ग होगा, उससे विषयादि में सङ्ग नहीं होगा जिससे अनर्थ करने वाले सङ्ग के दोष स्वतः निवृत्त हो जाएंगे ।।३६।।

आभास—ननु तस्मिन् जन्मनि धनराज्यादिसंपत्तौ न भगवद्भक्तैः सह सङ्गः न वा निस्तार इति चेत् तत्राह **भक्ताय चित्रा** इति ।

आभासार्थ—यदि कहो, कि उस जन्म में धन राज्य आदि सम्पत्ति होने पर भगवद्भक्तों से सङ्ग नहीं हो सकेगा तो, निस्तार भी नहीं होगा, इसके उत्तर में 'भक्ताय चित्रा' श्लोक कहता है—

श्लोक—**भक्ताय चित्रा भगवान् हि संपदो**
राज्यं विभूतीर्न समर्धयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं
पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ।।३७।।

श्लोकार्थ—धनी पुरुषों के धन के मद से नीच जन्म होते देखकर, विचक्षण भगवान् अपने अज्ञानी भक्तों को विचित्र सम्पदा, राज वा विभूतियाँ नहीं देते हैं, अपितु दृढ़ भक्ति ही देते हैं, मुझ में तो अब सम्पदाओं के मिल जाने से वह भक्ति नहीं रही, इसलिए अब भक्ति ही माँगता हूँ ।।३७।।

सुबोधिनी--**भगवान्** विचित्रा बुद्धिव्यामोहिकाः **संपदः** भक्ताय **न समर्धयति** । तथा **राज्यं विभूतीरै**श्वर्याणि च । तत्र हेतुः **अज** इति स्वयं न जातः । अनेन षड्भावविकारा निराकृताः ।

अतः स्वार्थं सेवकानां समृद्धिं न करोतीत्यर्थः । तेषामेवार्थं करिष्यतीति पक्षं दूषयति **अदीर्घबोधायेति** । यतः संपदादयः अदीर्घबोधाय भवन्ति । दीर्घबोधाभावाय नाशाय वा । अतो भक्तानां दीर्घबुद्धिर्न भविष्यतीति, जाता वा नाशं यास्यतीति न समर्थयति । नात्रान्यकथनापेक्षा यतः स्वयमेव **विचक्षणः** । कदाचिद्विस्मरणे का गतिरिति चेत्तत्राह **पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवमिति** । धनिनां धनमदपातदर्शनमेव भगवत्स्मारकमित्यर्थः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—भगवान् बुद्धि को मोहित करने वाली विचित्र सम्पदाएं भक्तों के यहाँ नहीं बढ़ाते हैं, अर्थात् नहीं देते हैं, वैसे ही राज्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य भी नहीं देते हैं । उसमें कारण यह है, कि आप 'अज' होने से स्वयं जन्मा ही नहीं है, यों कहकर भगवान् में षड् विकारों का निराकरण किया है । अतः अपने लिए सेवकों की समृद्धि नहीं करते हैं । अपने लिए नहीं, तो उनके लिए तो करते होंगे, इस पक्ष को भी दूषण देते हैं, कि उनके लिए भी नहीं करते हैं क्योंकि सम्पदाएँ पूर्ण ज्ञान का अभाव करने वाली हैं, अथवा नाश करने वाली हैं, अतः सम्पदा होने से भक्तों की दीर्घबुद्धि नहीं होगी, अर्थात् ज्ञान वाली नहीं होगी यदि हो भी जावे, तो पुनः नष्ट हो जाएगी वह ज्ञान स्थिर नहीं रहेगा इसलिए भक्त की सम्पदा नहीं बढाते हैं । इस विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वयं (खुद) ही विचक्षण हैं, विचक्षण भी कभी भूल जाता है इस पर कहता है, कि ये भूलेंगे नहीं, क्योंकि धनिकों की सम्पदा से मद(अभिमान) बढ़ता है, यह आप देख रहे हैं, इसलिए भूलेंगे नहीं किन्तु सोचेंगे, कि धनियों के धन से उत्पन्न मद का पात देखना ही भगवान् का स्मारक बनता है ।।३७।।

आभास—एवं भगवति सख्यादिकमेव निश्चित्य तत्परो भूत्वा त्यागार्थं विषयोपभोगं कृतवानित्याह **इत्थं व्यवसितमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् मेरा सखा आदि बना रहे, यह निश्चयकर उन प्रभु के ही परायण हो, त्याग के लिए विषयों का उपभोग करने लगे—

श्लोक—इत्थं व्यवसितो बुद्धया भक्तोऽतीव जनार्दने ।
विषयान् जायया त्यक्ष्यन् बुभुजेऽनतिलम्पटः ।।३८।।

श्लोकार्थ—भगवान् का परमभक्त सुदामा इस प्रकार बुद्धि से निश्चयकर विषयों का शनैः-शनैः त्याग करता हुआ अति आसक्त न होकर स्त्री के साथ विषयों का उपभोग करने लगा ।।३८।।

सुबोधिनी—एवं **बुद्धया** निश्चीय स्वयं च **जनार्दने भक्तो** भूत्वा **जायया** सह तदर्थमेव एतावज्जातमिति कियत्कालानन्तरं तान् **विषयांश्च** त्यक्षामीति **अनतिलम्पटः** किंचिल्लम्पटो भूत्वा अन्यथा रसो न भवतीति **बुभुजे** ।।३८।।

व्याख्यार्थ—इसी तरह बुद्धि से निश्चय कर, स्वयं जनार्दन का भक्त बनकर, उसमें ही भक्ति स्थिर कर, स्त्री के साथ कुछ लम्पट सा बनकर विषयों को भोगने लगा, यदि स्वल्प भी लम्पट न

बने तो रसका अविर्भाव न होवे मन में तो यह भावना थी, कि ये सर्वसम्पदाएं इस स्त्री के कारण ही प्राप्त हुई हैं, अतः कुछ काल तक इसका मनोरथ पूर्ण कर, बाद में विषयों का त्याग ही करूँगा ॥३८॥

आभास—एवं तस्य चरित्रमुक्त्वा भगवतोऽयं ब्रह्मण्यत्वगुण उक्त इति ज्ञापयितुं स्तौति **तस्य वै देवदेवस्येति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसका चरित्र कहकर भगवान् का यह ब्रह्मण्यत्व गुण कहा, यह ज्ञापन करने के लिए 'तस्य वै' श्लोक से स्तुति की जाती है—

श्लोक— **तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।**
ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—देवों के देव, यज्ञ के पति, भक्त दुःखहर्ता, प्रभाववान् भगवान् के प्रभु और देव, ब्राह्मण ही हैं, उनकी आज्ञा का पालन स्वयं करते हैं और इनकी पूजा भी करते हैं, अतः इनसे विशेष अन्य कोई भी नहीं है ॥३९॥

कारिका—**पूज्यो दुःखप्रहर्ता च कर्माध्यक्षः प्रभुस्तथा ।**
चतुर्विधो महान् लोके तादृशोपि द्विजप्रियः ॥

कारिकार्थ - भगवान् लोक में पूज्य, दुःखों को मिटाने वाले, कर्मों के अध्यक्ष तथा सर्व समर्थ हैं, इस प्रकार चार तरह से महान् होते हुए भी द्विजप्रिय हैं अर्थात् सबसे विशेष ब्राह्मण उनको प्यारे हैं ।

सुबोधिनी - तदाह **तस्य** प्रसिद्धस्य । **देवानामपि देवस्य** । सर्वदुःखहर्तुः यज्ञभोक्तुर्नियन्तुः एतादृशस्यापि **ब्राह्मणाः प्रभवः दैवं** च । आज्ञां करोति पूजयति चेत्यर्थः । किंच । भगवतो विचारेन **तेभ्यः** किंचिदुत्तमं वर्तते । अनेन दाक्षिण्यात्तान्मानयतीति पक्षो निवारितः ।

व्याख्यार्थ—उस प्रसिद्ध देवों के देव सर्वदुःखहर्ता, यज्ञ भोक्ता और नियन्ता के ब्राह्मण प्रभु हैं और दैव हैं, उनकी आज्ञा मानते हैं और उनकी पूजा भी करते हैं, और विशेषता यह है, कि भगवान् के विचार में ब्राह्मणों से उत्तम अन्य कोई नहीं है, इससे उनका आदर दाक्षिण्य के कारण करते हैं इस पक्ष का निराकरण किया ॥३९॥

कारिका—**शुद्धास्त एव वक्तारो माहात्म्योक्तौ विचक्षणाः ।**
निःस्पृहा ज्ञानसंयुक्ता मोक्षयोग्या हरिप्रियाः ॥३९॥

कारिकार्थ—जो निःस्पृह हैं, ज्ञानवान् हैं, माहात्म्य कहने में चतुर हैं; वे ही शुद्ध वक्ता हरि के प्रिय मोक्ष पाने के योग्य हैं ।।

आभास—एवं ब्रह्मण्यत्वं गुणं स्थापयित्वा ततः सुदाम्नः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **एवं स विप्रो भगवानिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् में ब्रह्मण्यत्व गुण हैं इसकी स्थापना कर पश्चात् सुदामा का क्या हुआ ? इस आकांक्षा में 'एव स' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**एवं स विप्रो भगवान् सुहृत्तदा**
दृष्ट्वा स्वभक्तैरजितं पराजितम् ।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ।।४०।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार भगवान् का भक्त सुदामा भगवान् को अजित मानता है तो भी भक्तों से पराजित अर्थात् उनके वश समझकर, इनके ध्यान के वेग से आत्मा के बन्धन को तोड़कर भगवान् के धाम को और सत्पुरुषों की गति रूप भगवान् को स्वल्प समय में ही प्राप्त हो गया ।।४०।।

सुबोधिनी—भगवदावेशात् **भगवान्**, भगवतः **सुहृच्च** । भगवत्सुहृदा । **अजितं सर्वैरपि, भक्तैः पराजितं** सर्वावश्योऽपि भक्तवश्य इति सर्वेश्वरे वशे जाते सर्वपुरुषार्थाः करस्थिता इति । **तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन** इति तस्य ध्यानवेगेनैव उद्ग्रथिता आत्मानः सर्व एव अविद्यादिबन्धाः यस्येति तथाविधो भूत्वा भगवच्चिन्तनेनैव **तद्धाम लेभे** वैकुण्ठं प्राप्तवान् । ततः **अचिरतः** शीघ्रमेव **सतां गतिं** भगवन्तमपि, पश्चाच्च सायुज्यं प्राप्तवानित्यर्थः ।।४०।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में सुदामा को भगवान् और भगवान् का सुहृद कहा है, सुहृद तो ठीक किन्तु भगवान् कैसे कहा ? इस शङ्का का आचार्यश्री निवारण करते हैं, कि सुदामा में भगवान् का आवेश हो जाने से भगवान् कहा है. अथवा भगवत्सुहृत् पाठ समझा जावे, जिसका स्पष्ट अर्थ होगा भगवान् का मित्र, यद्यपि भगवान् को कोई भी जीतकर अपना आज्ञाकारी नहीं बना सकता है, किन्तु भक्तों से पराजित होकर भक्तों के ही केवल वश हो जाते है अन्य किसी के भी वश नहीं होते हैं जब सर्व के ईश्वर वश में आ गए तो सर्व पुरुषार्थ हाथ में आ गए, उनके ध्यान वेग से ही उस ब्राह्मण के सकल अविद्या के बन्धन टूट गए, यों होने पर भगवान् के चिन्तन आदि से उनका धाम प्राप्त कर लिया अर्थात् वैकुण्ठ को प्राप्त कर लिया, पश्चात् शीघ्र ही सत्पुरुषों की गति भगवान् को भी अनंन्तर सायुज्य को प्राप्त कर लिया ।।४०।।

आभास—एवं सुदाम्न उद्धारमुक्त्वा तस्य पश्चादपि लोके कीर्तिर्भवत्विति एतदुपाख्यानस्य श्रवणफलमाह **एतद्ब्रह्मण्यदेवस्येति** ।

आभासार्थ—इसी तरह सुदामा का उद्धार कहकर, उसकी कीर्ति लोक में सदैव रहेगी, इसलिए उसके चरित्र श्रवण का फल 'एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।**
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ।।४१।।

श्लोकार्थ—मनुष्य ब्रह्मण्यदेव की यह ब्रह्मण्यता सुनकर भगवान् में भाव प्राप्त कर कर्म बन्धन से छूट जाता है ।।४१।।

सुबोधिनी--एतदित्यव्ययम् । इमां **ब्रह्मण्यतां श्रुत्वा नरो भगवति लब्धभावो** भवति नराणामैहिके दृढा दृष्टिरिति तद्भगवान् करोतीति भगवद्भावो दृढो भवति । ततः **कर्मबन्धाद्विमुच्यते** यत्रैतच्छ्रोतुरपि मोक्षः तत्र सुदाम्नो मोक्षे कः संदेहः । एवं भुक्तिमुक्तिप्रदो भगवानेवेत्युक्तम् । अन्यदपि फलं भगवान्प्रयच्छतीति च । एवं निरुद्धानां फलदाता निरूपितः ।।४१।।

व्याख्यार्थ—'एतत्' शब्द अव्यय है, इस ब्रह्मण्यता को सुनकर मनुष्य भगवान् में भाव प्राप्त करता है। मनुष्यों की इस लोक में जो दृढ़दृष्टि होती है वह भगवान् करते हैं,यों भगवद्भाव दृढ़ होता है। भगवद्भाव दृढ़ होने से मनुष्य कर्मबन्धन से छूट जाता है। जहाँ इस चरित्र के सुनने वाले का भी मोक्ष हो जाता है, वहां सुदामा के मोक्ष में कौनसा संदेह? इस प्रकार भोग और मोक्ष देने वाले कोईनहीं, भगवान् ही हैं और अन्य फल भी भगवान् ही देते हैं इस प्रकार निरुद्धों का फलदाता भगवान् ही है यह निरूपण किया ।।४१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम् ।। ३२ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७८वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्विक फल अवान्तर प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा रहा है । अष्ट छाप के श्री नन्ददासजी कृत 'सुदामा चरित' अन्यत्र देने का प्रयास किया जावेगा ।

卐

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८२वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७९वां अध्याय

उत्तरार्ध ३३वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—५"

भगवान् श्रीकृष्ण व बलराम से गोप-गोपियों की भेंट

कारिका—सात्त्विकप्रक्रियायां तु षड्भिः षड्भिस्त्रयं जगौ ।
प्रमेयसाधनफलं धर्मास्तत्र निरूपिताः ॥१॥

धर्मिणोऽत्र त्रयो वाच्यास्तत्राध्यायत्रयं मतम् ।
सात्त्विके तु प्रमेये हि धर्मो यादृग्विधो मतः ॥२॥

त्रयस्त्रिंशे तथाध्याये प्रथमं स निरूप्यते ।
सर्वाभीष्टः सर्वसाक्षी सर्वप्रियहितैषणः ॥३॥

तीर्थैकगम्यो ज्ञानात्मा गुरुर्मोक्षप्रदः परः ।
सात्त्विकानामेकमेव साधनं गुणवर्णनम् ॥४॥

कारिकार्थ—सात्त्विक प्रकरण में धर्मरूप प्रमेय, साधन और फल छः-छः अध्यायों से निरूपण किए, अब तीन अध्यायों से साथ में ही धर्मी रूप 'प्रमेय','साधन' और 'फल' का निरूपण करते हैं। सात्त्विक 'प्रमेय' में जैसा धर्मी माना गया है। पहले वह इस उत्तरार्ध के तैंतीसवें अध्याय में कहते हैं। धर्मी वह है, जो सर्व को अभीष्ट हो, सबका साक्षी हो, सबका प्रिय हो और सबका हित करने वाला हो; वैसा धर्मी तीर्थ पर ही प्राप्त हो सकता है, जो ज्ञान से पूर्ण हो और मोक्षदाता तथा 'पर' हो। वैसे धर्मी की प्राप्ति का साधन एक ही गुणगान है ।।१-४।।

कारिका— **सरसस्य श्रुतिश्चापि तदग्रे विनिरूपितम् ।**
ततः फलात्मा स हरिः सर्वाभीष्टप्रपूरकः ।।५।।

देशकालौ तथा चाङ्गं ततस्तत्रैव तत्त्रयम् ।
तामसा राजसाः प्रोक्ता राजसाश्चैव सात्त्विकाः ।।६।।

ततोऽध्याये प्रमेयेऽत्र सर्वे सात्त्विकतां गताः ।
प्रमेयमेतदेवात्र यदा सर्वेऽत्र सात्त्विकाः ।७।।
तदा प्रमेयो भगवान्नान्यथेत्युच्यते स्फुटः ।

कारिकार्थ—इसके अनन्तर आने वाले अध्याय में रस सहित चरित्र का एवं रूप का निरूपण होगा, उसका ही श्रवण और कीर्तन करना साधन है। इसके बाद फलात्मा, सबका अभीष्ट करने वाले[1] हरि का निरूपण किया गया है। इस कारण से इसी अध्याय में देश[2], काल[3] और अङ्ग[4] इन तीनों का वर्णन है। इस प्रमेय रूप प्रभु के वर्णन से तामस से राजस, राजस से सात्त्विक बन गए। इसी प्रकार जब सब सात्त्विक हुए, तब यह निश्चय है कि यह ही प्रमेय स्वरूप भगवान् स्फुट कहा है अन्यथा नहीं ।।५-७½।।

आभास— इदानीमध्यायत्रयेण भगवत्साक्षात्कारः। भगवदीयानां साधनं तेषां फलं च क्रमेण निरूप्यते। तत्र प्रथमं सात्त्विकानामपि सर्वोत्कृष्टानां ग्रहणादिकाल-

१- जिसको सब चाहते हों। २- यज्ञ करने से वह पवित्र देश है।
३- ऋत्विजों को दान देने से दान का काल है।
४- यज्ञ रूप क्रिया शक्ति भी वहाँ है, क्योंकि मखैः' यज्ञ से वह शक्ति वहां रही है,

विशिष्टे कुरुक्षेत्रादावेव भगवद्दर्शनं नान्यत्रेति निरूप्यते। तदर्थं कुरुक्षेत्रयात्राप्रसङ्गः। तीर्थमपि गृहं चेत्तदा न फलतीति मथुरातो द्वारकातश्च सर्वेषां गमनम्।

तत्र कालस्य प्राधान्यात्प्रथमं सूर्यग्रहणमाह **अथैकदेति।**

आभासार्थ—अब तीन अध्यायों से भगवत्साक्षात्कार का वर्णन होता है। प्रथम भगवदीयों का साधन, तथा उनका फल, क्रम से कहते हैं. सबसे उत्कृष्ट (उत्तम) सात्विकों को भी ग्रहणादि उत्तम काल वाले कुरुक्षेत्र आदि में ही भगवान् के दर्शन होते हैं, दूसरे स्थान पर नहीं, यों निरूपण किया जाता है।

इसलिए ही प्रथम कुरुक्षेत्र की यात्रा का प्रसङ्ग कहते हैं। मथुरा, द्वारका भी तीर्थ हैं फिर कुरुक्षेत्र क्यों गए जिसके उत्तर में आचार्य श्री आज्ञा करते हैं, कि यदि तीर्थ अपना गृह हो गया हो, तो वह तीर्थ फल नहीं देता है। इसलिए सब मथुरा और द्वारका अपना गृह छोड़ कुरुक्षेत्र गए। काल की प्रधान्यता होने से प्रथम श्री शुकदेवजो 'अथैकदा' श्लोक में सूर्यग्रहण का वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**अथैकदा द्वारकायां वसतो रामकृष्णयोः।**
सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥१॥

श्लोकार्थ श्री शुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्ण और बलदेवजी जब विराजते थे, तब एक दिन प्रलयकाल में जैसे हो, वैसा बड़ा भारी सूर्य ग्रहण हुआ ॥१॥

सुबोधिनी—राहुग्रस्तदिवाकरान्नान्यो मुख्यः कालः स च कालः सर्वनाशक इति भगवति विद्यमाने कदाचिन्न भवेदित्याशङ्क्याह **रामकृष्णयोर्द्वारकायामेव वसतोः। यथा कल्पक्षये** कल्पक्षयनिमित्तं तत्सूचकः **सूर्योपरागः** सर्वग्रासात्मको भवति। एवं भगवति विद्यमानेपि जातः भूभारहरणं सूचयिष्यति ॥१॥

व्याख्यार्थ—राहु से ग्रस्त सूर्य से विशेष दूसरा कोई मुख्यकाल नहीं हैं, और वह काल सर्व का नाश करने वाला है यों भगवान् के विद्यमान होते हुए कदाचित् न भी होवे, किन्तु भगवान् श्री राम कृष्ण दोनों के द्वारका में विराजमान होते हुए भो हुआ वह सूर्यग्रहण साधारण नहीं हुआ, किन्तु जैसे कल्प के क्षय का कारण एवं उसकी सूचना करने वाला, सर्व ग्रासात्मक सूर्यग्रहण हुआ भगवान् के विराजते हुए वैसा सूर्य ग्रहण क्यों हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह ग्रहण सूचना करता है, कि अभी पृथ्वी पर जो बोझ बढा है वह नष्ट होगा ॥१॥

आभास—ततः किमत आह **तं ज्ञात्वेति।**

आभासार्थ—पश्चात् क्या हुआ ? इसलिए 'तं ज्ञात्वा' श्लोक कहते हैं।

श्लोक— **तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।**
स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ।।२।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ज्योतिषियों द्वारा सूर्य ग्रहण होगा, वैसा जान कर पहले ही श्रेय की अभिलाषा से सब स्थानों से सब कुरुक्षेत्र जाने लगे ।।२।।

सुबोधिनी ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्यात् पूर्वमेव माघे मासि ग्रहणं जायत इति श्रुत्वा **स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं** कुरुणा निर्मितं देशानां मध्ये मुख्यम् । **श्रेयोविधित्सया** तत्र गत्वा श्रेयः संपादयिष्याम इति निश्चित्य तस्मिन् समागताः ।।२।।

व्याख्यार्थ—ज्योतिषशास्त्र ही बताता है, कि ग्रहण होगा अतः यह शास्त्र ही इस विषय में प्रमाण है, इसलिए जनता ज्योतिषियों से यह सुनकर कि माघ मास में वैसा ग्रहण होगा, कुरु के बनाए हुए देशों में मुख्य स्यमन्त पञ्चक कुरुक्षेत्र में जाने से निश्चय श्रेय होगा यह निश्चय कर वहां आए ।।२।।

आभास—ननु तत्रैव श्रेयःसंपादनं कुत इति चेत्तत्राह **निःक्षत्रियां महीं कुर्वन्निति ।**

आभासार्थ—वहाँ ही कल्याण सम्पादन करेंगे, वैसा निश्चय क्यों ? इसके उत्तर में 'निःक्षत्रियां' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक— **निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।**
नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ।।३।।

श्लोकार्थ—शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ परशुरामजी ने निःक्षत्रिय पृथ्वी को बनाने के लिए राजाओं के लोहू के समूह से जहाँ बड़े-बड़े ह्रद (कुण्ड) बनाए थे ।।३।।

सुबोधिनी पूर्वं रामेण क्षत्रियाणां सर्वेषामेव नाशार्थं संकल्पः कृतः । ततः क्षत्रियाः सर्वान्मारयिष्यतीति निश्चित्य कुयुद्धेन मृते मोक्षं प्राप्स्याम इति विचार्य 'कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा' इति 'धर्मक्षेत्रे' इति कुरुणा महता कष्टेन तत् स्थानं तथाकृतमिति तत्रैव मोक्षो भविष्यतीति निश्चित्य परशुराममारणसमये सर्व एव तत्र समागताः । ततो रामेण ते सर्वे हताः तेषां **रुधिरौघेण** नव **ह्रदांश्चक्रे** तान्येव तीर्थानि जातानि गङ्गातोऽप्यधिकानि । अनेन तस्योत्कर्षो निरूपितः । **शस्त्रभृतां वर** इति स्वधर्मनिष्ठया तस्य सम्यग्देशज्ञानं निरूपितम् ।।३।।

व्याख्यार्थ—पूर्व समय में श्री परशुरामजी ने यह सङ्कल्प किया था कि सब क्षत्रियों का नाश करूँगा, यह उनका सङ्कल्प सुनकर सब क्षत्रियों ने विचार किया कि वह सबको मारेगा तो युद्ध में मरे हुए कहाँ मोक्ष पाते हैं ? कुरु ने जो महान् कष्ट से धर्म क्षेत्र, कुरुक्षेत्र बनाया है । वहाँ ही मरने से मोक्ष प्राप्ति होगी; क्योंकि गङ्गाजी के लिए भी कहा है कि 'कुरुक्षेत्र समा गङ्गा' गङ्गा कुरुक्षेत्र के समान है यों विचारपूर्वक निश्चय कर परशुरामजी ने जो समय क्षत्रियों के नाश का निश्चित् किया

था, उस समय सब क्षत्रिय वहाँ आ गए पश्चात् रामजी ने आए हुए सब क्षत्रियों को मार डाला, उनके लोहू के समूह से नव ह्रद (सरोवर) बनाए, वे नव ही गङ्गा से भी अधिक तीर्थ बने, इससे इस स्थान का उत्कर्ष बताया, परशुरामजी शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ थे और अपने धर्म में पूर्ण निष्ठा थी जिससे उनको देश का पूर्ण ज्ञान[1] था यों निरूपण किया ।।३।।

आभास— किञ्च । न केवलं क्षत्रियाणामेव तत्रोत्कर्षः संपादितः किंतु स्वस्यापीत्याह **ईजे च भगवान् राम** इति ।

आभासार्थ—यों करने से केवल क्षत्रियों का ही उत्कर्ष नहीं बताया, किन्तु अपना महत्त्व भी दिखा दिया, यह 'ईजे च' श्लोक में कहते है—

श्लोक— ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ।
लोकं संग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ।।४।।

श्लोकार्थ— भगवान् परशुरामजी को वध के पाप का स्पर्श मात्र भी न था, तो भी उन्होंने लोक के शिक्षार्थ प्राकृत पुरुषों के समान पाप निवृत्ति के लिए यज्ञ किए ।।४।।

सुबोधिनी—प्रायश्चित्तार्थं यज्ञांश्च तत्रैव कृतवान् प्रायश्चित्तं तु पापसंबन्धे भवति तथा च तस्मिन् क्षेत्रे पापमप्युत्पद्यत इति शङ्काव्युदासार्थमाह **स्त्रास्पृष्टोऽपि कर्मणेति** । यद्यपि भगवत्त्वेनापि न कर्मसंबन्धस्तथापि तत्र देशमाहात्म्यादेव न कर्मसंबन्ध इति ज्ञापयितुं **यत्रेत्युक्तम्** । अन्यथा चकारादपि पूर्वस्थानमायाति । तर्हि यागस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह **लोकं संग्राहयन्निति** । ननु किमित्येवं मन्यते तत्राह **ईश** इति । ननु ईशस्य यज्ञाधिकार एव नास्ति कथं कृतवानिति चेत्तत्राह **यथान्य** इति । फलार्थतां वारयति **अघापनुत्तय** इति पापक्षयार्थम् ।।४।।

व्याख्यार्थ— परशुरामजी ने, वध का प्रायश्चित करने के लिए वहां ही यज्ञ किए, प्रायश्चित तब किया जाता है, जब पाप का सम्बन्ध होवे, यदि पाप का सम्बन्ध माना जाएगा, तो उस क्षेत्र में भी पाप लगता है यह सिद्ध होगा इस शङ्का को मिटाने के लिए कहतें हैं कि **'यत्रास्पृष्टोऽपि** कर्मणा' वध के कर्म से उत्पन्न पापों से सम्बन्ध न होने पर भी यज्ञ किए । एक तो स्वयं भगवान् थे, इसलिए आप को पाप स्पर्श नहीं कर सकते हैं तथा देश के महात्म्य के कारण से भी पाप स्पर्श नहीं करते हैं । यह जताने के लिए (यत्र) पद दिया हैं । नहीं तो चकार से भी पूर्व का स्थान आ जता है । तब यज्ञ क्यों किए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि लोक संग्राहयन्' लोक की मर्यादा की शिक्षा देने के लिए यज्ञ किए, यों क्यों शिक्षा दी ? तो कहते हैं कि आप लोक के स्वामी हैं आपका कर्त्तव्य हैं शिक्षा देना, इस लिए यज्ञ किए यदि ईश हैं तो उनको यज्ञ करने का अधिकार नहीं है फिर क्यों किए ? इस पर कहते हैं कि जैसे दूसरे लौकिक करते हैं, वैसे ही उस मर्यादा की रक्षा के लिए तथा शिक्षणार्थ किए । यज्ञों का फल स्वर्गादि मिले इसलिए नहीं, किन्तु केवल पाप निवृत्ति के लिए लोक करें इस वास्ते ही किए ।।४।।

१— यह ज्ञान था कि यहाँ वध करने से मारने का दोष नहीं लगेगा, इसलिए उन राजाओं को यहाँ वध किया ।

आभास—एवं देशकालयोर्माहात्म्यमुक्त्वा तत्र सर्वासां प्रजानां समागमनमाह **महत्यां तीर्थयात्रायामिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार देश, काल का महात्म्य कहकर 'महत्यां' श्लोक से सबका आगमन कहते हैं—

श्लोक—**महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन्भारतीः प्रजाः ।**
वृष्णयश्च तथाऽक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥५॥

श्लोकार्थ—इस बड़ी तीर्थ यात्रा में भरत खण्ड की सब प्रजा आई, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि यादव भी आए ॥५॥

सुबोधिनी—एतादृशे निमित्ते तीर्थयात्रा महती भवति । महत्त्वं सर्वेषां गमनात्फलाधिक्याच्च । अत एव **भारतीः** भारतवर्षोद्भवाः **प्रजाः** सर्वा एव **तत्रागमन्** । तत्र महतां नामानि संक्षेपेणाह **वृष्णयश्चे**ति । आदौ **वृष्णयः** समागताः तत्रापि मुख्या एव समागता इति वक्तुं **अक्रूरवसुदेवाहुकादय** इति सात्त्विका महान्तो राजानश्चोक्ताः ॥५॥

व्याख्यार्थ—जब तीर्थ पर जाने के लिए ऐसा (सूर्य ग्रहणादि) निमित्त होता है, तब महती यात्रा होती है, क्योंकि उसका महत्व होता है । जिसके लिए कहते हैं कि एक तो वहाँ सब स्थानों से प्रायः बहुत आते हैं और उसकाल में जाने से फल अधिक प्राप्त होता है । इस कारण से ही भारतवर्ष में उत्पन्न सर्व प्रजा वहां आई, वहां आए हुवे में से संक्षेप में मुख्य नाम कहते हैं । प्रथम यादव आए उनमें से भी मुख्य जो आये उनका नाम कहते है, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि आए, ये सात्विक महान् और राजा कहे ॥५॥

आभास—तेषामन्यत्र गमनं वारयितुमाह **ययुस्ते भारतं क्षेत्रमिति** ।

आभासार्थ—उनका दूसरे स्थान पर जाने का निवारण करने के लिए कहते हैं कि 'ययुस्ते भारतं क्षेत्रं' वे भारत क्षेत्र में गए ।

श्लोक—**ययुस्ते भारतं क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः ।**
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च सुचन्द्रशुकसारणैः ॥६॥

श्लोकार्थ—अपने पापों को मिटाने के लिए सुचन्द्र, शुक और सारण के साथ गद, प्रद्युम्न तथा साम्ब भी उस भारत क्षेत्र (कुरु क्षेत्र) में गए ॥६॥

सुबोधिनी—भरतवंशोद्भवेन निर्मितं **क्षेत्रं** वृष्णीनां सर्वश्रेयांसि गृह एवेति भगवदवज्ञालक्षणं पापं संभवतीति तस्यान्यत्र निष्कृतिमलभमानाः **स्वम**साधारणम**घं क्षपयिष्णवः** तत्रागता इत्युक्तम् । त्रिविधा एव समागता इति शङ्काव्युदासार्थं अन्यानपि गणयति **गदप्रद्युम्नसाम्बाश्चे**ति ॥६॥

व्याख्यार्थ—भरतवंश में उत्पन्न कुरु ने जो क्षेत्र बनाया है वहाँ ही पाप नष्ट होंगे, यदि यादव यों मानले कि हमारे लिए अपना गृह ही सर्व कल्याण करने वाले हैं तो भगवान् की अवज्ञा रूप पाप लगेगा, इसलिए उस पाप का मिटाना दूसरे स्थान पर नहीं होगा, अतः अपने असाधारण पाप को नष्ट करने की इच्छावाले वहाँ आए. यों कहा तीन प्रकार के ही आए। इस शङ्का को मिटाने के लिये दूसरों की भी गणना करते हैं कि गद प्रधुम्न और साम्ब भी आए ।।६।।

आभास—सर्वेषामेवागमने द्वारकायां कः स्थित इत्याकाङ्क्षायामाह **आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायामिति ।**

आभासार्थ—सब ही आ गए तो द्वारका में कौन रहा ? जिसके उत्तर में 'आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः ।**
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ।।७।।

श्लोकार्थ—द्वारका की रक्षा के लिए अनिरुद्ध और उसका सेनापति कृतवर्मा वहाँ रहा, जो यादव वहाँ कुरुक्षेत्र गए, वे कैसे गए? जिसका वर्णन करते हैं कि वे देवताओं के विमान के समान चमकने वाले रथों से तरंगों के समान चञ्चल घोड़ों से गए ।।७।।

सुबोधिनी—अनिरुद्धो योगपतिरिति योगाभ्यासपरस्याप्यनागमनमुक्तम् । **कृतवर्मा च यूथप** इति । तस्य सेनापतिरित्यर्थः । योऽपि तस्योत्तरसाधकः सोऽपि नागच्छेदिति यद्यपीयं यात्रा सर्वसाधारणा तथापि भगवच्चरित्रस्य प्रकरणित्वात् मुख्यतया यादवा वर्ण्यन्ते । ये समागतास्ते किं यात्रानियमेन आहोस्विच्छोभयेति संदेहे निरूपयति **ते रथैर्देवधिष्ण्याभैरिति** । 'कृत्वा कार्पटिकं वेषम्' इति नियमः यात्रायां देशमात्रप्राधान्ये स नियमः, कालप्राधान्ये तु न नियम इति । चतुरङ्गसेनया महत्या सहितास्ते व्यरोचन्तेति रक्षा शोभाविषयश्च निरूप्यते । **रथादयो** वाहनरूपा इति केचित् । **देवधिष्ण्यानि** विमानानि । जगन्नाथादिदेवस्थानयात्रानिमित्तदेवासनरथसदृशा वा नानालंकरणोपेताः तैर्व्यरोचन्तेत्यग्रिमेण संबन्धः । **ते** गदादयः सर्व एव वा लोकाः तथा **हया** अपि **तरलवत्तरङ्गवत् प्लवः** प्लवनं गतिर्येषाम् । हयानां गतिरेव गुणः ।।७।।

व्याख्यार्थ अनिरुद्ध योगपति हैं, इसलिए योगाभ्यास के परायण होने वाले का वहाँ न आना कहा तथा उनका सेनापति भी नहीं आया क्योंकि वह उनका उत्तरदायी है । अतः वह भी न आ सके, यद्यपि यह पात्र सर्व साधारण हैं तो भी भगवान् का चरित्र ही प्रकरण का विषय है । अतः मुख्य रूप से यादवों का वर्णन किया जाता है, जो भी आए वे यात्रा के नियमों का पालन करते हुए आए अथवा केवल शोभा के लिए आए ? इस प्रकार का सन्देह होने पर निरूपण करते हैं कि, वे देवताओं के विमानों के समान सुशोभित रथों से आए, यद्यपि तीर्थों पर जाने का नियम है कि साधु वेष में जाना चाहिए. देश मात्र का प्राधान्य जिस यात्रा में हो उसके लिए यह नियम है, अर्थात् जब यात्री इस विचार से जावे कि चलो गङ्गा आदि पवित्र स्थानों पर चलें,

तब नियम का पालन करना चाहिए, जब काल की प्रधानता हो तब वह नियम नहीं, अर्थात् जब कोई विशेष काल जैसे कुरुक्षेत्र आदि में सूर्य ग्रहण आदि काल पर जाना पड़े तो नियम की आवश्यकता नहीं है। वैसे तीर्थों पर विशेष उत्सव बड़े त्योंहारों पर जाने का अवसर हो, तो साधु वेष आदि नियम नहीं है अतः यादवादि जो इस काल विशेष पर आए, वे महती चतुरङ्गिणी सेना सहित आते हुए शोभा पाने लगे, इससे रक्षा और शोभा विषय का निरूपण किया जाता है। रथ आदि वाहन रूप थे यों कोई कहते हैं विमान समान रथ थे अथवा जगन्नाथ आदि देव स्थान यात्रा निमित्त देवासन रथों के सदृश रथ थे, अनेक अलङ्करणों से युक्त होने से वे शोभित थे इसका अग्रिम श्लोक से सम्बन्ध है वे गद आदि और सब ही लोक तथा घोड़े भी तरंगों के समान चञ्चल चाल वाले थे, घोड़ों का काल ही गुण है ।।७।।

श्लोक – **गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः ।**
व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ।।८।।

श्लोकार्थ—बादल के समान गर्जना करते हुए हाथी और विद्याधरों के समान कान्तिवाले तेजस्वी पुरुषों को साथ ले चलते हुए सुवर्ण की मालाओं को धारण किए हुए यादव मार्ग में शोभते थे ।।८।।

सुबोधिनी—गजाश्च नदन्तः, **अभ्राभाः** अत्युच्चाः, नादेनान्तस्तोषो मत्तता वा निरूप्यते। **नृभिः** पदातिभिः दोलावाहकैर्वा, तेषां कान्ति-**विद्याधरसदृशी**। ते हि नानाविद्यया नानारूपा भवन्ति अलंकृताश्च। प्रतिक्षणमन्यथान्यथारूप-मिति ज्ञापयितुं विद्याधरकान्तितुल्यता। स्वयमपि **महातेजा** महत्तेजो येषामिति समासान्तोऽत्र टच्। तेन टिलोपान्महातेज इत्यकारान्तो भवति। अनेन सहजोत्कर्षस्तेषामुक्तः। आगन्तु-कमाह **पथि काञ्चनमालिन** इति। अनेन सर्व-देशस्वास्थ्यं सर्वनिर्मलचित्तता च निरूपिता। अन्यथा साभरणा निर्भयाश्च सर्वे सर्वतो नागच्छेयुः ।।८।

व्याख्यार्थ—हाथी बादल के समान ऊंची गर्जना कर अपना अन्तः सन्तोष अथवा अपनी मदोन्मत्तता प्रकट करते थे विद्याधरों के समान कान्ति वाले, प्यादे अथवा डोली उठाने वाले साथ में थे वे अनेक विद्याओं से अपने अनेक रूप प्रदर्शित करते थे और अलङ्कृत थे. हर एक क्षण में नवीन रूप धारण करते थे, यह जताने के लिए विद्याधरों जैसी कान्ति कही है। स्वयं भी महान् तेजस्वी थे 'महातेजाः' यह शब्द समासान्त होने के कारण व्याकरणानुसार अकरान्त हुआ है, इससे इनका सहज उत्कर्ष कहा गया है। आए हुए जनों के अलंकृत होने का वर्णन करते हैं कि उन्होंने गले में सुर्वण की मालाएं पहनी थी मार्ग में भी उतारी नहीं थी, कारण कि देश में सर्व प्रकार की स्वस्थता थी, सबके चित्त शुद्ध थे अर्थात् मार्ग में डाकू आदि लूटते नहीं थे जिससे वे सुवर्ण आभुषण धारण कर निर्भय आ रहे थे यदि स्वस्थता और चित्त शुद्ध न हो तो आभुषण पहन चारों तरफ से निर्भय नहीं आ सकते थे ।।८।।

आभास – **दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहा** इति ।

आभासार्थ—आगे 'दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहा' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक – **दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहाः कलत्रैः खेचरा इव ।**
तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ॥६॥

श्लोकार्थ—दिव्य वस्त्र,माला व कवच पहने हुए अपनी स्त्रियों के साथ पंथ में जाते हुए देवों के समान शोभा पा रहे थे, महाभाग्यशालियों ने वहाँ उपवास किया और स्नान कर समस्त विषयादि दोषों का त्याग किया ॥६॥

सुबोधिनी — दिव्यान्यलौकिकानि लोके आश्चर्यकराणि **वस्त्रा**दीनि **संवाहा** अश्वाः, सन्नाहा वा कवचादयः । सर्व एव सस्त्रीकाः प्रवृत्तौ सहितानामेवाधिकार इति, महत्त्वख्यापकं वा । स्त्रीणां बाहुल्यं शोभातिशयं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तः **खेचरा इवे**ति । एवं सर्वेषामागमनमुक्त्वा अमावास्यायां ग्रहणदिवस एव यावतामागमनं संभवति तानुक्त्वा पश्चात्तीर्थस्नानादिकं कृतवन्त इत्याह **तत्र स्नात्वे**ति । **महाभागा** इत्यनेन तीर्थप्राप्तिभाग्यं दानाद्यर्थं च निरूप्यते । ततो ग्रस्तास्तमयः सूर्य इति तस्मिन् दिवसे सर्वेषामुपवासः न तु तीर्थप्राप्तिनिमित्तः कुरुक्षेत्रे तन्निषेधात् । **सुसमाहिता** इति सर्वभोगनिवृत्तिः क्रोधादिसर्वदोषनिवृत्तिश्च । ॥६॥

व्याख्यार्थ—दिव्य कहते हैं अलौकिक जो लोक में आश्चर्यजनक हों ऐसे वस्त्र घोड़े यदि 'सन्नाहा' ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ है कवच आदि । वे सब स्त्रियों को साथ लेकर गये थे प्रवृत्ति में स्त्रियों के साथ ही अधिकार होता है अथवा स्त्रियों को साथ इसलिए ले गये थे कि हमारा इससे महत्व माना जायगा । स्त्रियों की अधिकता एवं शोभातिशय को जताने के लिए 'खेचरा एव' दृष्टान्त दिया है, जैसे सिद्ध अथवा विद्याधर अपनी स्त्रियों के साथ ही आकाश में विचरण करते हैं । इस प्रकार सब के आगमन को कहकर अमावस्या में ग्रहण के दिन जितनों का आगमन संभव था उसे कहकर बाद में स्नानादिक किया यह 'तत्र स्नात्वा' पद से बताया है । जो ग्रहण के दिन तीर्थ पर आए तथा जिन्होने दान आदि दिया वे बड़े भाग्यवान् थे यह महाभागा इस पद से निरूपित हुआ। ग्रस्तास्त सूर्यग्रहण होने से उस दिन सबने उपवास किया । तीर्थ में आये हैं इसलिए उपवास नहीं किया था क्योंकि कुरुक्षेत्र में उपवास करने का निषेध है । 'सुसमाहिता' यह पद इस बात को बताता है कि उन्होंने सब भोगों का एवं क्रोधादि सब दोषों का परित्याग कर दिया था ॥६ ।

श्लोक—**ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः ।**
रामह्रदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥१०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् ग्रहण के समय ब्राह्मणों को वस्त्र, पुष्प-माला और कञ्चन की माला वाली गायें दान में दीं, फिर यादवों ने कुरुक्षेत्र में बने हुए राम ह्रदों (सरोवरों) में विधिवत् स्नान किया ॥१०॥

सुबोधिनी—ततो ग्रहणसमये **ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः वासांसि स्रजश्च रुक्ममालाश्च** यासु सर्वालंकरणोपेता दत्ता इत्यर्थः । तत्र मुख्यमेकं सरः अन्ये च ह्रदा नव । ते **रामह्रदाः** शोणितौघान् ह्रदान्नव' इति वाक्यात्ततो रामह्रदेष्वपि **विधिवत्**फलसाधकत्वात् स्नानं कृतवन्तः ॥१०॥

व्याख्यार्थ – ग्रहण के समय ब्राह्मणों को वस्त्र पुष्पमाला और सुवर्ण की मालाओं से युक्त गायें दान में दीं, वहां एक मुख्य सरोवर और दूसरे नव ह्रद हैं। शोणितौघान् ह्रदान्नव' इस प्रमाण से नव ह्रद राम ह्रद कहलाते हैं, ये नव ह्रद फल को सिद्ध करने वाले हैं अतः इनमें विधिवत् स्नान किया ।।१०।।

श्लोक—ददुः स्वर्णं द्विजाग्र्येभ्य कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।
स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ।।११।।

श्लोकार्थ—हमारी श्रीकृष्ण में दृढ़ भक्ति हो, इसलिए ब्राह्मणों को स्वर्ण का दान दिया, कृष्ण ही जिनका देव है। ऐसे यादव ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर भोजन करने लगे और स्वयं श्रीकृष्ण भी भोजन करने लगे — निम्न श्लोक से सम्बन्ध है ।।११।।

सुबोधिनी – तत्रापि **स्वर्णं ददुः** स्नानपूर्त्यर्थम्, दानाभावे स्नानं विकलं स्यात्। कामनामाह **कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति**। तीर्थसुवर्णदानयोरुभयोरपि सार्वकामिकत्वात्। एतत्स्नानं द्वितीयदिवस एवेति केचित्। पुन:पदाद्द्वितीयदिवसेऽपि दानं च। ततो ब्राह्मणानुज्ञया **कृष्ण** एव **देवता** येषाम् ।।११।।

व्याख्यार्थ - स्नान की सफलता के लिए उत्तम ब्राह्मणों को स्नान के बाद भी सुवर्ण का दान दिया, स्नान के अनन्तर यदि ब्राह्मणों को दान न दिया जाय तो स्नान निष्फल हो जाता है अर्थात् स्नान का फल नहीं मिलता है। यादवों को जो मन में कामना थी वह बताते हैं इस स्नान का फल हमको यह मिले कि श्री कृष्ण में हमारी दृढ भक्ति बनी रहे, तीर्थ पर आने और वहाँ सुवर्ण दान दोनों का फल, सर्व प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करता है, अतः यादवों की यह श्रीकृष्ण भक्ति की कामना इससे पूर्ण हुई, कोई कहते हैं कि यह स्नान दूसरे दिन किया श्लोक १० के मूल में 'पुनः' पद है जिसका आशय है कि दूसरे दिन भी दान किया अनन्तर कृष्ण ही जिनका देवता है ऐसे यादवों ने ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर कृष्ण का पूजन कर उनके भोजन के बाद भोजन किया नीचे के श्लोक से सम्बन्ध है ।।११।।

श्लोक—भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।
तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्संबन्धिनोऽपरान् ।।१२।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण को ही इष्ट देव मानने वाले यादवों ने ब्राह्मणों की आज्ञा ले, भोजन कर, फिर वे शीतल छाया वाले वृक्षों की छाया में इच्छानुसार बैठ गए। वहाँ उन्होंने आए हुए सुहृत्, सम्बन्धी और दूसरों को देखा ।।१२।।

सुबोधिनी—तत्र तीर्थे कृष्णं पूजयित्वा भोजनार्थमुपविष्टे भुक्ते वा भगवति भगवता वानुज्ञाता **स्निग्धच्छाया**प्रयुक्तेष्व**ङ्घ्रिपेषु भुक्त्वा** समुपविविशुः। एतावत्पर्यन्तं तीर्थवैयग्र्याल्लोकदर्शनार्थं नावकाशः। ततो यादवाः स्वयमन्यत्रागत्वैव भगवांस्तत्र वर्तत इति **तत्रैव** समागतान्

सर्वान् ददृशुरित्याह **तत्रागतांस्ते ददृशुरिति** । **सुहृदो** मित्राणि **संबन्धिनः अपरानुदासीनांश्च** भगवद्दर्शनार्थमागतान्, नृपानिति वा ॥१२॥

व्याख्यार्थ--वहाँ तीर्थ पर श्री कृष्ण का पूजन कर भोजन के लिए विराजमान हुवे भगवान् के भोजन कर लेने के बाद भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर यादवों ने भोजन किया, अनन्तर शीतल छाया वाले वृक्षों की छाया में बैठ गए इतने समय तक तीर्थ कार्य की व्यग्रता से लोगों को देखने का अवसर (मोका) न मिला पश्चात् यादव स्वयं दूसरे स्थान पर न गए क्योंकि भगवान् वहाँ विराजते हैं इनको छोड़ कैसे जावे ? अतः यहाँ ही आए हुवे सब को देखा, जिनको देखा उनका वर्णन करते हैं। मित्र सम्बन्धी जिनसे विवाह का सम्बन्ध बना रहता है और अन्य जिनसे कोई विशेष सम्बन्ध, मित्रता वा पहिचान नहीं, ऐसे जो उदासीन दर्शनार्थ आए हुए थे उनको देखा अथवा अन्य राजाओं को देखा ॥१२॥

आभास—नानादेशस्थास्ते इति देशभेदान्निरूपयति **मत्स्येति** ।

आभासार्थ—वे अनेक देशों के रहने वाले थे जिनका वर्णन 'मत्स्योशीनर' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।**
काम्बोजकैकयान्मद्रान्कुन्तीन्नारदकेरलान् ॥१३॥
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप ।
नन्दादीन्सुहृदो गोपान्गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—मत्स्य, उशीनर, कौसल्य, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, केकय, कुन्तल, कोंकण, केरल देशों के और अन्य अपने पक्ष के तथा दूसरे सैंकड़ों राजा लोग जो भी आए थे उन सब को भगवान् के यहाँ ही देखा, अपने सुहृद नन्दरायजी आदि तथा गोप एवं गोपियों को देखा जो नन्द गोप और गोपियाँ बहुत समय से भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा कर रही थीं ॥१३-१४॥

सुबोधिनी--**नारद**देशः कौंकणदेशः । अन्ये तु प्रसिद्धाः एकादश निरूपिताः । तत्तन्मनोवृत्तिप्राधान्यख्यापनाय । अनुक्तसमुच्चयार्थमाह **अन्यांश्चैवेति** । **परान्** शत्रुपक्षीयान् **शतश** इति शत्रुबाहुल्यं सूचितम् । तेपि द्रष्टुं समागता इति भगवतोऽचिन्त्यसामर्थ्यं निरूपितम् । एते सर्वे क्षत्रिया एव सजातीया निरूपिताः । विजातीयान् निरूपयन् प्रथमं नन्दादीनपश्यन् । **गोपान् गोपीश्च उत्कण्ठिता** इति । भगवद्विषयिणी उत्कण्ठा भगवदीयान्वा सर्वान् सुसमृद्धान् एतावान् भगवतो विलास इति द्रष्टुं तासामुत्कण्ठा । उत्कण्ठायामेव **चिरमिति** विशेषणम् ॥१३-१४॥

व्याख्यार्थ -नारद देश को अब कौंकण देश कहते है दूसरे ११ तो जो कहे हैं वे प्रसिद्ध हैं, प्रत्येक के मन की वृत्ति के प्रकट करने के लिए देशों के पृथक २ नाम समास कर दिए

हैं, जो समासान्त पद में नहीं आए हैं उनको अन्याश्चैवेति पद से कहा है जो अपने पक्ष वाले ही थे। 'परान्' पद से शत्रु पक्ष वालों को सूचित किया है वे 'शतश' थे अर्थात् शत्रु पक्ष के बहुत आए थे वे भी देखने के लिए आये थे इस प्रकार भगवान् का अचिन्तनीय सामर्थ्य प्रगट किया है, ये सब सजातीय क्षत्रिय ही निरूपण किए, अब विजातियों का निरूपण करते हुए प्रथम नन्द आदि को देखा, उत्कण्ठावाले गोप तथा गोपियों को देखा उनकी उत्कण्ठा भगवद्दर्शन सम्बन्धी थी एवं सम्बन्धी से पूर्ण सर्व भगवदीयों के देखने की उत्कंठा थी, यह सब भगवान् का विलास ही है इसलिए गोप गोपियों को देखने की उत्कण्ठा हुई 'चिर' विशेषण से यह बताया कि यह उत्कण्ठा बहुत दिनों से इनको थी।

आभास—ततस्तेषामन्योन्यसंभाषणादिकं लौकिकभाषया निरूपयति **अन्योन्येति**।

आभासार्थ—बाद में उनका आपस में सम्भाषण लौकिक भाषा से हुआ जिसका निरूपण 'अन्योन्य' श्लोक में करते हैं

श्लोक—**अन्योन्यसंदर्शनहर्षरंहसा**
प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः
आश्लिष्य गाढ नयनैः स्रवज्जला
हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—परस्पर दर्शन होने से उत्पन्न अतिशय हर्ष के वेग से प्रफुल्लित हृदय और मुखारबिन्द की श्री (शोभा) बढ गई परस्पर गाढ आलिङ्गन करते हुए, नेत्रों से आसुओं की धाराएं बहने लगी जिससे शरीर में रोमाञ्च होने लगा और उत्कण्ठा बढने से वाणी भी रुक गई इस प्रकार की दशा होते ही आनन्द का अनुभव करने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—भगवद्भक्तैः सह साक्षात्परंपरया वा सर्वेषामासक्तिरस्तीति सर्वे भगवदीया एवेति प्रमेयत्वं तेषाम्। अन्यथा तन्निरूपणे अधर्मः स्यात्। प्रकरणं च विरुध्येत। अतस्तदुक्तार्थमेव अन्योन्यदर्शनेन प्रेमाधिक्यं निरूप्यते। हर्ष आन्तरः तस्य तादृशो वेगः यो बहिरपि स्वानुभावं प्रकाशयति। अतो **हृद्वक्त्रसरोरुहयोः** उत्फुल्लयोः **श्रीर्येषां** दुराद्दर्शनस्यैतावत्। आश्लेषस्य ततोऽप्यधिकमित्याह **आश्लिष्येति**। कायवाङ्मनसां सर्वेन्द्रियाणां च भाव उत्पन्न इति निरूपयति तत्र प्रथमं सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थं **हृष्यत्त्वच** इति कायिकः संतोषः **रुद्धगिर** इति वाचिकः। **मुदं ययुरिति** मानसः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—भगवद्भक्तों के साथ अथवा परम्परा से सबकी आसक्ति है, इसलिए निश्चित् है, कि सब भगवदीय ही हैं इससे उनमें प्रमेयपन, है, यदि प्रमेयत्व न हो तो उसके निरूपण करने में अधर्म हो जावे, और प्रकरण का भी विरोध हो जाए अतः उसके कहे हुए अर्थ के लिए ही परस्पर दर्शन से प्रेम की अधिकता निरूपण की जाती है, भीतर हर्ष है, उसका ही वैसा वेग है जो बाहर भी अपना अनुभव प्रगट करता है, अतः प्रफुल्लित हृदय तथा मुख कमल की शोभा दूर से दर्शन

करते ही ऐसी बढ़ गई है, आलिङ्गन से तो इससे भी अधिकता हुई जिसका वर्णन करते हैं कि आलिङ्गन से काया, वाणी, और मन के तथा इन्द्रियों के भाव प्रगट देखने में आने लगे जैसे कि सर्व इन्द्रियों के उपलक्षणार्थ कहा कि 'हृष्यत्त्वचः' शरीर में रोम (रूँवाटे) खड़े हो गए जिससे काया का संतोष कहा वाणी रुक गई इससे वाणी की प्रसन्नता प्रगट की, आनन्द का अनुभव करने लगे जिससे मन का संतोष बताया ।।१५।।

आभास—एवं पुरुषाणामन्योन्यंकृताशि **स्त्रियश्च संवीक्ष्येति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार पुरुषों के परस्पर मिलन का वर्णन कर अब 'स्त्रियश्च संवीक्ष्य' श्लोक में स्त्रियों के मिलाप का वर्णन करते हैं

श्लोक—**स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-**
स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान्कुङ्कुमपङ्करूषितान्
निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ।।१६।।

श्लोकार्थ—अत्यन्त सौहार्द के कारण स्त्रियाँ परस्पर मन्दहास करती तथा सुन्दर कटाक्षों को करती हुई आपस में आलिङ्गन करने लगीं उस समय कुङ्कुमचर्चित स्तनों को परस्पर के स्तनों को टकराती हुई विशेष प्रेम उत्पन्न होने से भुजाओं से गाढ आलिङ्गन करने लगीं जिससे नेत्रों में से प्रेम के अश्रुओं की धार बहने लगी इस प्रकार के मिलन से बहुत प्रसन्न हुईं ।।१६।।

सुबोधिनी - तासां भावः प्रकटो जात इति ख्यापयितुं स्मितामलापाङ्गनिरूपणम् । **अति-सौहृद**मान्तरं, **स्मितं** मध्यस्थम्, **अमलापाङ्गा** बाह्याः, एतत्सहिता **दृष्टयो** यासाम् । **अभितः** आन्तरमानसव्यवधानराहित्येन रमणं वाचनिकम् । **स्तनैः स्तनानि**ति । कायिको गाढाश्लेषः । **प्रणयेनाश्रुलोचना** इति सर्वेन्द्रियसंश्लेषः । एवमुभयेषामेकता निरूपिता ।।१६।।

व्याख्यार्थ—उन स्त्रियों में भाव प्रगट हुवा यह जताने के लिए उनके मन्दहास और निर्मल कटाक्षों का निरूपण करते हैं विशेष सौहार्द अन्दर का मन्द हास मध्य का भाव प्रगट करता है, तथा निर्मल कटाक्ष बाहर के भाव बताते हैं, स्त्रियों को दृष्टि इनके साथ वाली हैं अर्थात् स्त्रियों की दृष्टि में ये भाव भरे पड़े हैं 'अभितः' पद से यह भाव प्रगट किया है कि वाणी के रमण में आन्तरमानसभाव, किसी प्रकार रुकावट नहीं करता है, 'स्तनैः स्तनात्' पद से यह बताया है कि स्त्रियां काया से परस्पर गाढ आलिङ्गन करने लगी, प्रेम से नेत्रों में से आँसु से सर्व इन्द्रियों का परस्पर गाढ आलिङ्गन होने को सूचित किया है इस प्रकार दोनों की एकता निरूपण की है ।।१६।।

आभास—अतः सर्व एव भगवदीयाश्च भगवानिति प्रमेयं भगवानेव निरूपितो भवतीति तेषामर्थाद्भगवदीयत्वं निरूप्य साक्षान्निरूपयति **ततोऽभिवाद्येति ।**

आभासार्थ—अतः सब ही भगवदीय हैं और भगवदीय भगवद्रूप हैं इस लिए प्रमेय भगवान् ही निरूपण हुए, इस प्रकार उनको भगवदीयत्व निरूपण कर 'ततोऽभिवाद्य' श्लोक से साक्षात् निरूपण करते हैं—

श्लोक— **ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्टैरभिवादिताः ।**
स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथां मिथः ।।१७।।

श्लोकार्थ पश्चात् छोटों ने जब बड़ों को अभिवादन कर लिया तब उन्होंने वृद्धों को अभिवादन कर स्वागत किया और कुशल आदि पूछ लिया, फिर आपस में मिलकर कृष्ण चरित्र कहने लगे ।।१७।।

सुबोधिनी - वृद्धाभिवादनं धर्मः कीर्तनाङ्गं, **यविष्ठैरभिवादिता** इति हीनानां परिग्रहः । एवमुच्चनीचार्थं परिगृह्य सर्वोपकारार्थं **कृष्णकथां मिथः चक्रुः** । एतदेव परमवैष्णवलक्षणं 'तेन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य समाजयन्ते मम पौरुषाणि' इति वाक्यात् ।।१७।।

व्याख्यार्थ—वृद्धों को प्रणाम करना धर्म है कीर्तन का अङ्ग है छोटों ने अभिवादन किया इससे हीनों का अङ्गीकर कहा, इस प्रकार उच्च और नीच का ग्रहण कर सब के उपकार के लिए आपस में कृष्ण की कथा करने लगे यह ही परम वैष्णवों का लक्षण है जैसे कि कहा है भगवद्भक्त परस्पर मिल कर मेरे चरित्रों का वर्णन करते हैं ।।१७।।

आभास—एवं साधारणानां निरूप्य असाधारणानां स्वभावत एवासक्तियुक्ताना-मन्योन्यवैमनस्यलक्षणं दोषं परिहर्तुमुपालम्भपरिहारौ निरूप्येते **पृथा भ्रातृनिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार साधारणों का निरूपण कर, जिनकी स्वभाव से ही आसक्ति है उन असाधारणों का परस्पर वैमनस्य दोष मिटाने के लिए उपालम्भ और उसका परिहार दोनों का निरूपण करते हैं ।

श्लोक—**पृथा भ्रातॄन्स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।**
भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः ।।१८।।

श्लोकार्थ—कुन्ती, भाई, बहन इनके पुत्र, माता, पिता और भोजाई तथा भगवान् को देखकर परस्पर प्रेम की बातों से शोक को भूल गई ।।१८।।

सुबोधिनी -**भ्रातरो** वसुदेवादयः । **स्वसारः** श्रुतदेवाद्याः । **तत्पुत्राः** बलशिशुपालादयः । **पितरौ** मारिषाशूरौ । **भ्रातृपत्नीः** देवक्याद्याः **मुकुन्दः** सर्वेषां मोक्षदानार्थमागतो भगवान् । चकारात्तस्य सर्वसंबन्धो निरूपितः । एवं **संकथया शुचो जहौ** । सामान्यप्रश्नेनैव शोकलक्षणो दोषो निवृत्तः ।।१८।।

व्याख्यार्थ - वसुदेवादि भाई, श्रुतदेवादि बहन, उनके पुत्र बल शिशुपाल आदि, पिता मारिष तथा शूर, भौजाई देवकी आदि, सबको मोक्षदाता भगवान् 'च' से उनका सबसे सम्बन्ध कहा है इस प्रकार के चरित्र से शोक को मिटा या सामान्य प्रश्न से ही शोक लक्षणवाला दोष मिटाया ।।१८।।

आभास—विशेषनिराकरणार्थमुपालम्भमाह **आर्यभ्रातरिति ।**

आभासार्थ - विशेष निराकरण करने के लिए 'आर्य भ्रातः' श्लोक से उपालम्भ उल्हाना) देती है !

श्लोक— कुन्त्युवाच—**आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।**
यद्वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ।।१९।।
सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ।।२०।।

श्लोकार्थ—कुन्ती कहने लगी कि हे आर्य ! हे भाई ! मैं मेरी आत्मा को अकृतार्थ मानती हूँ; क्योंकि तुम समर्थ होते हुए भी मुझ पर जिस समय विपत्तियाँ आ रही हैं, उस समय सुध नहीं लेते हो। जिससे देव रूठ जाता है, उसका कोई भी सम्बन्धी अर्थात् ज्ञाति वाले, पुत्र, भाई, माता और पिता ये भी सुध नहीं लेते हैं ।।१९-२०।।

सुबोधिनी—दुष्टस्तु न पृच्छत्येव त्वं **त्वार्यः** तथापि न पृच्छसि इत्याश्चर्यम् । तत्र स्वयवंमेव हैतु कल्पयति **अहमात्मानमेव अकृताशिषं** अल्पभाग्यं **मन्ये** । न कृताः आशिषो भाग्यहेतु युक्ता इति । न तु त्वामुपेक्षकं मन्ये । भाग्याभावे बन्धूनां प्रश्नाद्यभावः लोकेऽपि सिद्ध इति तं निरूपयति **सुहृद** इति । अस्माकं तु **आपत्सु** एकस्या **अपि वार्तां नानुस्मरन्तीति** किमाश्चर्यम् । **यस्य दैवमदक्षिणं** तं सुहृदादयः केऽपि न स्मरन्ति सर्वदैवापदेत्यापत्स्वेवेति न वक्तव्यम् । **दैवमदृष्टाभिमानिनी** देवता । **अदक्षिणं** प्रतिकूलम् ।।१९-२०।।

व्याख्यार्थ—जो दुष्ट हैं वे तो विपत्ति के समय में नहीं पूछते हैं आपतो आर्य हैं, आर्य होते हुए भी नहीं पूछते हैं, यह आश्चर्य है । यों कहकर इसके कारण का, स्वयं ही कल्पना करती है, मैं अपने को मन्द भागिनी समझती हूँ । भाग्य के हेतु युक्त आशिष प्राप्त नहीं की है, इसलिए तुम्हें विपरीत नहीं मानती हूँ । भाग्य नहीं होता है, तब बान्धव पूछते भी नहीं, यह लोक में सिद्ध ही है । उसका निरूपण करती है, कि आपदाओं में एक भी बात कोई, याद नहीं करते हैं, इस लिए हमको क्यों आश्चर्य करना चाहिए जिसका दैव उलटा है उसको कोई मित्र आदि याद नहीं करते हैं । सर्वदा ही आपदा है, आपदओं में यों नहीं कहना चाहिए देव अदृष्ट का अभिमानी देवता है 'अदक्षिण' पद का भावार्थ है प्रतिकूल (विपरीत) ।।१९-२०।।

आभास—उपालम्भं परिहरति वसुदेव **अम्बेति** ।

आभासार्थ—'अम्ब मास्मानसूयेथा' श्लोक से वसुदेवजी उपालम्भ का परिहार करते हैं -

श्लोक—वसुदेव उवाच—**अम्ब मास्मानसूयेथा देवक्रीडनकान्नरान् ।**
ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यते हि वा ।।२१।।

श्लोकार्थ—वसुदेवजी ने कहा, कि हे अम्ब ! देव के खिलौने जो हम मनुष्य हैं, तिन पर दोष मत लगाईये क्योंकि जगत् में सब लोक ईश के वश में हैं, करना और करवाना उसके आधीन है ।।२१।।

सुबोधिनी—कनिष्ठभगिनीं स्नेहान्मातृनाम्ना संबोधयति । **अस्मान्** भ्रात्रादीन् **मा असूयेथाः** दोषारोपणेन मा द्राक्षीः । तत्र हेतुः **देवक्रीडनकानिति** । देवोऽत्र कालः **स** एवावतीर्णः अतो देवपदम् । तत्रापि **नरान्** । मनुष्याः सर्वसेविका इति कथमेवमिति चेत्तत्राह **ईशस्य हि वशे लोक** इति । प्रयोजककर्तृत्वे साक्षात्कर्तृत्वे च ईशस्य नियन्तुः कालस्यैव वशे । युक्तश्चायमर्थः । तदुदर एवोत्पन्नत्वात् । यो हि यस्य गृहे उत्पद्यते स तस्य वशे भवति । **हीति** समुच्चयार्थे **वेत्य**नादरे । सर्वाः क्रियास्तदधीना इत्यर्थः । २१।।

व्याख्यार्थ—छोटी बहिन को यहाँ अम्ब ! अर्थात् माता कहा है, जिसका कारण स्नेह है, स्नेह के वश होकर ही छोटी बहिन को माता कहा है, हम भ्राताओं को दोष दृष्टि से मत देख अर्थात् हम पर क्रोध मत कर, क्योंकि हम सब देव के खिलोने हैं। देव जैसे खिलाता है वैसे ही खेल रहे हैं। कारण कि, मनुष्य सब उसके सेवक हैं देव यहां काल है वह ही अवतार ले आया है, इसलिए 'काल क्रीड़नक' न कह कर 'दैव क्रीडानक' कहा है, सेवक के नाते सब उसके ही आधीन हैं। अतः कर्तापन में प्रयोजक हो, अथवा साक्षात् कर्ता बने, नियामक काल रूप ईश्वर के ही वश में सब हैं यही अर्थ उचित है, उसके उदर में ही उत्पन्न होने से उसके वश में हैं, जैसा कि जो जिसके गृह में उत्पन्न होता है, वह उसी के ही वश में रहता है, 'हि' शब्द सङ्ग्रहं के अर्थ में है 'वा' शब्द अनादर अर्थ में है, सारांश यह है, कि सब क्रियाएँ काल रूप देव के आधीन हैं ।।२१।।

आभास—एवं सामान्यतः पराधीनत्वमुक्त्वा विशेषतोऽप्याह **कंसप्रतापिता** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य रूप से पराधीनपन कहकर अब 'कंसप्रतापिताः' श्लोक से विशेष रूप से कहते हैं।

श्लोक—**कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।**
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ।।२२।।

श्लोकार्थ—हम सब कंस से दुःखी होकर अनेक दिशाओं में गए अब ही हे बहिन ! फिर काल ही इस अपने स्थान पर लाया है ।।२२।।

सुबोधिनी—प्रकर्षेण तापं प्रापिताः **सर्व** एव यादवाः **दिशं दिशमष्टदिक्षु याताः एतर्ह्यैव** इदानीमेव भोगेन कालो न स्मृतः । ततः कंसवधं सांप्रतमेव जातमिति मन्यते । **पुनः स्थानं** यथा प्रतापनात्पूर्वं **दैवेन** भगवता कालेना**सादिताः** । **स्वस** इति संबोधनमप्रतारणाय ॥२२॥

व्याख्यार्थ - सब यादवों ने कंस से बहुत दुःख पाए आठों दिशाओं में जहाँ तहाँ जाकर जैसे तैसे निवास किया, अब ही भोगसे काल कैसे गुजरा, यह स्मरण न रहा । पश्चात् कंस का वध अब ही हुआ यों माना जाता है । फिर अपने स्थान पर दुःख भोगने से पहले जैसे रहे हुए थे । वैसे ही भगवान् काल ले आए हैं, तुम बहिन हो जिससे तुमसे कपट (धोखा) नहीं करते हैं जो सत्य है वह ही कर रहा हूँ ॥२२॥

आभास—एवं दोषपरिहारमुक्त्वा गुणान्वक्तुं प्रथमतो मानसमाह **वसुदेवोग्रसेनाद्यै**रिति ।

आभासार्थ—वैसे दोष का परिहार कह कर, गुणों का वर्णन करने के लिए पहले मानस गुण 'वसुदेवोग्रसेनाद्यैः' श्लोक से वर्णन करते है

श्लोक—श्री शुक उवाच—**वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः ।**
आसन्नच्युतसंदर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि वसुदेव और उग्रसेन आदि यादवों से अर्चित वे राजा लोग भगवान् के दर्शन कर परमानन्द में मग्न हो गए थे ॥२३॥

सुबोधिनी—**वसुदेवो**ऽलौकिको महान् । **उग्रसेनो** लौकिकः तौ आदिभूतौ येषां यदूनां तैरग्रे वक्ष्यमाणाः सर्व एवा**र्चिताः** सन्तः महत्पुरस्कारेण गतमूलदोषाः । **अच्युतसंदर्शनेन** यो जातः **परमानन्द** तेनः **निवृता** आसन् निर्वृतिर्मानसी ॥२३॥

व्याख्यार्थ वसुदेव अलौकिक होने से महान् है उग्रसेन लौकिक होते हुए भी महान् है । वे, दोनों यादवों के अगुए हैं उनसे जो सब आये हैं एवं जो सब आने वाले बताए जाएँगे वे सब महान् पुरस्कार से पूजित हुए, जिससे उनके सब दोष मूल से नष्ट हो गए अच्युत भगवान् के दर्शन हो जाने से परमानन्द में मग्न हो गए यह आनन्द मानस हुआ ॥२३॥

आभास—तान् गणयति **भीष्म** इति त्रिभिः ।

आभासार्थ—'भीष्मो द्रोणो' इस श्लोक से तीन श्लोकों से उनकी गणना करते हैं

श्लोक—**भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।**
सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः ॥२४॥

श्लोकार्थ - भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र गांन्धारी पुत्रों के साथ स्त्री सहित पांडव कुन्ती, संजय, विदुर और कृपाचार्य ॥२४॥

सुबोधिनी – सात्त्विका राजसास्तामसाश्च क्रमान्निरूपिताः **ग्रम्बिकापुत्रो** धृतराष्ट्रः । **ससुता** दुर्योधनादिसहिताः **तथेति** तस्याः सात्त्विकत्वसदोहव्युदासः । नव भेदाः सात्त्विकाः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सात्विक, राजस ग्रौर तामस क्रम से निरूपरा किए हैं पुत्रों के साथ ग्रम्बिका का पुत्र धृतराष्ट्र, गान्धारी 'तथा' पद से गान्धारी के सात्विकपने का निषेध कहा है, सात्विकों के नव (नौ) भेद हैं ॥२५॥

ग्राभास—तथैव नवविधान् राजसान् निरूपयति **कुन्तिभोज** इति ।

ग्राभासार्थ—वैसे ही नव प्रकार के राजसों का 'कुन्ति भोज' श्लोक में वर्णन करते है

श्लोक—**कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।**
पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥२५॥
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।
युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाल्हिकादयः ॥२६॥

श्लोकार्थ—कुन्ति भोज, विराट, भीष्मक, नग्नजित् पुरुजित् द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशीराज, दमघोष विशालाक्ष मिथिला का राजा मद्रदेश का राजा केकय देश का राजा युधामन्यु सुशर्मा बाह्लिक ग्रादि ग्रौर उनके पुत्र ॥२५-२६॥

सुबोधिनी – **महानिति** नग्नजितो विशेषरगम् **दमघोषादयस्तामसाः** मद्रदेशाधिपतिः केकयदेशाधिपतिश्च । **ससुता** इति भूरिश्रवादयो भिन्नतया निरूप्याः । ग्रतस्तेऽपि नवविधाः ॥२५-२६॥

व्याख्यार्थ—'महान्' यह नग्नजित् जिनका विशेषरा है, कुन्ति भोज से काशिराज तक नव राजस हैं ग्रौर दमघोष से लेकर मद्र देश तथा केकय देश के राजा एवं सुत सहित भूरिश्रवादि ग्रलग कहे हैं ग्रतः वे भी नव प्रकार के तामस हैं ॥२५-२६॥

ग्राभास—निर्गुणान्परमसात्त्विकान्वा संबन्धाभावान्निरूपयति **राजान** इति ।

ग्राभासार्थ—निर्गुण ग्रथवा परम सात्विकों का सम्बन्ध के ग्राभाव से 'राजा नोऽन्ये' श्लोक कों में वर्णन करते हैं

श्लोक—**राजाननोन्ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।**
श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्याविस्मिताः ॥२७॥
ग्रथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।
प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन्कृष्णपरिग्रहान् ॥२८॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठर के अनुयायी दूसरे भी राजा लोग वहाँ आए और लक्ष्मी निवास भगवान् के वपु (श्री अङ्ग) को और उनकी स्त्रियों को देख कर विस्मित हुए ।।२७।। अनन्तर राम कृष्ण से पूजा पाकर, प्रसन्न हो कृष्ण के परिग्रह यादवों की प्रशंसा करने लगे ।।२८।।

सुबोधिनी—**अन्ये** पूर्वोक्तव्यतिरिक्ताः **च**कारात्तत्संबन्धिनश्च । नन्वेते संबन्धिनस्ते त्रिगुणा जाताः अन्ये कथं निर्गुणाः परमसात्त्विका वा जातास्तत्राह **युधिष्ठिरमनुव्र**ता इति । परमवैष्णवसङ्गात् तच्छीलेन शिक्षिताः । एवं चतुर्विधा अप्येते **श्रीनिकेतं** भगवतो **वपुर्दृष्ट्वा विस्मिताः** । इदं वपुर्ध्यानगम्यं कथं दृश्यत इति ध्यानगम्ये नियामकं **श्रीनिकेत**मिति । **सस्त्रीक**मिति सहजभार्यायां विद्यमानायां पुनरन्यासां परिग्रहोऽप्याश्चर्यमिति । तासामैकमत्यं कान्त्यतिशयं वा दृष्ट्वा विस्मितानां निरन्तरस्मरणेन ज्ञानोत्पत्तौ मुक्तिः स्यादिति तत्सांप्रतमनभिप्रेतमिति **कृष्णरामाभ्यां** तेषां पूजा समारब्धा । **सम्यक्** प्राप्तं **समर्हणं** येषामिति । ततो भगवदिच्छया भक्ता एव भूत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह **प्रशशंसु**रिति । **मुदा युक्ता** इत्यन्तस्तोषः केवलवाचिकत्वं व्यावर्तयति । भगवांस्तु सर्वैरेव स्तूयते । ते विरलाः ये भगवत्परिगृहीतान् स्तुवन्ति । अतः कृष्णपरिगृहीतान् **वृष्णीन् प्रशशंसुः** ।।२८।।

व्याख्यार्थ—पहले जिनका वर्णन हुआ है उनसे पृथक दूसरे 'च' पद से उनके सम्बन्धी भी थे ये सम्बन्धी जब त्रिगुण हैं तब ये दूसरे निर्गुण वा परम सात्विक कैसे हुए? जिसके उत्तर में कहते हैं, 'युधिष्ठिरमनुव्रता' युधिष्ठिर के अनुयायी थे, युधिष्ठिर परम वैष्णव थे अतः उनके सङ्ग से उनने वैसी शिक्षा प्राप्त की इस प्रकार ये चार ही श्री के निवास स्थान भगवान् के श्रीअङ्ग को देख कर अचम्भे में पड़ गए यह श्री अङ्ग ध्यानगम्य कैसे हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ध्यानगम्य इसलिए है कि लक्ष्मी के निवास स्थान हैं । सहजभार्या के होते हुए भी फिर अन्यों का परिग्रह भी आश्चर्य कारक है । उनकी एक मति तथा कान्ति की बहुलता देख कर विस्मित हुवे । राजा यदि निरन्तर स्मरण करें तो ज्ञान की उत्पत्ति हो जावे, जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो, यों होना भगवान् को अब अभीष्ट (इच्छित) नहीं है, इसलिए ये राम व कृष्ण ने इनकी पूजा करनी प्रारम्भ की अच्छी तरह पूजित होने से प्रसन्न हुए तथा भगवदिच्छा से भक्त भी बन गए । अतः भगवान् की स्तुति करने लगे, मुदायुक्ताः' पद से यह बताया है कि केवल दिखावे के लिए वाणी से स्तुति नहीं की किन्तु अन्तः करण शुद्ध एवं प्रसन्न होने से अन्तःकरण के आह्लाद से भाव पूर्वक प्रशंसा करने लगे । भगवान् की तो सब स्तुति करते हैं किन्तु वे विरले (थोड़े) हैं जो भगवान् के परिग्रह की भी स्तुति करें अतः उन्होंने कृष्ण के परिग्रह यादवों की प्रशंसा की है । ।।२६-२८।।

आभास—प्रशंसामाह त्रिभिः सात्त्विकादि भावेन **अहो** इति ।

आभासार्थ—'अहो भोजपते' श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में सात्विक आदि भाव से प्रशंसा का वर्णन करते हैं !

श्लोक—**अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।**
यत्पश्यतासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ।।२६।।

श्लोकार्थ—अहो भोजपते ! इस लोक में मनुष्यों में यदि कोई भाग्यशाली है, जिनका जन्म सफल हुआ हो, तो आप ही हैं, क्योंकि जिस श्रीकृष्ण का योगियों को समाधि में भी महान् कष्ट से दर्शन होता है, उनका आप निरन्तर दर्शन पा रहे हो ।।२६।।

सुबोधिनी—भगवद्दर्शनं दुर्लभं मत्वा तत्तेषामनायासेन जायत इति हे **भोजपते** राजन् **यूयमेव जन्मभाजः** सुतरां **नृणां** मध्ये । वैकुण्ठवासिनां तु कदाचिद्भवतीति । योगः कदाचित्परिपक्वः सकृद्दर्शयति । भवन्तस्त्वसकृद्वारं वारं **पश्यत** । पश्यथेति पाठे तादेशाभावश्छान्दसः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के दर्शन बहुत दुर्लभ हैं, यों मान कर, वे दुर्लभ दर्शन बिना श्रम के स्वतः निरन्तर हो रहे हैं, इस प्रकार हे भोजपते राजन् ! मनुष्यों में वास्तविक सफल जन्म वाले आप ही हैं । वेकुण्ठ वासियों को भी कदाचित् दर्शन होते हैं और यदि योग भी पूर्ण सिद्ध हो, तो एक बार दर्शन होता है. आप तो बार बार दर्शन पा रहे हैं यदि श्लोक में 'पश्यथ' पाठ होतो समझना चाहिए कि यह पाठ च्छान्दस' अर्थात् वैदिक है इस लिए यहाँ 'त' का आदेश नहीं हुवा है ।।२६।।

आभास—एवं भगवद्दर्शनं स्तुत्वा भगवतो गुणश्रवणादीन् धर्मान् स्तुवन्ति **यद्विश्रुतिरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के दर्शन की प्रशंसा कर भगवान् के गुणों के श्रवण आदि धर्मों की 'यद्विश्रुतिः' श्लोक से प्रशंसा करते हैं ।

श्लोक—यद्विश्रुति श्रुतिनुतेदमलं पुनाति
पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।
भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-
स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ।।३०।।

श्लोकार्थ—वेद से प्रशंसित जिन की कीर्ति, व जिनके चरण धोवन का जल (गंगा) और जिनके वचन रूप वेद, इस जगत् को अति पवित्र करते हैं और यह पृथ्वी, काल की गति से शक्ति होने पर भी जिनके चरणाविन्द के स्पर्श से उत्तम शक्ति पाकर हमें सर्व पदार्थ दे रही है ।।३०।।

सुबोधिनी विश्रुतिः कीर्तिः श्रुतिभिः सर्वैरेव वेदैर्नुता । अनेनाधिक्यं माहात्म्यं चोक्तम् । **श्रुतिभिः** श्रोत्रेन्द्रियैर्वा **नुता** अतिरसालत्वेनात्यादरं गृहीता । **इदं** जगदेवात्यर्थं **पुनाति** । भगवत्कीर्तेः विषयत्वेन भगवत्संबन्धः न तु साक्षात् । तादृश्यपि चेत्पुनाति तदा साक्षात्संबद्धो भगवान् किं वक्तव्य इति माहात्म्यं निरूपितं भवति । कीर्तिः सात्त्विकी । गङ्गा राजसी । शास्त्रं ततोऽन्यदिति । सर्वेषां तुल्यत्वायाह **पादावनेजनपयः** । **शास्त्रं वचो** गीता भागवतं च । एतद्द्वयमप्यलं

पुनाति । एवं कीर्त्यादिद्वारापि भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा प्रकारान्तरेण पुनः साक्षादेवाह **भूरि**ति । **कालेनातिबलिष्ठेन भर्जितभगापि** गतदृष्टादृष्टसामर्थ्यापि **यदङ्घ्रिस्पर्श**मात्रेणैव **उत्थाः** उत्थिताः सर्वा एव **शक्तयो** यस्याः तादृशी भूत्वा **नोऽस्मभ्यं** सर्वानिवार्था**न् वर्षति** । अनेन कालग्रस्तस्यापि भगवच्चरणस्पर्शे पुनः प्रत्यापत्तिर्निरूपिता । पूर्वस्माच्चाधिक्यं सर्वोपजीव्यत्वं च निरूपितम् ।३०।

व्याख्यार्थ—सर्व श्रुतियों ने जिनकी कीर्ति गाई है, इससे श्रीकृष्ण का अधिक महात्म्य कहा है, अथवा श्रोत इन्द्रियों ने आप की कीर्ति अतिशय रसाल होने से अतिशय आदर से ग्रहण की है। इस जगत् को वह बहुत ही पवित्र कर रही है। भगवत् कीर्ति का विषयपन से भगवान् से सम्बन्ध है साक्षात् सम्बन्ध नहीं है,ऐसा होते हुए भी यदि पवित्र करती है,तो यदि भगवान् साक्षात् संबद्ध हो, तो क्या कहा जाए यह कह नहीं सकते, यों महात्म्य निरूपण किया। कीर्ति सात्विकी है, गङ्गा राजसी है और शास्त्र उनसे दूसरे प्रकार का है, सब के तुल्यपन के लिए कहा है, कि 'पादावनेजनपयः' अर्थात् गङ्गा जी 'शास्त्रं वचो' कहने का भावार्थ है गीता और भागवत, ये दोनों भी निर्मल कर पवित्र करते हैं इस प्रकार कीर्ति आदि द्वारा भी भगवान् का महात्म्य कह कर फिर अन्य प्रकार से साक्षात् के द्वारा जो हुआ है वह कहते है, 'भूः' अति बलवान् काल ने जिसकी दृष्ट और अदृष्ट सामर्थ्य कर दी है, तो भी, साक्षात् भगवान् के चरणारविन्द के केवल स्पर्श से ही जिसकी सर्व शक्तियाँ जाग्रत हो गई हैं, ऐसी पृथ्वी बलवती बन कर हम लोगों को सब प्रकार के पदार्थ दे रही है। यों कहने से यह बताया है, कि काल से ग्रस्त में भी भगवान् के चरणस्पर्श से पुनः वही पूर्ण शक्ति आ जाती है, इस प्रकार कह कर यह सूचित किया है, कि चरण स्पर्श से पहले से भी विशेषता उसमें आ जाती है जिससे सर्व के लिए उसमें उपजीव्यता (जिस पर जिविका का निर्भर हो) प्रकट हो जाती है यों निरूपण किया हैं ॥३०॥

आभास—एवं दर्शनस्पर्शनस्य माहात्म्यमुक्त्वा तादृशदर्शनादिकं सर्वं येषां मिलितं भवति तेषां भाग्यं किं वक्तव्यमित्याह **तद्दर्शने**ति ।

आभासार्थ—यों दर्शन और स्पर्शन के महात्म्य का वर्णन कर, ऐसे दर्शन आदि सर्व जिनको मिलते हैं उनके भाग्य का क्या वर्णन किया जावे, यह 'तद्दर्शन' श्लोक मे वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-**
शय्याशनासनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे नरकवर्त्मनि वर्ततां नः
स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥३१॥

श्लोकार्थ—उन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के साथ दर्शन,स्पर्शन,अनुसरण से और इनके साथ वार्तालाप करना तथा सोना एवं भोजन करना, सपिण्ड और कन्या लेन-देन आदि सम्बन्ध से बन्धे हुए हों आदि नव प्रकार के सम्बन्ध से श्री कृष्ण के साथ आपका संबंध जुड़ा हुआ है, यह आपका सम्बन्ध इनके साथ नरक के द्वार गृह में हो रहा है जिससे

आपको स्वर्ग और मोक्ष की स्पृहा भी नहीं रहती है, यही आपका सबसे अधिक उत्कर्ष है ॥३१॥

सुबोधिनी—तादृशं **दर्शनं, स्पर्शनमनुपथं** सहचलनं, **प्रकृष्टजल्पाः** इष्टकथाः, **शय्या** शयनं, **अशनं** भोजनम्, **आसनमु**पवेशनम्, **सयौनं** स्त्रीकृतः संबन्धः, **सपिण्डो** गोत्रसंबन्धः। एवंविधैर्नवविधैर्**बन्धो** यस्य साक्षात्संबन्धो भगवता सहास्तीति। सगुणस्तु संबन्धो दुर्लभ इति स एवोक्तः। किञ्च। **येषां** भवतां **नरकवर्त्मनि गृहे वर्ततां** नरक आवश्यकः। साधारणगृहमात्रमेव नरकसाधनम्। सुतरां मर्यादारहितानामस्माकं, वो वा। **स्वयमेव विष्णुः** सर्वसंदेहनिवारकः। य एव संबन्धो नरकहेतुरन्येषां स एव भवतां **विष्णुर्जात** इति। ततोऽपि किमित्याशङ्कां वारयितुं विष्णोः प्रकृतोपयोगिगुणमाह **स्वर्गापवर्गयोरपि विगतरमणरूपः**। भगवति दृष्टे न कोऽपि स्वर्गे मोक्षे वा रमत इति। विरामो वा। तावदेव स्वर्गापवर्गौ प्राप्नोति यावद्भगवानेवं संबद्धो न प्राप्यते। एवं तान् स्तुत्वा परमभक्त्याविष्टाः तूष्णीं स्थिताः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ऐसा साक्षात् श्रीकृष्ण का दर्शन, स्पर्शन तथा उन के साथ घूमना, सम्भाषण करना, सोना, भोजन करना, बैठना, कन्या लेन देन का सम्बन्ध, गोत्र सम्बन्ध, इस प्रकार नव भाँति जिसका साक्षात् सम्बन्ध भगवान् के साथ है, सगुण सम्बन्ध तो दुर्लभ होता है, इस लिए वह सम्बन्ध ही कहा है, किञ्च नरक द्वार गृह में रहने वाले आपको नरक प्राप्ति अवश्यक है साधारणतया केवल गृह भी नरक का साधन है, तो मर्यादा रहित हम और आपको तो सहज ही नरक प्राप्त ही है तो भी दूसरों के लिए जो घर नरक का द्वार है, वह ही घर आप के लिए विष्णु प्राप्ति कर हुआ है। स्वयं विष्णु ही सर्व संदेह के निवारक हैं यों हुआ तो भी क्या हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि विष्णु ने जो उपयोगी गुण किया है, वह यह है कि आपको भगवान् के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध होने से स्वर्ग और मोक्ष की भी तृष्णा नहीं है। भगवान् के दर्शन मात्र होने पर किसी के मन में भी स्वर्ग वा मोक्ष के आनन्द की चाहना नहीं रहती है अथवा वहाँ उनको आनन्द भी देखने में नहीं आता है,तब तक ही स्वर्ग और मोक्ष अच्छे लगते हैं और उनमें आनन्द आता है,जब तक भगवान् से इस प्रकार सम्बन्ध नहीं होता है,इसी तरह उनकी स्तुति करने से परम भक्ति के आवेश से युक्त हो गए, जिससे विशेष बोल न सके ॥३१॥

आभास—एवमेकविधानां भगवत्परत्वं निरूपितम्, प्रमेयत्वाय द्वितीयानामाह **नन्दस्त्वे**ति।

आभासार्थ—इस प्रकार सजातियों का भगवत्परायण कहकर अब विजातियों के प्रमेयपन के लिए 'नन्दस्तत्र' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान्।**
तत्रागमद्वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥३२॥

श्लोकार्थ—नन्दजी ने सुना कि श्रीकृष्ण के साथ यादव कुरुक्षेत्र आए हैं,

अतः उनके देखने की इच्छा से आप भी गाड़ों में सबसामान भर गोपों को साथ ले कुरुक्षेत्र आए ।।३२।।

सुबोधिनी—स दूरे स्थितः पूर्वभागे, ते तु पश्चिमभागे स्थिताः अतः पश्चाच्छ्रुत्वा सर्वैः सहितस्तत्र गतः । **तत्र कुरुक्षेत्रे यदून् प्राप्तान् कृष्णपुरोगमान्** भगवानेव **पुरोगमो** येषामिति भगवदैश्वर्यं तत्र द्रष्टव्यमिति । **गोपैरनो**भिश्च सर्वसामग्र्या **वृतः** भगवन्तं द्रष्टुं **तत्रागतः** ।३२।

व्याख्यार्थ—वह (नन्दरायजी) पूर्व की तरफ रहने से यादवों से दूर थे; क्योंकि यादव पश्चिम में रहते थे, अतः वे जब कुरुक्षेत्र आ गए, तब नन्दरायजी ने सुना कि यादव अपने नेता श्रीकृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र पहुँच गए हैं, तब भगवान् के ऐश्वर्य देखने की मन में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, जिससे उनको देखने की इच्छा से गाड़ी में सब सामान भर गोप आदि सबको साथ में ले कुरुक्षेत्र आ गए ।।३२।।

आभास—तस्मिन् यादवानां पूर्वापेक्षया विशेषानुवृत्तिमाह **तं दृष्ट्वेति** ।

आभासार्थ—यादवों को नन्दादि को पहले से विशेष देखने की इच्छा हुई, वह 'तं दृष्ट्वा' श्लोक से कहते ।

श्लोक—**तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।**
परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ।।३३।।

श्लोकार्थ—नन्दरायजी को देखकर यादव बहुत प्रसन्न हुए और जैसे प्राण आने से इन्द्रियाँ उठकर खड़ी हो जाती हैं वैसे वे भी उठकर खड़े हो बहुत दिनों से दर्शन होने के कारण कायर हुए यादव उनका गाढ (जोर से) आलिङ्गन करने लगे ।।३३।।

सुबोधिनी दर्शनमात्रेणैव सर्व**वृष्णयो हृष्टाः** तेषां मनःप्रीतिर्जाता । ततो देहेनापि मनःप्रेरणरहितेनापि उत्थिता इत्याह **तन्वः प्राणमिवोत्थिता** इति । यथा प्राणेषु समागतेषु करचरणाद्यवयवाः स्वयमेवोत्थिता भवन्ति । अनेनैतावत्कालं यादवा मूर्च्छिता इव स्थिता इत्युक्तम् । अतः **परिषस्वजिरे** क्रमेण यथालाभम् । किञ्च । **चिर**दर्शनेन बहुकालजातदर्शनेन **कातराश्च** जाताः। कदाचिदस्मान् त्यक्त्वा गमिष्यतीति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—दर्शन होते ही यादव प्रसन्न हुए, मन से प्रेम उत्पन्न होने लगा, बिना प्रेरणा के ही देह खड़ी होने लगी, जैसे प्राण आने से हस्त-पादादि अवयव आप ही सजग हो जाते हैं । इससे यह सूचित किया कि इतने समय तक यादव मानों मूर्च्छित-से पड़े थे, अब सजग हो क्रम से ज्यों-ज्यों मिलने का अवसर आता गया, त्यों त्यों प्रत्येक गाढ आलिङ्गन करने लगा । बहुत समय के बाद दर्शन होने से अधीर हो गए थे, यों मन में शङ्का होती थी, कदाचित् हमको छोड़कर चले जायेंगे तो आलिङ्गन का और मिलन का आनन्द हमको न मिलेगा ।।३३।।

आभास—एवं साधारणानामुक्त्वा पूर्ववद्वसुदेवस्य विशेषमाह **वसुदेवः परिष्वज्येति** ।

आभासार्थ—यों साधारण यादवों का हाल कहकर पहले की तरह वसुदेवजी का 'वसुदेवः परिष्वज्य' श्लोक से विशेष कहते हैं ।

श्लोक—**वसुदेवः परिष्वज्य संप्रीतः प्रेमविह्वलः ।**
स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले ॥३४॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कंस के दिए हुए दुःखों को और अपने पुत्र गोकुल में छोड़े थे उसका स्मरण कर विह्वल हो गए थे किन्तु यादवों से मिलकर जो आनन्द हुआ उसे अन्तःकरण में उत्पन्न प्रेम से प्रसन्न हुए ॥३४॥

सुबोधिनी—सम्यक् **प्रीतः** अन्तः प्रेम्णा च बहिर्विह्वलो जात इति तस्यैतावत्येवावस्था निरूपिता । विह्वलतायां हेतूनाह **स्मरन्कंसकृतान्** क्लेशानिति । पुत्रमारणादीन् **गोकुले** कृष्णबलभद्रयोः स्थापनं च ॥३४॥

व्याख्यार्थ वसुदेवजी भीतर के प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु बाहर विह्वल हो गए. उनकी ऐसी अवस्था का निरूपण किया । बाहर की विह्वलता के कारण कहते हैं कि (१) कंस ने जो दुःख दिए थे, उनका स्मरण होने लगा । (२) अपने पुत्रों को कंस ने मारा, जिससे राम कृष्ण को गोकुल में छोड़ना पड़ा; इन कारणों से बाहर विह्वल देखने में आए ॥३४ ।

आभास—ततो नन्दस्य साक्षाद्भगवद्दर्शनमाह **कृष्णरामौ परिष्वज्येति** ।

आभासार्थ - 'कृष्णरामौ' श्लोक से नन्द को साक्षात् भगवान् के दर्शन हुए, जिसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—**कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।**
न किंचनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! श्रीकृष्ण और राम ने माता-पिता (यशोदा और नन्दरायजी) को आलिङ्गन कर प्रणाम किया, जिससे प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहने लगे और कृष्ण गद्गद होने से रुद्ध हो गए, अतः कुछ भी न बोल सके ॥३५॥

सुबोधिनी—उभौ प्रथमं **परिष्वज्य पितरावित्यभिवाद्य** आविर्भूतप्रेम्णा **साश्रुकण्ठौ** भूत्वा **न किञ्चनोचतुः** तूष्णीं स्थितौ । नन्दे कायिकमानसिक एव व्यापारो भगवता प्रदर्शितः । न तु वाचनिक इति । **कुरूद्वहेति** विश्वासार्थं संबोधनं । ॥३५॥

व्याख्यार्थ—दोनों भाई राम और श्रीकृष्ण ने पहले आलिङ्गन किया, पश्चात् माता-पिता को प्रणाम किया, जिससे प्रेम उमड़ आया, उससे कण्ठ रुद्ध (रुन्ध) गया, अतः कुछ भी न बोल सके। नन्द में भगवान् ने कायिक तथा मानसिक व्यापार दिखाया, वाणी का नहीं। 'कुरुद्वह' सम्बोधन विश्वास दिलवाने के लिए है ।।३५।।

आभास—ततो नन्दकृत्यमाह **तावात्मासनमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् 'तावात्मासनम्' श्लोक से नन्द का कृत्य कहते हैं।

श्लोक—**तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ।।३६।।**

श्लोकार्थ—यशोदाजी ने दोनों पुत्रों को अपने आसन पर बिठाया और अपनी भुजाओं से आलिङ्गन किया, महाभाग्यवती यशोदाजी ने भी इतने दिनों के विरह ताप को, दर्शन आदि से विप्रयोग का जो ताप था, उसको नेत्र से आँसू बहाते हुए बाहर निकाल दिया ।।३६।।

सुबोधिनी—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन यशोदानन्दौ बालभावेनैव भगवद्भावनां कुरुत इति तयोर्बालत्वेनैवोपस्थितौ अतः सूक्ष्मत्वात्स्वक्रोडे उपवेश्य **आत्मैवासनमिति** । ततो **बाहुभ्यां परिरभ्य** चकारादाघ्राणादिकमपि कृत्वा **शुचः** शोकाश्रूणि **विजहतुः** शोकं वा त्यक्तवन्तौ ।।३६।।

व्याख्यार्थ—ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार यशोदा और नन्द ने बाल भाव से ही भगवान् की भावना की, जिससे वे इनके सामने बालक रूप से ही खड़े हुए, अतः बालक हो जाने से अपनी गोद में बिठाया, जिससे आप ही आसन हुए, पश्चात् दोनों भुजा से आलिङ्गन किया। 'च' शब्द से यह भाव बताया है कि मस्तक आदि भी सूँघे, यों करने से उन्होंने अपने शोक को आँसुओं के साथ बाहर निकाल दिया ।।३६।।

आभास—एवं पुरुषाणामन्योन्यसंबन्धमुक्त्वा स्त्रीणामाह **रोहिणीति** ।

आभासार्थ—इसी तरह पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध कहकर, अब 'रोहिणी' श्लोक से स्त्रियों का सम्बन्ध बताते हैं।

श्लोक—**रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।
स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ।।३७।।**

श्लोकार्थ—यशोदा की की हुई मैत्री को स्मरण करती हुई रोहिणी और देवकी कण्ठ में अश्रु भर आलिङ्गन कर उससे कहने लगी ।।३७।।

सुबोधिनी—अथ पूर्वाभ्यो भिन्नप्रक्रमेण। चकारात्तत्संबन्धिन्योपि। नन्वसमा कथं परिष्वक्तेत्याशङ्क्याह **व्रजेश्वरीमिति**। व्रजस्य सर्वगोधनस्य प्रभ्वीम्। अतो देवतारूपत्वात् असमेत्यर्थः। ततस्तत्कृतां **मैत्रीं स्मरन्त्यौ बाष्पकण्ठ्यौ** भूत्वा **समूचतुः**। अनयोः कायिकादित्रयव्यापार उक्तः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यह प्रक्रम पहले जो कहा जा चुका है उनसे पृथक् है। 'च' उनकी सम्बन्धिनियाँ भी समझनी, जो असमान हैं, उनका आलिङ्गन कैसे किया? जिसके उत्तर में कहा है कि ये (यशोदा) व्रजेश्वरी हैं अर्थात् सब गोधन की स्वामिनी हैं. अतः देवता रूप होने से ही असमान हैं, अन्यथा नहीं है। बाद में उसको की हुई मैत्री का स्मरण होते ही कण्ठ आंसुओं से भर गया अर्थात् गद्गद कण्ठ वाली हो कहने लगी, इससे दोनों का कायिक आदि तीनों व्यापार कहे हैं ॥३७॥

आभास—तयोर्वाक्यं श्लोकद्वयेनाह **को विस्मरेतेति**।

आभासार्थ—इन दोनों के वाक्य 'को विस्मरेत' तथा 'एतावद्दृष्ट' श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—को विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि।
अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे व्रजेश्वरी! सदा समान वर्तमान आपकी मैत्री ऐसी है, जिसका बदला इन्द्र का ऐश्वर्य देने पर भी नहीं चुकाया जा सकता है, उसे कौन भूल सकता है? ॥३८॥

सुबोधिनी—वां युवयोर्नन्दयशोदयोः। **अनिवृत्तां** निवृत्तिरहितां प्रत्युपकाररहितामिति यावत्। **व्रजेश्वरीति** माहात्म्यार्थं संबोधनम्। नन्दोऽपि निकट एव तिष्ठति। क्षत्रियाणामेव दूरे व्यवहारः। कदाचित्प्रत्युपकारसमर्था अपि यादवाः प्रत्युपकारं न कृतवन्त इति यशोदाया हृदये कृतघ्नता भासेत तन्निवृत्त्यर्थमूचतुः **अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यमिति**। ऐन्द्रमप्यैश्वर्यं प्राप्य **को वा विस्मरेतेति**। यशोदानन्दाभ्यां यावानर्थो दत्तः सः स्वर्गादौ नास्त्येव। स एव विस्मारको भवेत् यो महान् भवेत्। अथ प्रत्युपकारः कर्तव्य इति तस्मिन्नपि पक्षे ऐन्द्रेऽपि पदे दत्ते न प्रत्युपकार इति इन्द्रपदकीर्तनम्। **यस्याः** मैत्र्याः **इह** जगति **प्रतिक्रियैव** नास्ति। अनेन सर्वयादवाः भगवद्धर्यां मैत्र्या क्रीता इति निरुक्तं भवति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—आप दोनों (नन्द और यशोदा) की मैत्री जिसका प्रत्युपकार (बदला) हो नहीं सकता है, उसे कौन भूल सकता है? व्रजेश्वरी! यह सम्बोधन माहात्म्य प्रगट करने के लिए दिया है। नन्दजी भी निकट ही रहते हैं क्षत्रियों का ही व्यवहार दूर में होता है. कदाचित् (शायद) कभी बदला देने में समर्थ होते हुए भी यादव बदला न चुकावें, इस प्रकार की शङ्का (कृतघ्नता का भाव) यशोदाजी के मन में उत्पन्न हो तो उसकी निवृत्ति के लिए कहते हैं कि इन्द्र के समान ऐश्वर्य प्राप्तकर कौन भूल सकता है? यशोदा और नन्द ने जितना ऐश्वर्य दिया है, उतना स्वर्ग में भी नहीं है, वह ही विस्मारक होता है। जो महान् हो, फिर प्रत्युपकार तो करना चाहिए। इस पक्ष में भी कहते हैं

कि 'ऐन्द्र' पद देने पर भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता है, यों 'इन्द्र' पद की बड़ाई कही है, जिस मैत्री की इस जगत् में प्रतिक्रिया ही नहीं है, ऐसी आपको मैत्री है। आप दोनों ने इस मैत्री से यादवों को क्रय (खरीद, कर लिया है, यों कहा जा सकता है ।।३८।।

आभास—तां मैत्रीं स्मारयति **एतावदृष्टपितराविति** ।

आभासार्थ—'एतावदृष्टपितरौ' श्लोक से उस मैत्री का स्मरण करवाती हैं।

श्लोक—**एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः**
संप्रीणनाभ्युदयपोषणलालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णो-
र्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परस्वः ।।३९।।

श्लोकार्थ—जिन्होंने माता-पिता को देखा ही नहीं, ऐसे ये हमारे पुत्र जिस तरह पलक से नेत्र रक्षा पाते हैं, वैसे आपसे ही इन्होंने रक्षा पाई है। माता-पिता रूप आपने ही इनका लालन-पालन, अभ्युदय व पोषण किया है, जिससे ये सब तरह से आपके यहाँ निर्भय रहे। यह कहावत सत्य है कि सत्पुरुष मेरा और पराया ऐसा भेद जानते ही नहीं हैं ।।३९।।

सुबोधिनी—बाल्ये दर्शनमदर्शनमित्य**दृष्टपितृ**त्वम् । **युवयोरेव पित्रोः** पितृभ्यां **संप्रीण**नादिकं **प्राप्य युवयोरेवोषतुः** । सम्यक् प्रीणनमलौकिकदानहिताचरणादिभिः । **अभ्युदयः** शान्तिकादिभिः । **पोषणं** नवनीतादिभिः । **लालनं** स्तुतिचुम्बनादिभिः । एतच्चतुष्टयं **प्राप्य** यथा **अक्ष्णोः पक्ष्म** तथात्वमिति । **भवतीति** संबोधनम् । हे **भवति** त्वमनयोरक्ष्णोः पक्ष्मेव रक्षिकेति यशोदाया अधिका स्तुतिः । अत एव युवयो**र्न्यस्तावेतावकुत्रभयौ** । अत एव पूतनादीनां भयं निवृत्तमिति भावः । नन्वेवं रक्षा स्वकीयस्यैव क्रियत इति कृष्णोऽस्माकमेव अस्माभिश्च नेतव्य इति शङ्कायामूचतुः **न सतां परस्व** इति । परस्व इत्यसद्बुद्धिः **सतां** कदापि **न** भवति ।।३९।।

व्याख्यार्थ - बाल्यकाल में ही बालक प्रथम माता पिता को ही देखता है। वह इन दोनों को न हुआ आप ही ने माता पिता होकर सर्व प्रकार अलोकिक रीति से, सब कुछ देकर इनका हितादि किया क्योंकि, आप के वहाँ ही रहे। इनका अभ्युदय (उन्नति) भी शान्तिक (शान्ति करानेवाला) आदि से आपने ही किया। नवनीत (मक्खन) आदि पौष्टिक पदार्थों द्वारा इनका पोषण किया, स्तुति एवं चुम्बन आदि से लाड लडाए, इसी तरह चारों प्रकार से इनको वैसी रक्षा आदि आपने की जैसे पलक सब तरह आँख का पोषण करती है। 'हे भवति' संबोधन से यशोदाजी की नन्द से भी विशेष स्तुति की है। क्योंकि पलक की तरह पुत्र की रक्षा विशेषकर माता ही ध्यानपूर्वक करती है। इस कारण से ही आप के पास रक्षित ये दोनों सर्वथा निर्भय हो रहते थे। यों कहकर बताया कि पूतना आदि का भय भी निवृत्त हो गया, इस प्रकार रक्षा अपनी सन्तान को ही की

जाती है अतः कृष्ण हमारा है, हमही इसको ले जावें, इस शङ्का के उत्तर में कहतो हैं, कि अपना और पराया ऐसी असत् बुद्धि सत्पुरुषों को कभी नहीं होती है ॥३९॥

आभास—एवं द्वितीयानामुक्त्वा तृतीयानामाह **गोप्यश्चे**ति ।

आभासार्थ—इसी तरह दूसरियों का कह कर अब 'गोप्यश्च' श्लोक से तीसरियों का कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं**
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—बहुत समय से जिस समय श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा थी, गोपियों ने उनको प्राप्त किया, किन्तु नेत्रों में पलक रचने वाले ब्रह्मा (भगवान् के दर्शन करने में) विघ्न रूप हुआ, जिससे उसको गोपियाँ शाप देने लगी और भगवान् को नेत्रों द्वारा हृदय में धारण कर, उनका गाढ(खूब) आलिङ्गन कर, नित्य समाधि द्वारा भगवान् के दर्शन की इच्छा वाले योगियों को भी दुर्लभ, ऐसे दर्शन कर भाव द्वारा उस भाव स्वरूप का आप भी रूप बन गईं ।।४०॥

सुबोधिनी—गोपीनां कृष्ण एव संभाष्यः न तु देवक्याद्याः तादृश्यः **कृष्णमुपलभ्य** सम्यग्दृष्ट्वा दृशि स्थितं भगवन्तं **दृग्भिरेव हृदिकृत्य** अन्तःकरणे समागतमात्मनैव देहादिव्यवधानरहिते-**नालम**त्यर्थं **परिरभ्य सर्वा** एव **तद्भावं** कृष्णभावं प्राप्ताः । अन्तर्गते भगवति आलिङ्गनार्थं प्रवृत्ताः स्वजीवात्मानं तत्र संयोज्य भगवता सह ऐक्यं प्राप्ताः लिङ्गशरीरमपि तिष्ठतीति जीवधर्मापेक्षया भगवद्धर्मा बलिष्ठा इति जीवभावं परित्यज्य भगवद्भावं प्राप्ता इत्यर्थः । **चिरादभीष्टमिति** । सर्वभावेन प्राणानां तत्समीपगमने हेतुरुक्तः । अभीष्टतायाः परमसीमामाह **यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ती**ति । 'जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्-दृशाम्' इति । अक्षिरक्षार्थं पक्ष्मकरणं भगवद्दर्शन-दशायामक्ष्युपघातकशङ्काभावात् पक्ष्म व्यर्थं प्रत्युत व्यवधानं करोतीति बाधकमतो ब्रह्मा भगवद्दर्शनयुक्तानां पक्ष्म कुर्वन् दर्शनरसानभिज्ञो जड एवेति वदन्त्यः भगवत्प्रेक्षणे **दृशिषु** यः **पक्ष्मकर्ता** तं **शपन्ति** । एवं दर्शनरसाभिज्ञाः ततो **दृग्भिर्हृदीकृतं** भगवन्तं बहिः शङ्कया आलिङ्गन-बाधाद् अन्तरेव **परिरभ्य** तद्रूपा जाताः । अयं भावस्तासां कामेन जातः तत्राप्यनायासेन । साधनसहस्रस्यापि एतदशक्यमित्याह **नित्ययुजामपि दुरापमिति** । निरन्तरयोगरतानामप्य-प्राप्यम् । असूयादिसर्वदोषपरिहारार्थं भगवान् उपायान्तरमलभमानः स्वभावं दत्तवान् । न तु तासां स्वभावे काचित्प्रतीतिरस्ति । अत एव श्रूयते ।

व्याख्यार्थ—गोपियों को कृष्ण से मिलाप, सम्भाषण आदि करना था । देवकी आदि से नहीं, क्योंकि गोपियों के मन में, यह बात अब तक खटक रही थी, कि ये ही व्रज से कृष्ण को

अपने पास ले गई हैं। वैसी गोपियाँ कृष्ण को प्राप्त कर, अच्छी तरह से दर्शन कर, नेत्र में स्थित भगवान् को नेत्रों से ही हृदय में धारण कर, देह आदि रुकावट से रहित, आत्मा से ही अत्यन्तमेव आलिङ्गन कर सर्व गोपियाँ कृष्ण भाव को प्राप्त हो गईं, अर्थात् हृदय में पधारे हुए भगवान् को आलिङ्गन करने के लिए प्रवृत्त गोपियाँ अपने जीवात्मा को उनमें जोड़कर भगवान् के साथ ऐक्य को प्राप्त हुईं। उस समय गोपियों का लिङ्ग शरीर भी विद्यमान था, तो ऐक्य कैसे? जिस शङ्का का निवारण करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जीव धर्म की अपेक्षा भगवद्धर्म बलिष्ठ है, इसलिए जीव भाव का त्याग कर भगवद्भाव को प्राप्त हुईं। प्राण सर्वभाव से उनके समीप जाने के हेतु था, बहुत समय से प्राप्ति की इच्छा, इच्छा की परम सीमा को कहते हैं कि भगवान् के दर्शन में, रुकावट डालने वाली, जो पलकें थीं, उनको बनाने वाले ब्रह्मा को 'जड़ उदीक्षतांपक्ष्म कृद्दृशाम्' श्लोक में शाप देती हैं, कि ब्रह्मा जड़ अर्थात् मूर्ख है' आँखों की रक्षा के लिए पलकें बनाईं, किन्तु भगवद्दर्शन के काल में आँखों की कोई हानि नहीं होती है, अतः पलकें व्यर्थ, बल्कि दर्शन में रुकावट करती हैं इसलिए बाधक हैं; अतः ब्रह्मा ने भगवद्दर्शनाभिलाषियों के नेत्रों में जो पलकें बनाई हैं, इससे जाना जाता है कि ब्रह्मा भगवद्दर्शन से जो रस प्राप्त होता है, उसको नहीं जानता है, अतः मूर्ख ही है यों कहती हुई भगवान् के दर्शन समय, नेत्रों में जो पलकें बनाने वाला है, उसको शाप देती हैं, इस प्रकार दर्शन के रस को जाननेवाली गोपियों ने नेत्रों से भगवान् को हृदय में विराजमान कर लिया। भगवान् यदि बाहर विराजते तो आलिङ्गन में बाधा पड़ेगी, भीतर ही गाढ आलिङ्गन करती हुई तद्रूप बन गईं यह भाव उनके काम से हुआ उसमें भी किसी प्रकार परिश्रम नहीं हुआ हजारों साधनों से यों होना अशक्य है, इसको दृष्टान्त से समझाते हैं कि निरन्तर जो योग में आसक्त हैं उनको भी यह आनन्द प्राप्त नहीं होता है, भगवान् ने असूया (डाह) आदि दोषों के परिहार के लिए दूसरा उपाय न देखकर स्वभाव ही ऐसा दिया, उनके स्वभाव में कोई अन्य प्रतीति नहीं है अतएव सुना जाता है कि—

कारिका—**'गोमति मतिमति किमिदं हरि हरि हरिणा कथं सङ्गः।**
जातं पीतं वसनं मेचकमङ्गं गतोऽङ्गनाभावम्' इति ॥

कारिकार्थ - हे बुद्धिमती वाणी! आपने ऐसे से सङ्ग कैसे किया, जिसके वस्त्र पीले और अङ्ग श्याम तथा स्वयं स्त्रीभाव को प्राप्त हो गए हैं।

सुबोधिनी—अतः पूर्वविस्मरणार्थं भगवानेवं कृतवानिति तृतीयकक्षास्थानामत्युत्कर्ष उक्तः ॥४०॥

व्याख्यार्थ - अतः पूर्व भाव को भूल जाने के लिए भगवान् ने इस प्रकार यह लीला की है-यों तृतीय कक्षा वाले भक्तों का अति उत्कर्ष कहा है ॥४०॥

आभास— ततो भगवान् तद्भावदार्ढ्यार्थं किञ्चिदुपदेष्टुं तत उत्थाय एकान्ते गत्वा यथोचितं कृतवानित्याह **भगवानिति**।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् उनके भाव को दृढ करने के लिए और कुछ उपदेश देने के

लिए वहाँ से उठकर एकान्त में जाकर जो उचित कर्तव्य करना था, वह करने लगे यह 'भगवान्' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—**भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसंगताः।**
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥४१॥

श्लोकार्थ—भगवान् वैसी गोपियों से एकान्त में मिले उनके भाव के अनुसार आलिङ्गन कर, उनसे कुशल पूछ अनन्तर हँस कर, यों कहने लगे ॥४१॥

सुबोधिनी—स्वयमेवान्तर्वर्तत इति यदेव करिष्यति तदेव ता अङ्गीकरिष्यन्तीति **विविक्ते** एकान्ते **उपसंगताः** समीपमागताः गोपीः बहिः स्वयमेवाऽ**श्लिष्य** बहिर्धर्मानपि स्वकीयांस्तासु बहिः स्थापयित्वा पश्चाद**नामयं पृष्ट्वा** स्ववचनं स्मृत्वा **प्रहसन्निदं** वक्ष्यमाणम**ब्रवीत्** ।४१॥

व्याख्यार्थ—स्वयं भगवान् भीतर बिराज रहे हैं इसलिए जो कुछ आप करेंगे, उसको वे स्वीकार करेंगी, अतः एकान्त में गोपियाँ भगवान् के समीप आईं, बाहर स्वयं ही आलिङ्गन कर अपने बाहर के धर्मों को भी उन में बाहर स्थापन किया, बाद में कुशल पूछ अपने वचन याद कर हँसते हुए निम्न वचन कहने लगे ॥४१॥

आभास—स्वलीलां तासु स्थापयन्निवाह **अपि स्मरतेति** ।

आभासार्थ—उनमें मानों अपनी लीलाओं को स्थापित करते हुए कहने लगे।

श्लोक—**अपि स्मरत नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।**
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥४२॥

श्लोकार्थ— भगवान् ने कहा—हे सखियों ! हम अपने बन्धुओं के कार्य करने की इच्छा से गए थे, किन्तु वहाँ शत्रुओं के पक्ष का नाश करने में लग गए, जिससे वहाँ बहुत दिन तक रुक गए। गोकुल में रहते हुए तुमने हमको कभी याद भी किया ? ॥४२॥

सुबोधिनी—हे **सख्यः**। **अपीति** संभावनायाम्। **नोऽस्मान्** किं **स्मरत**। अस्मरणं तु भवतीनामेव दोष इति परिहासोक्तिः। स्वस्यापराधं परिहरति **स्वानामर्थचिकीर्षया गतानिति**। किं कर्तव्यार्थं गतं मथुरायां तत्र बन्धूनां हितकरणार्थं प्रवृत्तौ भूयान् कालो जातः। तेनैवानागमनं चित्तं तु भवतीष्वेवेत्यर्थः। चिरकालावस्थितौ हेतुमाह **शत्रुपक्षक्षेपणचेतस** इति। शत्रूणां पक्षाः सर्व एव नाशनीया इति। अन्यथा समूला न नश्यन्तीति। स्त्रीभिः सह परिहासभाषया एतद्भगवतोक्तम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—हे सखिओं ! 'अपि' शब्द यहां सम्भावना अर्थ में दिया है। क्या हमको याद

करती हो ? यदि नहीं करती हो तो आपका ही दोष है, यों कहना परिहासार्थ है, भगवान् अपने अपराध को मिटाते हैं, मैं तो सम्बन्धियों की कार्य पूर्ति के लिये मथुरा गया, वहाँ उनके हित कार्य करने की प्रवृत्ति में लग जाने से बहुत समय लग गया इस कारण से नहीं आ सका। चित्त तो तुम लोगों में लगा हुआ था, बहुत समय क्यों लगा ? जिसका कारण बताते हैं कि वहाँ शत्रु पक्ष को किसी भी तरह नाश करने में लग गया था, यदि साधारणतया कार्य करेंगे तो शत्रु समूल नष्ट न होंगे अतः विशेष समय रह कर उनको सर्व प्रकार समूल ही नाश करना था स्त्रियों से यों परिहास की भाषा में भगवान् ने कहा ॥४२।

आभास—यस्तु मर्मानभिज्ञः स एतदङ्गीकरोति। न त्वभिज्ञ इति। अभिज्ञा गोपिकाभगवान् वञ्चयतीति भगवति अवध्यानबुद्धयो भवन्ति, अतस्तद्दोषपरिहारार्थं भगवानाह **अप्यवध्यायथेति**।

आभासार्थ--जो मर्म को नहीं समझ सकता है, वह इसको अङ्गीकार करेगा न कि समझने वाला। गोपियाँ तो अभिज्ञ (समझदार) हैं, अतः समझती हैं कि भगवान् हमको यों कह कर ठगते हैं, इसलिए भगवान् में उनकी विरुद्ध ध्यान वाली बुद्धि हो गई, अतः उनके इस दोष को मिटाने के लिए भगवान् 'अप्यवध्यायथा' श्लोक में गोपियों को उपदेश देते हैं अर्थात् समझाते हैं—

श्लोक—**अप्यवध्यायथास्मान्स्विदकृतज्ञा विशङ्कया।**
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥४३॥

श्लोकार्थ—हम आपको भूल गए हैं, ऐसी शङ्का मन में कर हम पर विरुद्ध विचार से दोषारोपण नहीं करना, कारण कि मिलना एवं पृथक् होना तो मनुष्य के हाथ में नहीं, किन्तु भगवान् के हाथ में है। वे जब मनुष्य को पृथक् करना चाहते हैं, तब पृथक्पन प्राप्त होता है और जब मिलाना चाहते हैं, तब मिलाप होता है, इसलिए आप इस बात को समझलो कि सबके लिए यह नियम है ॥४३॥

सुबोधिनी—ध्यै चिन्तायामित्यस्य अवोपसर्गसहितस्य लोटि तादेशरहितस्य मध्यमपुरुषवचन **अवध्यायथेति**। अवध्यानं विरुद्धध्यानम्। **अपीति** संभावनायाम्। **अस्मान्** बलभद्रोद्धवादिसाहित्येनावध्यानप्राप्तिं सूचयति **अपि स्विदिति**। **अकृतज्ञा** एते इति या विशिष्टशङ्का विरुद्धशङ्का वा स्वाधीनत्वे दोषोऽयं भवेत्। पराधीनं त्वेतदित्याह **नूनं भूतानि भगवानिति**। **युनक्ति** कदाचित् **वियुनक्ति** वियोजयति च ॥४३॥

व्याख्यार्थ—'अप्यवध्याय' यह पद ध्यै' चिन्तायाम् धातु से अव उपसर्ग के साथ लोट् लकार का मध्यम पुरुष है, यहाँ 'त' का आदेश नहीं हुआ हैं 'अवध्यानं' का अर्थ विरुद्धध्यान अर्थात् विरुद्ध शंका वा विचार 'अपि' पद यहाँ सम्भावना अर्थ में दिया है' 'अस्मान्' पद से सूचित किया है कि बलभद्र और उद्धवआदि सबके साथ हम पर यह दोषारोपण नहीं करना, कि ये कृतघ्न हैं, क्योंकि यह सम्भावना तब बन सकती है, जबकि जीव स्वतन्त्र हो, अपनी इच्छा से सब कुछ कर

सकता हो, यह तो पराधीन है, क्योंकि भूत मात्र को भगवान् ही अपनी इच्छा से मिलाता है वा पृथक् कर देता है इसलिए हम आपको छोड़ कर मथुरा गए ऐसी शङ्का कभी नहीं करनी ।।४३।।

आभास—यस्मिन् पक्षे भगवति जारबुद्धिः तदैवं वचनं प्राणिन एव जारा भवन्तीति कथं कालेन संयोगवियोगौ क्रियेते इति चेत् तत्राह **वायुर्यथा घनानीकमिति** ।

आभासार्थ—जिस पक्ष में भगवान् में जार बुद्धि है, तब ऐसे वचन, कि प्राणी ही जार हैं यों कैसे मिलाप और वियोग होता है ? इसका उत्तर 'वायुर्यथा' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।**
संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ।।४४।।

श्लोकार्थ—जैसे पवन मेघ, तृण, रुई और रज को मिलाकर अलग (जुदा) कर देता है, वैसे ही काल-भगवान्-भी भूतों को मिलाता है एवं अलग करता है ।।४४।।

सुबोधिनी—यथा वायुः मेघसमूहं वियोजयति योजयति च । यथा **तृण**समूहं वात्यारूपः । **तूलं** च कार्पासपिण्डं, **रजो** भूरेणुः, तृणादीनि राजससात्त्विकतामसानि निर्गुणा मेघाः, चतुर्विधा अपि वायुना स्वेच्छया नीयन्ते स्थाप्यन्ते वा । **तथा भूतानि** चतुर्विधान्यपि भूतानि । **भूतकृत्** कालः । योजयति वियोजयति च । अतः कालाधीनत्वात् योगवियोगार्थं कोपि नोपालभ्यः ।।४४।।

व्याख्यार्थ जिस तरह वायु मेघ के समूह को अलग करता है और फिर मिला भी देता है, तिनकों को, कपास के पिण्ड को और पृथ्वी की रज को भी मिलाता और पृथक् कर देता है, ये चारों पदार्थ वायु द्वारा मिलते भी हैं, अलग भी होते हैं, इनमें से तीन तिनके, कपास और रज राजस, सात्त्विक और तामस है शेष मेघ निर्गुण है, इसी प्रकार चार भूत भी काल द्वारा मिलते और अलग होते हैं इस कारण काल के आधिन होने से मिलने और बिगड़ने का किसी को उपालम्भ (उल्हाना) नहीं देना चाहिए ।।४४।।

आभास—परमार्थबुद्धियुक्ताश्चेत्तत्राह **मयि भक्तिर्हि भूतानामिति** ।

आभासार्थ—यदि परमार्थ बुद्धि युक्त हैं तो इस पर 'मयि भक्ति' श्लोक कहते हैं

श्लोक—**मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।**
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ।।४५।।

श्लोकार्थ—प्राणी मात्र को मुझ में की हुई भक्ति मोक्ष देने में समर्थ है, अतः बधाई है, जो मेरी प्राप्ति करने वाला मेरा स्नेह आप लोगों को प्राप्त हुआ है ।।४५।।

सुबोधिनी - **भक्तिः** शास्त्रीया आन्तरप्रेमसहिता सेवादिः. इन्द्रियाणामहमहमिकया स्वाभाविकी वृत्तिर्वा। **अमृतत्वाय** मोक्षाय। **भूतानामिति** नात्रावान्तराधिकारभेदो वक्तव्यः यथा मर्यादायां ब्राह्मण एव मुच्यत इति न तथा भक्तिमार्गे। **कल्पत** इति असहायैव भक्तिर्मोक्षं दातुं समर्था न तु ज्ञानमिव कर्मापेक्षते अन्तःकरणशुद्धिं वा। अतो भक्तानां मोक्षः नात्यन्तं दुष्प्राप्यः। भवतीनां तु ततोपि विशेष इत्याह **दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेह** इति। स्नेहो लौकिकः स तु कामकृतो भवति 'काममयः पुरुषः' इति सहजोऽपि कृत्रिमो। वैधः सहजो भगवद्विषयको न भवतीति असंव्यवहार्यत्वाद्भगवतः। प्रकृते तु दैवगत्या मद्विषयो जातः तस्य च फलं **मदापन** इति मामेवापयति प्रापयतीति मद्भावं मत्सायुज्यं वा करोतीत्यर्थः। अमृतत्वं ब्रह्मभावः, पुरुषोत्तमभावो मद्भावः। तद्वैलक्षण्यं पूर्वमेवावोचाम ॥४५॥

व्याख्यार्थ—हार्दिक प्रेम युक्त शास्त्र में कही हुई सेवादि को भक्ति कहा जाता है, अथवा प्रत्येक इन्द्रियों की भगवान् में ऐसी सहज वृत्ति हो, कि भगवान् से हम पहले मिलें, वह भक्ति है, ऐसी भक्ति मोक्ष कराने वाली है अर्थात् ऐसी भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है, भक्ति से मोक्ष, भूत मात्र को मिलता है, इससे किसी प्रकार का दूसरा कोई भेद नहीं है। जैसे मर्यादा मार्ग में ब्राह्मण की मुक्ति हो सकती है, भक्ति मार्ग में यों नहीं है 'भक्ति' सर्व प्राणी मात्र को मोक्ष देने में समर्थ है। उसको ज्ञान की तरह न, कर्म की अपेक्षा है और न अन्तःकरण की शुद्धि की आवश्यकता हैं, इसलिए भक्तों को मोक्ष अत्यन्त कठिनता से प्राप्त नहीं होता है, बल्कि सरलता से मिल जाता है, तुम को तो उनसे भी विशेष सरलता से, अतः बधाई है, कारण कि, आपका मेरे में सहज स्नेह है, लौकिक स्नेह जो है वह तो काम कृत होता है 'काम मय पुरुष' इस वाक्यानुसार सहज ही कृत्रिम हो जाता है। जो स्नेह वैध अर्थात् विधि अनुसार है,वह सहज मेरे सम्बन्ध वाला नहीं होता है, कारण कि भगवान् से व्यवहार्य नहीं हो सकता है। प्रकृत में तो देव गति से आपका स्नेह मत्सम्बन्धी[1] हो गया है जिसका फल मेरी प्राप्ति है अर्थात् मुझ में 'सायुज्यमुक्ति' प्राप्ति होती है, अमृतत्व का तात्पर्य है ब्रह्मभाव, पुरुषोतमभाव वा मद्भाव उसकी विलक्षणता पूर्व ही कही है ॥४५॥

आभास—कीदृशो भगवान् यादृशं स्नेहः प्रापयतीत्याकाङ्क्षायामाह **अहं हीति**।

आभासार्थ – वे भगवान् कैसे हैं? जिनको स्नेह ही प्राप्त करा सकता है, कर्म ज्ञानादि कोई साधन उनकी प्राप्ति नहीं करा सकता है जो 'अहं' श्लोक से बताते हैं

श्लोक—**अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।**
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे अङ्गनाओं! जिस तरह भौतिक पदार्थों की आदि-अन्त, बाहर-भीतर सब पाँच भूत[2] हैं, वैसे मैं ही सर्वभूतों की आदि-अन्त, बाहर और भीतर में व्याप्त हूँ ॥४६॥

१- मुझ से सम्बन्धवाला
२- आकाश, जल, पृथ्वी, वायु और तेज

सुबोधिनी—स्नेहस्य मत्प्रापणे आवरणनिराकरणमेव साध्यम्। न तु प्रयासान्तरमस्तीति वक्तुं भूतानां पूर्वापरबाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रदेशचतुष्टये स्वस्यावस्थानं निरूप्यते। युक्तश्चायमर्थः। व्यापको हि परिच्छिन्नस्य एवमेव भवति। **आदिरन्त** इति उत्पत्तेः पूर्वं नाशानन्तरं च **अहमेवेति** कालपरिच्छेदे। उभयतः स्थितिमाह **अन्तरं बहिरिति**। देशपरिच्छेदे। सङ्घाताभिप्रायमेतदणुजीवाभिप्रायेऽपि। तत्र पञ्चमहाभूतानि दृष्टान्तीकरोति **भौतिकानामिति**। खमाकाश **वार्जलं** तामसराजसभावनिरूपणार्थं आकाशजलयोः क्रमो निरूपितः। तथैव भूवाय्वोः सृष्टिप्रलयभेदेन क्रमद्वयं निरूपितं भवति। मध्ये सात्त्विकं तेजः आद्यन्तयोस्तामसौ तत्संलग्नौ राजसौ मध्ये सात्त्विकमिति यथा सर्वतो व्याप्तं शरीरं तत्संलग्ना इन्द्रियप्राणाः मध्ये चैतन्यमिति ज्ञापनार्थम्। **अङ्गना** इति संबोधनं उत्तमाङ्गवत्त्वेन विश्वासार्थम्॥४६॥

व्याख्यार्थ—मेरी प्राप्ति के लिए स्नेह का केवल आवरण दूर करने के सिवाय अन्य किसी प्रकार का प्रयास नहीं है। यों सिद्ध करने के लिए भूतों के चारों तरफ अर्थात् आदि में अन्त में, बाहर और भीतर मैं ही, स्थित हूँ यों कहना उचित ही है। जो वस्तु व्यापक है वह परिच्छिन्न पदार्थ में इसी तरह ही रहती है, उत्पत्ति से पहले और नाश के बाद भी मैं ही हूँ यों कहकर काल के परिच्छेद में भी अपना अस्तित्व सिद्ध किया है तथा देश परिच्छेद में भी बाहर और भीतर कह कर अपना अस्तित्व कहा है, अर्थात् आप सब में सदैव स्थित है जिससे कोई भी पदार्थ जीव आदि आपसे कभी पृथक् नहीं है संघाताभिप्राय यह अणु जीव के अभिप्राय से भी कहा है इस विषय में पांच महा भूतों का दृष्टान्त देते हैं- आकाश और जल ये दो साथ में क्रम से तामस और राजस भाव बताने के लिए कहा है, वैसे ही पृथ्वी और वायु का सृष्टि और प्रलय भेद से क्रम पूर्वक दो कहे हैं मध्य में सात्विक तेज कहा है, इस प्रकार क्रम कहने का आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि जैसे शरीर सर्वतो व्याप्त है उसमें इन्द्रिय और प्राण लगे हुए हैं और मध्य में चैतन्य रहता है यह जताने के लिए ही आदि तथा अन्त में तामस उससे ही मिले हुए राजस और मध्य में सात्विक तेज कहा है अङ्गना यह सम्बोधन, उत्तमाङ्गत्व के कारण विश्वास के लिए कहा है॥४६॥

आभास—एवं परितो वेष्टनमात्रतया स्वस्य जीवानां जगतो वा भेदो निरूपितः तन्निराकुर्वन् केवलात्मप्रतिपत्तिमाह **एवमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार चारों तरफ केवल वेष्ठित होने से अपना जीवों का अथवा जगत् का भेद कहा उसका 'एवं' श्लोक में निराकरण हुए केवल आत्मप्रतिपति (बुद्धि) है यह सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मतया ततः।**
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥४७॥

श्लोकार्थ—जैसे भौतिक घट-पट आदि पदार्थों की आत्मा(शरीर) भूतों से उत्पन्न

१- आकाश जल, पृथ्वी, वायु और तेज

होती है, फिर भूतों में ही लीन हो जाती है, वैसे ही कार्य कारणात्मक जगत् अन्त में मुझमें ही लीन हो जाता है। यह सर्व अक्षर में लीन होते हैं। यह आप देखो, यों कहकर गोपियों को सर्व वस्तु की ब्रह्मरूपता बताई। इसी तरह बताकर गोपियों को सर्व वस्तु की भगवद्रूपता कही है और यों सिद्धकर स्नेह को ही अधिकार रूप कहा है ।।४७।।

सुबोधिनी--अनेन प्रमेयं भगवानिति समर्थितं भविष्यति। पूर्वश्लोके भूतानि परितो निरूपितानि। भौतिकानां कालपरिच्छेदे देशपरिच्छेदे च मध्यभावस्तु न निरूपितः। मध्यभावस्तु किमात्मक इत्याकाङ्क्षायामाह मध्येऽपि **भूतान्येव** भौतिकेषु वर्तन्ते। नदीनिमग्नघट इव स्थिता भविष्यन्तीति पिण्डकारणत्वेन च स्थिता भविष्यन्तीति न जलात्मता घटस्य भविष्यतीति विशेषमाह **आत्मात्मतयेति**। आत्मनां भूतशब्दवाच्यानां घटपटादीनामात्मतया स्वरूपत्वेन महाभूतानि भौतिकेषु भवन्तीत्यर्थः। अनेन पञ्चमहाभूतात्मकत्वं जगतो निरूपितम्। ततः परमुभयविधस्य कार्यकारणभावापन्नस्य भूतजातस्य भगवानाद्यन्तयोरन्तर्बहिः तद्रूपश्चेति निरूपयति **तत उभयं मयीति** बोधनार्थम्। तत इति क्रमः आनन्तर्यार्थो निरूपितः। एतन्**मयीति** वचनं ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभूतभौतिकपक्षे पुरुषपरं ब्रह्माण्डपक्षे तु कालपरम्। **अथ** तदनन्तरम्। कालसहितस्य सर्वस्यापि कार्यजातस्य पूर्ववन्मयि परे अहं तेषामाद्यन्तान्तरवर्तीत्यादि। एतावद्दूरे स्वरूपं निरूप्य तस्यानुभवं कारयति **पश्यतेति**। किं द्रष्टव्यमित्याकाङ्क्षायां क्रमनिरूपणं परित्यज्य फलमाह **अक्षरे आभातमिति**। अनेन ब्रह्मात्मभावोपि निरूपितो भवति। जीवानामप्यतिरिक्तभावस्य निराकृतत्वात्स्नेहस्य मदापनजनने अधिकार इव निरूपितः ।।४७।।

व्याख्यार्थ इससे यह समर्थित होगा कि प्रमेय भगवान् हैं पूर्व लोक में चारों तरफ भूत कहे हैं भौतिक पदार्थ के काल परिच्छेद और देश परिच्छेद में मध्यभाव का निरूपण नहीं किया, मध्यभाव का क्या रूप है? इस आकांक्षा में कहते हैं कि भौतिक पदार्थों के मध्य में भी भूत ही है। नदी में डूबे हुए घड़े की भाँति स्थित होंगे यों पिण्डकारणपन से स्थित रहेंगे इसलिए घट को जलात्मता नहीं होगी, जिसके कहने का भावार्थ यह है, कि घट पट आदि पदार्थ जो भूत नाम से कहे जाते हैं वे स्वरूपपन से जो महाभूत आकाशादि हैं वे ही भौतिक पदार्थों में हैं अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः जगत् को पञ्चमहाभूतों का ही रूप कहा है। यों समझाकर बाद में कहते हैं कि यह जो 'कार्य' और 'कारण' भाव को प्राप्त भूत मात्र है, उसके 'आदि' 'अन्त' में 'भीतर' और 'बाहर' तथा उस का रूप भगवान् ही है यह निरूपण करते हुए कहते हैं, कि 'तत उभयमयि' 'तत' पद से अनन्तर अर्थ वाला क्रम निरूपण किया है 'एतत् मयि' इस पद से यह समझाया है कि ब्रह्माण्ड के भीतर जो भूत और भौतिक है वह पुरुष 'पर' है और ब्रह्माण्ड पक्ष में 'काल' 'पर' है. अथ उसके बाद काल सहित जो कुछ भी कार्य रूप है, वह पूर्व की तरह 'पर' जो मैं हूँ उसमें है। मै ही उनके आदि, मध्य और अन्त में रहता हूँ। इतने तक दूर भी मेरा स्वरूप है यों कहकर उसका अनुभव कराते हैं पश्यत दर्शन करिए, क्या देखें? इस आकांक्षा में क्रम के निरूपण का त्याग कर फल बताते हैं, यह सर्व अक्षर रूप में प्रकाशित हो रहा हैं, इससे जगत् ब्रह्मभाव भी निरूपण किया। जीव के भी पृथकभाव का निराकरण करने से अपने में प्राप्ति का मानों अधिकार निरूपण कर दिया है ।।४७।

आभास—तेन को वाधिकारः संपन्न इत्याकाङ्क्षायामाह **अध्यात्मशिक्षयेति** ।

आभासार्थ उसमे कौनसा अधिकार प्राप्त हुआ इस आकांक्षा का 'अध्यात्म शिक्षया' श्लोक में श्री शुकदेवजी उत्तर देते हैं--

श्लोक— श्रीशुक उवाच—**अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।**
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥४८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने गोपियों को अध्यात्म शिक्षा दी, जिसको स्मरण करती हुई गोपियों ने अन्नमयादि कोशों को त्याग कर भगवान् को पाया, जब कोशाध्यास नष्ट हुआ, तब सर्वात्मभाव से भगवान् के दर्शन करने लगीं ॥४८॥

सुबोधिनी--**अध्यात्मशिक्षा** आत्मनो ब्रह्मत्वज्ञानबोधाय युक्तिपूर्वकनिरूपणं तेन **गोप्य एवं** भगवता **शिक्षिताः** ब्रह्मभावापन्ना अपि बोधकस्य भगवतः **अनुस्मरणेन** बोधितार्थानुस्मरणेन वा **ध्वस्तजीवकोशाः** सत्यः व्यवधायकं स्वकीयमुपाधिरूपं लिङ्गशरीरं परित्यज्य **तमेवाध्यगन्** भगवद्रूपा एव जाताः यथा भगवान् । तेनान्तःपूर्णो भगवानेव जातः । कोशस्थानीयो भगवानाधिदैविकः । सहजसर्वशक्तिर्वा देहस्त्वत्रशिष्यते व्याप्तभगवदंशः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—अध्यात्म शिक्षा 'आत्मा' ब्रह्म है, युक्ति पूर्वक ऐसी शिक्षा को अध्यात्मा शिक्षा कहा जाता है । भगवान् की दी हुई इस प्रकार की शिक्षा से गोपियाँ ब्रह्म भाव को प्राप्त होने पर भी, शिक्षा देने वाले भगवान् को स्मरण से अथवा जो ज्ञान की शिक्षा मिली उसको बार बार स्मरण करने से, जीवकोशों को नष्ट कर, भगवद्दर्शन एवं मिलन में रुकावट करने वाले अपने उपाधिरूप लिङ्ग शरीर का त्याग कर भगवद्रूप हो गईं । जैसा भगवान् का आनन्दमय रूप है वैसी ही यह भी हो गईं । उससे अन्तःपूर्ण भगवान् ही हो गईं । कोश स्थानीय भगवान् आधिदैविक हैं अथवा सहज सर्व शक्ति हो गईं । देह में तो भगवदंश व्याप्त हो गया इसलिए नष्ट न हुई ॥४८॥

आभास – तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावाय भगवन्तं विज्ञापयामासुः **आहुश्चेति** ।

आभासार्थ—प्रतिबन्धकपन के अभावार्थ भगवान् को प्रार्थना करती हैं ।

श्लोक— **आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं**
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहंजुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥४९॥

श्लोकार्थ - हे कमलनाभ ! अगाध बोध वाले योगेश्वर, जिस चरण कमल का हृदय में धारण कर चिन्तन करते हैं और जो चरण कमल संसार रूप कूप (कुए) में

पड़े हुए पुरुषों का आश्रय है, वह चरण कमल घर का सेवन करने वाली हम हैं, तो भी सदैव हमारे मन में प्रगट होकर विराजे ।।४६।।

सुबोधिनी—भक्तानामेवं स्थितिः उत्तमा एवंभावश्च, ब्रह्मात्मभावोऽस्माकं जात एव । इन्द्रियवर्गश्चातीतः । अतः आधिदैविके मनसि तवावतीर्णस्य पुरुषोत्तमस्य पादयुगलं मनसि सर्वदा स्फुरतु । तावता इयमवस्था स्थिरा भविष्यति । एतदभावे ब्रह्मभावापन्नस्यापि सर्वे दोषाः संभविष्यन्तीत्याशयेनाहुः **हे नलिननाभेति** । पद्मनाभत्वादयं ब्रह्मादीनामुत्पादकः तदनुवृत्त्यैव जीवानां स्थितिर्वा ब्रह्मभावेन स्तब्धतायां कृतघ्नता भवतीति तदभावार्थं प्रार्थित इत्यर्थः । उपायेनाविर्भावं संपादयन्त्विति चेत् तत्राहुः **योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमिति** । **अगाधबोधै**र्ज्ञानपूर्णैर्बहिर्योगरूपसाधनयुक्तैरपि **हृदि विचिन्त्यमेव** । नन्वेतादृश्याविर्भावे किं प्रयोजनमिति चेत् तत्राह **संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बमिति** । **संसारकूपे** निर्गमोपायरहिते यः पतति दूरादुच्चैः स्थितः पातककर्मणा नीचत्वं प्राप्नोति तस्य वैकुण्ठपदारोहणे **अवलम्बनं** भवति । कर्म ज्ञानादिकं ऊर्ध्वगमन तन्निरालम्बने न साधकमिति सर्वथालम्बनं मृग्यते । स्वस्य बाधान्तरसंभावनामाहुः **गेहंजुषामपीति** । देहो वर्तत इति देहभागिनः गृहे योजयिष्यन्ति । ततो गृहासक्त्या पूर्ववदेव प्राकृतत्व भविष्यति । ततो गृहासक्त्या पूर्ववदेव प्राकृतत्वं भविष्यति । अयमेव च कूपे पातः । अपीति कदाचित्त्वत्कृपया देहसंबन्धो न भवेत् तदा न काचिच्चिन्ता इत्यपि सूचितम् । **मनसि** स्वयमेवोदियात् । **नो**ऽस्माकं सर्वासाम् । एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः । कामनिवारणार्थं च ज्ञानोपदेश इति निरूपितम् ।।४६।।

व्याख्यार्थ—भक्तों की इस प्रकार की स्थिति तथा ऐसा भाव उत्तम है । हम ब्रह्म भाव को प्राप्त हो गई हैं, इन्द्रिय वर्ग से भी अतीत हो गई हैं, अतः अवतारी आप पुरुषोत्तम का चरण युगल सर्वदा इस आधिदैविक मन में स्फुरित होता रहे । तावता (तब तक) यह अवस्था स्थिर रहेगी, इसके अभाव होने पर, ब्रह्म भाव का प्राप्त होने वाले को भी सर्व दोष घेर लेते हैं, इस आशय से कहती हैं कि हे पद्मनाभ ! आप पद्मनाभ होने से ब्रह्मादि के उत्पन्न कर्ता हैं उसकी अनुवृति से ही जीवों की स्थिति है अथवा ब्रह्मभाव स्तब्धता आ जाने पर कृतघ्नता होती है । वह न होवे, इसके लिए प्रार्थना की है, प्रार्थना क्यों ? उपाय द्वारा आविर्भाव कराओ यदि यों कहो तो हमारा उत्तर यह है, कि आपका चरण कमल ही संसार कूप (कुए) में पड़े हुए जनों का वहाँ से निकालने का आश्रय है, अर्थात् वे ही निकाल सकते हैं दूसरा कोई उपाय नहीं है क्योंकि अगाध बोध वाले योगेश्वर भी इनका हृदय में चिन्तन करते रहते हैं । संसार कूप ऐसा है जिससे निकलने का कोई साधन नहीं है ऐसे कूप में जो गिरता है, 'इस कूप में गिरने का कारण यह है कि यद्यपि दूर और उच्च स्थान पर खड़ा है, किन्तु पाप कर्म से नीचे संसार कूप में गिर जाता है' उस संसार कूप में गिरे हुए पापी का वहाँ से निकल कर वैकुण्ठ पद के आरोहण आश्रय (साधन) आप के चरण युगल ही हैं । ऊपर जाने के लिए कर्म, ज्ञान आदि साधन निष्फल हैं तब वह आश्रय ढूँढता है, अपने लिए बाधान्तर की सम्भावना को कहती हैं कि, देह है, इसलिए देहधारी हैं जिसे गृह में रहना पड़ता है, उसे गृह में रहने से पूर्व की तरह प्राकृतपन हो जाएगा, यह ही कूप में गिरना है । 'अपि' पद से सूचित किया है, कि कदाचित् आपकी कृपा से देह से सम्बन्ध न होवे, तो किसी प्रकार की चिन्ता नहीं हो, हम सब के मन में वह चरण कमल सदा प्रगट हो कर रहे इस

प्रकार निष्कामपन से गोपियाँ मुख्य भक्त हुई काम के निवारण के लिए ज्ञान का उपदेश दिया यों निरूपण किया है ।।४९।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ।।३३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७९वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३३वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्विक फल अवान्तर प्रकरण का पञ्चम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवद्भक्त शिरोमणि व्रज सीमन्तनियों ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्रार्थना की है कि हे पद्मनाभ ! हम संसार-कूप में पड़े हुओं को वहाँ से निकल कर आप तक पहुँचने का साधन केवल आपके युगल-चरण-कमल ही हैं, इसलिए वे चरण-कमल हमारे हृदय में सदा प्रकट होकर विराजें । इस सन्दर्भ में भक्त-वर सूरदासजो एवं परमानन्ददासजी के निम्न पद मननपूर्वक धारण करने योग्य हैं :—

राग बिलावल

चकई री चलि चरन सरोवर, जहां नहीं प्रेम वियोग ।
जहां भ्रम निसा होत नहीं कबहू, सो सायर सुख योग ।।१।।
सनक से हंस, मीन से मुनिगन, नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुल्लित कमल निमिष नहिं शशि डर, गूञ्जत निगम सुवास ।।२।।
जिहिं सर सुभग, मुक्ति मुक्ता फल, सुकृत विमल जल पीजे ।
सो सर छांडि कुबुद्धि विहङ्गम, यहां रहि कहा कीजे ।।३।।
जहां श्री सहस्र सहित नित क्रीड़त, शोभित सूरजदास ।
अब न सुहाय विषय रस छिल्लर, वा समुद्र की आस ।।४।।

राग कान्हरो

चरन कमल वन्दो जगदीश, जे गोधन के संग धाए ।
जे पद कमल धूरि लपटाने, कर गहि गोपिन उर लाए ।।१।।
जे पद कमल युधिष्ठर पूजित, राजसुय में चलि आए ।
जे पद कमल पितामह भीषम, भारत में देखन पाए ।।२।।
जे पद कमल शम्भु चतुरानन, हृदय कमल अन्तर राखे ।
जे पद कमल रमा उर भूषन, वेद भागवत मुनि साखे ।।३।।
जे पद कमल लोक त्रय पावन, बलि राजा के पीठ धरे ।
सो पद कमल दास परमानन्द, गावत प्रेम पियूष भरे ।।४।।

卐

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८३वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८०वां अध्याय
उत्तरार्ध ३४वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—६"

भगवान् की पटरानियों के साथ द्रौपदी की बातचीत

कारिका—**चतुस्त्रिंशे साधनानां मुख्यंसाधनमीर्यते ।
कीर्तनं सरसत्वाय स्त्रीभिः स्त्रीणां निरूप्यते ॥१॥**

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३४वें अध्याय में साधनों में जो मुख्य साधन है, वह कहा जाता है, वह उत्तम साधन रस वाला भगवत्कीर्तन है, जिसको स्त्रियाँ मिल कर परस्पर कहती हैं अर्थात् भगवत्कीर्तन ही उत्तम साधन समझ मिलकर करती हैं ॥१॥

कारिका—**सर्वसाधनसंपत्तिः कृष्णानुग्रहपूर्विका ।
तदभावे नैव सिद्ध्येदित्यनुग्रहवर्णनम् ॥२॥**

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण का जब अनुग्रह होता है, तब सर्व साधन सम्पत्ति प्राप्त होती है अर्थात् सब साधन कर सकते हैं। यदि श्रीकृष्ण का अनुग्रह न हो, तो न तो

साधन सम्पत्ति ही प्राप्त होती है और न कर ही सकते हैं, इसलिए उनके अनुग्रह का वर्णन किया जाता है ।।२।।

कारिका—**अनुग्रहस्य स्थिरता सद्बुद्धचैव हरौ भवेत् ।
माहात्म्यज्ञानतः पुष्टा स्तुत्या कार्यक्षमा भवेत् ।।३।।**

कारिकार्थ—हरि में अनुग्रह की स्थिरता सद्बुद्धि से ही होती है, वह सद्बुद्धि भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से पुष्ट होती है और वह तब होती है, जब प्रथम भगवान् की स्तुति यशोगान करे, जिससे प्रभु प्रसन्न होकर कार्य करने की सामर्थ्य दें, तब ही सद्बुद्धि परिपक्व हो जाती है ।।३।।

कारिका—**सर्वशक्तियुत कृष्णः श्रोतव्य इति सिध्यति ।
शक्तीनामप्यभीष्टश्च सज्ज्ञानस्तुतिभावितः ।।४।।**

कारिकार्थ—इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वशक्तियुत भगवान् के चरित्रादि श्रवण करने चाहिए, ज्ञानपूर्वक स्तुति से ऐसी भावना उद्भूत होवे, तो शक्तियों का भी अभीष्ट सिद्ध होता है, यहाँ शक्तियाँ महर्षि हैं, वे भावना करते हैं, जिससे उनके अभीष्ट को देने वाले भगवान् ही स्वयं होते हैं ।।४।।

-- इति श्री कारिका --

आभास-पूर्वाध्याये गोपीनामुपदेश उक्तः प्रार्थना च । अनुग्रहस्त्ववशिष्यते । तदत्र तासामनुग्रहं कुर्वन् प्रसङ्गादन्येषामप्यनुग्रहं कृतवानित्याह **तथानुगृह्ये**ति ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में गोपियों का उपदेश कहा और प्रार्थना कही शेष अनुग्रह रह गया, वह यहाँ, उन पर अनुग्रह करते हुए प्रसङ्ग से दूसरों पर भी अनुग्रह किया, यह 'तथानुगृह्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ।
युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ।।१।।**

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा कि गोपीजनों के परमगुरु और शरणरूप भगवान् उन पर इस प्रकार अनुग्रह कर, पश्चात् युधिष्ठिर से और सर्व अन्य सुहृदों से कुशल पूछने लगे ।।१।।

सुबोधिनी– **तथा** तैर्यथा प्रार्थितं तथैव तत् हृदये स्वचरणारविन्दं स्थापयित्वा **युधिष्ठिरमथापृच्छदि**ति संबन्धः। भगवतस्तथानुग्रहे हेतुमाह **गोपीनां स** एव **गुरुः गतिः** फलं च। फलसाधनरूपत्वात्तासामन्य उपायो नास्तीति स्वचरणारविन्दं स्थापितवानित्यर्थः। गोपिका उत्तमाधिकारिण्यः परं पुष्टिस्थाः। तदनु मर्यादायां युधिष्ठिरः श्रेष्ठः अतस्तदनन्तरं युधिष्ठिरोऽनुगृहीतः। तत. **सर्वांश्च सुहृदः अव्ययमपृच्छत्**। अव्ययशब्देन कुशल ज्ञानमप्युच्यते। तेन पूर्वं मनसा तेभ्योपि ज्ञानमुपदिष्टमिति लक्ष्यते। तस्य पुनः प्रश्नः स्थिरीकरणार्थः। अनेनोत्तमादयः सर्वे एवानुगृहीता इत्युक्तम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—उन्होंने (गोपियों ने) जिस प्रकार प्रार्थना की थी, उसी तरह उनके हृदय में भगवान् अपना चरणार्विन्द स्थापन कर, अनन्तर युधिष्ठिर से पूछने लगे, भगवान् ने गोपियों पर इस प्रकार अनुग्रह किया जिसका कारण कहते हैं, कि गोपियों के वे ही गुरु, आश्रय और फल हैं। भगवान् ही फल और साधनरूप होने से उनके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है, अतः अपने चरणार्विन्द स्थापित किए यह भावार्थ है। गोपिकाएँ उत्तम अधिकारिणियाँ हैं और पुष्टि में (अनुग्रह में) स्थित हैं। इनके बाद मर्यादा में युधिष्ठर श्रेष्ठ है, इसलिए इनके अनन्तर युधिष्ठर पर अनुग्रह किया। पश्चात् सर्व सुहृदों से भी कुशल आदि पूछे, इससे जाना जाता है, कि प्रथम मन से इनको भी ज्ञानोपदेश किया, उनसे फिर पूछना स्थिरीकरण के लिए है, इससे जो भी उत्तमादि थे उन सब पर ही अनुग्रह किया यों कहा ॥११॥

आभास – ततस्ते स्वाधिकारं प्रकटयन्तः प्रत्युत्तरमुक्तवन्त इत्याह **त एवमिति**।

आभासार्थ—अनन्तर वे सब अपना अधिकार प्रकट करते हुए 'त एवं' श्लोक से उत्तर देने लगे।

श्लोक—**त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः।**
प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥२॥

श्लोकार्थ—लोकपति हरि से इस प्रकार अति आदर करके पूछे हुए, वे भगवान् के चरणों के दर्शन से निष्पाप और प्रसन्न चित्त हो, उत्तर देने लगे ॥२॥

सुबोधिनी प्रश्नेनापि महान् संतोषो जात इति ज्ञापयति **लोकनाथेन परिपृष्टा** इति। महतः प्रश्नमात्रमपि संतोषजनकं प्रकृते त्वधिकमप्यस्तीत्याह **सुसत्कृता** इति। आसनादिकृतः सत्कारः, अनेन कायिकपूजा निरूपिता। ततः **प्रत्यूचुः**। पूजितवाणीं निरूपितवन्तः। कायवाङ्मनसां गुणमुक्त्वा दोषाभावमाह **तत्पादेक्षाहतांहस** इति। भगवच्चरणारविन्ददर्शनेन हतपापाः ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कुशल आदि पूछे इससे महान् संतोष हुआ, महान् पुरुष यदि केवल कुशल प्रश्न पूछें तो वह भी सन्तोष कारक है, यहाँ तो उससे भी अधिकता है जो आसन आदि देकर सत्कार किया, इससे कायिक पूजा का निरूपण किया। पश्चात् उत्तर देने लगे, (पूजित वाणी

को कहने लगे) काया वाणी और मन से गुणों का वर्णन कर अपने दोष नष्ट हो गए वह बताते हैं, कि आप के चरणार्बिन्द के दर्शन से हमारे सब पाप नष्ट हो गए ।।२।।

आभास—यद्भगवता पृष्टं कुशलमस्तीति तत्रोत्तरमाहुः **कुतोऽशिवमिति** ।

आभासार्थ—भगवान् ने जो कुशल पूछा है? इस विषय का 'कुतोऽशिवं' श्लोक से उत्तर देते हैं

श्लोक—**कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं**
महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो
देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ।।३।।

श्लोकार्थ – हे प्रभु ! आपके चरणारविन्द का रस जो कि कभी महान् पुरुषों के मन द्वारा उनके मुखों से प्रकट हुआ है, वह देहधारियों के देहाभिमान कराने वाली अविद्या को काटने वाला है, उसे जो कर्ण रूप दोनों से पीते हैं, उनका अमङ्गल कैसे वा कहाँ से ? अर्थात् अमङ्गल है ही नहीं ।।३।।

सुबोधिनी—अशिवसंभावनायां कुशलप्रश्नः संगच्छते । अन्यथा निःसन्दिग्धे प्रश्नो व्यर्थः स्यात् । यद्यपि संसारित्वेनाकुशलं संभवति तथापि सर्वाकुशलनिवर्तकसाधनस्य निरन्तरमनुष्ठानात् कथमशिवमित्यभिप्रायेणाहुः **कुतः अशिवमिति** । तत्किं साधनमित्याकाङ्क्षायामाह **त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिःसृतमिति**। परमानन्दस्य तव चरणो भक्तिमार्गप्रवर्तकः । अम्बुजं इति सुखसेव्यः । तत्रत्यो मकरन्दरसः रसात्मको भगवान् सर्वत्रैव वर्तत इति । ब्रह्मानन्द एव मार्गान्तरेण समानीतः देहाद्यभिमानवतामपि देहादिविस्मारकत्वेन आसवशब्दवाच्यो भवति स स्वभावत एव परमानन्दरूपो दोषान्तरनिवर्तकश्च । तत्रापि यदि ततोऽप्युत्कृष्टरसेन संमिलितो भवेत् । तदा किं वक्तव्यं रसान्तरेण पुष्टः सन् परमानन्दं प्रयच्छतीति वक्तुमाह **महन्मनस्त** इति । अत्र भक्तिमार्गस्यायं सिद्धान्तः । ब्रह्मानन्दः स्वेच्छया वस्त्रमिव सङ्कुचितात्मा शतगुणित इव घनीभूतः परिणतदाधवदन्यूनः आनन्दघनो भवति तदात्मको भगवच्चरणः स यदा भक्तिमार्गेण गृहीतो भवति तदा भगवद्भक्तानां कायवाङ्मनोभिर्दृढं गृहीतः रसात्मकत्वाद्भक्तानामानन्दरूपं स्रवति । स भक्तिरस इत्युच्यते । सोपि शब्दब्रह्मणि भागवतादावुद्धृतः घटोद्धृतजलमिव महतां श्रवणस्मरणकीर्तनादिभिः इन्द्रियाघातैः तच्छिद्रद्वारा स्वरसो हृद्ध्रदे विनिविशति । स तु भक्तिरसापेक्षयापि पुनर्भक्तेन्द्रियैः पावितत्वात् निर्गलितः ततोप्यधिकरसः । एवं सति यदा यदा वारं वारं भगवद्गुणान् कीर्तयति चरणारविन्दमकरन्दरूपान् भक्तिमार्गानुसारेण गूढार्थरूपान् तदा महन्मनस्तः महन्मनसि स्थित्वा मुखनिःसृतं भवति । **क्वचिदिति** अत्यन्तभक्तसङ्गे रसाविर्भावे च कदाचिदेव वदतीति, **तच्च अलं कर्णपुटैरु**त्तभितकर्णैः **अलमत्यर्थं पिबन्ति** । ननु दुर्लभोऽयं रसः कथं बहुपानसमर्थो भवेत्तत्राह **प्रभो** इति । स हि सर्वसमर्थः तादृशा भक्ताः कोटिशो भवन्ति, यथा सरघाभिः महता क्लेशेन पुष्परसोऽणुप्रमाणेन क्वचित्स्थाप्यते । प्रभूणां तु मधुपूरिताः कलशाः कोटिशो भवन्ति । अतो भगवदाश्रये भूयानेव तादृशो

रसः पीयत इति । अशुभसंभावनापि का । अशुभं धर्मादेव निवर्तते । ततो ज्ञानं ततः सवासनाऽविद्यानिवृत्तिः ततः केवलात्मा भगवन्निष्ठो भवति, तदा आनन्दघनो भगवान् प्रकटो भवति । तत्र भक्त्या भक्तिरसः सर्वदोषनिवर्तकः नित्यं संसारविस्मरणहेतुः प्रादुर्भवति । सोपि पूर्वोक्तप्रणालिकया नित्यं पेपीयमानानामशुभसंभावनापि बाधिता. किञ्च देहाभिमाने विद्यमानेपि प्रयत्नमात्रेण गृहीते देहकर्त्री या स्मृतिः तामपि छिनत्तीति मूले गते देहकृतसंभावनापि निरस्ता ।।३।।

व्याख्यार्थ—कुशल प्रश्न तब किया जा सकता है जबकि अकुशल की सम्भावना होवे । जहाँ अकुशल की सम्भावना मात्र भी नहीं, वहाँ कुशल प्रश्न करना व्यर्थ है । यद्यपि संसारीपन से अकुशल की सम्भावना हो सकती है, तो भी सर्व प्रकार के अकुशलों के निवृत्त करने वाले साधन का निरन्तर अनुष्ठान होते रहने से अकुशल कहाँ ? इस अभिप्राय से कहते हैं, कि 'कुतः अशिवं' वह, कौनसा साधन है ? इस आकांक्षा के होने पर कहते हैं, कि आपके चरणार्विन्द का आसव जो महान् पुरुषों के मन से मुख द्वारा प्रकट हुआ है, वह ही साधन है । परमानन्द स्वरूप आपका चरण भक्ति मार्ग का प्रवृत्त करने वाला है, वह कमलरूप होने से, सुख से सेव्य है । उस चरणाम्बुज में जो मकरन्दरसात्मक भगवान् हैं, वह सर्वत्र[1] ही व्याप्त हैं, ब्रह्मानन्द ही मार्गान्तर[2] से लाया हुआ देहादि के अभिमानियों के देहादि को भुला देनेवाला होने से 'आसव'[3] शब्द से कहा जाता है, वह सहज ही परमानन्द रूप और अन्य दोषों को मिटाने वाला है । वहाँ भी, यदि उससे भी उत्कृष्ट रस से मिल जावें तो क्या कहना चाहिए ? रसान्तर से पुष्ट होकर परमानन्द देता है, यों कहने के लिए ही कहते हैं कि 'महन्मनस्तः' यहाँ यह भक्ति मार्ग का सिद्धान्त है । ब्रह्मानन्द रस और भक्ति रस को समझाते हैं, कि ब्रह्मानन्द अपनी इच्छा से वस्त्र की तरह सङ्कुचितात्मा शत प्रकार से गुणित की तरह घनीभूत हो परिणाम प्राप्त दधि के समान, कम न होकर घन हो जाता है. तद्रूप भगवान् का वह चरणार्विन्द जब भक्ति मार्ग से गृहित होता है तब भगवद्भक्तों की काया, वाणी और मन से दृढ़ भाव से ग्रहण किया हुआ, रसात्मक होने से भक्तों के यहाँ आनन्दरूप हो स्रवित (टपकता) है, न कि ज्ञानियों के पास जैसे घन हो के रहता है, वैसा रहता है स्रवित (टपकने) से भक्त उसका सरलता से पानकर आनन्दमय हो जाते हैं । यह भक्तिरस है, जो रस, ज्ञान मार्ग में नहीं है । वह भक्तिरस भी, शब्द ब्रह्मरूप भागवतादि में से ऐसे उद्धृत (ली हुई) है, जैसे घट में उद्धृत जल है वह उससे छिद्रों द्वारा बाहर आता है तब मनुष्य पानकर आनन्द लेते हैं । वैसे ही, भागवतादि में उद्धृत भक्तिरस को जब महान् पुरुष श्रवण, स्मरण और कीर्तन करते हुए मुखरूप छिद्र द्वारा बाहर प्रकट करते हैं, तब भक्तजन उस स्रवित भक्ति रस को अपने हृदयरूप हृद (कुंड) में प्रवेश कराते हैं तब वह रस भक्ति रस से भी अधिक रसप्रद होता है, क्योंकि भक्तों की इन्द्रियों से पवित्र होकर निकलने से, उसमें विशेष रस उत्पन्न होता है । यों होने पर जब-जब बार-बार भक्ति मार्ग के अनुसार, गुढार्थरूप चरणार्विन्द के मकरन्द रूप,

---

१- न केवल अधर में ही हैं. यह नियम नहीं है । २- भक्ति मार्ग से

३ भक्ति मार्ग में भक्तों को सेवोपयोगी देह होती है, जिसमें उनका अभिमानादि ममत्व रहता है, उसको चरणार्विन्द का रसानन्द भुला देता है इसलिए उसको 'आसव' कहा है, ज्ञानियों को तो देहाभिमान नहीं रहता है इसलिए वहां ज्ञान मार्ग में 'आसव' वत कार्य नहीं होता है जिससे इस पादाम्बुज रस को आसव नहीं कहा जाता है ।

भगवद्गुणों को गाते हैं, तब महान् पुरुषों के मन मे, महतों के मन में स्थित होकर मुख से निकलता है। यह निकलना भी जब कभी (चाहे जब) साधारणतया नहीं होता है, किन्तु कदाचित् हो कभी भक्तों का अत्यन्त सङ्ग होते हुए भी कदाचित् ही रस का आविर्भाव होने पर वह आविर्भूत रस जो भाग्यशाली हैं, वे कर्णरूप दोनों (दूनों) से खूब पीते हैं। यह जो दुर्लभ रस है वह बहुत पीने में कैसे समर्थ होंगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं, हे प्रभु ! प्रभु सर्व समर्थ हैं ऐसे तो कोटिशः भक्त हैं, जैसे मधुमक्खी महान् क्लेश से पुष्पों का रस थोड़ा-थोड़ा लेकर कहीं धर लेती है प्रभु के तो मधु से भरे हुए कोटिशः कलश हैं, अतः भगवदाश्रय में बहुत ही वैसा रस पिया जा सकता है ऐसी अवस्था में अशुभ की सम्भावना भी कैसी ! अशुभ तो धर्म से ही निवृत्त हो जाता है पश्चात् ज्ञान द्वारा वासना सहित अविद्या की निवृत्ति होती है फिर केवलात्मा जीवात्मा भगवन्निष्ट होता है। तब आनन्द घन परमात्मा प्रकट होता है, वहाँ भक्ति से सर्वदोषों को निवृत्त करने वाला, नित्य संसार के विस्मरण का हेतु भक्ति रस उत्पन्न होता है । पूर्व कही हुई प्रणालिका से उस रस को नित्य पान करने वालों को अशुभ सम्भावना भी बाधित हो जाती है, और विशेष यह है, कि प्रयत्न मात्र से गृहित देह में अभिमान होते हुए भी. देहकर्त्री स्मृति को भी तोड़ देता है, जब मूल ही नष्ट हो जाता है तब देह कृत संभावना भी नष्ट हो गई ॥३॥

आभास—एवं प्रश्नोत्तरमुक्त्वा भगवति स्वचिकीर्षितं विज्ञापयन्ते **हित्वेति**।

आभासार्थ—यों प्रश्नोत्तर कहकर, भगवान् को अपने चिकीर्षित की प्रार्थना 'हित्वात्म' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—हित्वात्मधाम विधुतात्मकृतत्र्यवस्थ-
मानन्दसंप्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-
मायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥४॥

श्लोकार्थ—अपने गृह और अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपा तीन अवस्थाओं का त्याग कर,सकल आनन्द के पूर रूप,अपरिच्छिन्न और अकुण्ठित ज्ञान रूप तथा सर्व धर्मों के नाश हो जाने पर उनकी रक्षा के लिए योगरूप अपनी माया रूप इच्छा-शक्ति से आकृति को धारण करने वाले,परमहंसों के गति रूप आपको हम प्रणाम करते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—**आत्मधाम** स्वगृहादिकं **हित्वा** देहं वा। **परमहंसगतिं** त्वां **नताः स्म** इति संबन्धः। यथा कश्चित्पूर्वभवं परित्यज्य उत्तरभावग्रहणार्थं तद्द्वारं नमस्यति **हित्वा** इति पदद्वयं वा। **आत्मनोऽपि धाम** तेजोरूपं त्वां तस्मिन् पक्षे दोषाभावः पूर्वोक्त एवानुसंधेयः। नन्ववस्थात्रये विद्यमाने किं भगवन्नमनेनेत्यत आह **आत्मकृताः** अन्तःकरणकृताः तिस्रोऽवस्थाः **विधुताः** दूरीकृता येन। यत्राहंकारमेव दूरीकरोति तत्र तत्कृतानि स्थानानि दूरीकर्तुं कः

प्रयासः । न केवलमवस्थानिवर्तकत्वमात्रम् । तथा सति बीजभावेपि तदवस्थाभाव इति भगवतः को विशेषः स्यात् तत्राह **आनन्दसंप्लवमिति**। आनन्दस्य संप्लवः महापूरो यस्य । सोपि चेत्परिच्छिन्नः स दोषस्तदवस्थ इति चेत् तत्राह **अखण्डमिति** । तथापि लोके अज्ञातः परमानन्दो न पुरुषार्थ इति । सुषुप्तौ तथोपालम्भादपुरुषार्थो भवेदित्याशङ्क्याह **अकुण्ठबोधमिति** । न कुण्ठितोऽकुण्ठः बोधो यस्येति । अनुभूयमानानन्दरूप एवेत्यर्थः । नन्वेतादृशः श्रुत्यैकमात्रसमधिगम्यः स्वानुभवप्रकटः ब्रह्मानन्द एव भवति न तु परिदृश्यमानो भगवानिति चेत्तत्राह **कालोपसृष्टनिगमावने आत्तयोगमायाकृतिमिति** । कालेन वेदानां नाशे तत्प्रतिपाद्यधर्माणां तत्संबन्धिनां सर्वेषामपि अवने रक्षार्थं आत्ता योगमायया आकृतिर्येन स एव धर्मरक्षार्थमेव आविर्भूतो न त्वन्य इत्यर्थः । तर्हि कथं न सर्वैस्तथा ज्ञायत इति चेत् तत्राह **परमहंसगतिमिति** । ये संसारादात्मनः पृथग्भावं जानन्ति कर्तुं च शक्नुवन्ति ते हंसाः ततोऽपि ये जीवानां गतिं भगवद्गतिं च विवेचितुं जानन्ति ते परमहंसाः । तेषामेव गतिर्गम्य इत्यर्थः । अतः स्वभजनानुकूलतया कियन्तो धर्मा ज्ञाता इति तथाभूताः भगवद्भावार्थं त्वां नता इत्यर्थः । ।।४।।

व्याख्यार्थ—'आत्मधाम' अपने गृह आदि को अथवा देह का त्याग कर, परमहंसों की गति जो आप हैं, उनको हम नमन करते हैं, यों अन्वय है । जैसे कोई पूर्वभाव का परित्याग कर, उत्तर भाव को ग्रहण करने के लिए उसके दाता को नमस्कार करेगा । 'हि' 'त्वा' दो पद हैं, अतः इसका अर्थ आत्मा का भी तेजो रूप तुमको हम नमन करते हैं । इस पक्ष में दोषाभाव, पूर्व कहे हुए का ही अनुसन्धान करना चाहिए । जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं के विद्यमान (मौजूद) होते हुए, भगवान् को नमन से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं, कि ये अन्तःकरण में उत्पन्न जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं को जिन्होंने दूर किया है, ऐसे हम नमन करते हैं । जहाँ अहङ्कार को ही फेंका गया है, वहाँ उससे उत्पन्न जाग्रतादि स्थानों को दूर करने में कौनसा प्रयास है, केवल अवस्था निवर्तक मात्र नहीं है, ऐसा होने पर बीज मात्र होते हुए भी उसी अवस्था का भाव रहता है, इसलिए भगवान् की क्या विशेषता हुई ? इस पर कहते हैं, कि भगवान् में आनन्द का महापूर है, जो सबको बहाकर दूर फेंक देता है यदि वह पूर परिच्छिन्न है तो दोष वैसा ही रहेगा, इसके उत्तर में कहा है कि परिच्छिन्न नहीं है किन्तु अखण्ड है, तो भी यदि लोक में वह परमानन्द अज्ञात है तो कोई पुरुषार्थ नहीं, सुषुप्ति में ऐसा देखा जाता है अतः वह भी अपुरुषार्थ ही होगा, इस पर कहते हैं कि नहीं उनका ज्ञान सर्वत्र है रुका हुआ नहीं है अतः उस आनन्दरूप का सर्वत्र अनुभव हो सकता है । ऐसा केवल श्रुति से ही समझने योग्य तथा अपने अनुभव से ही प्रकट ब्रह्मानन्द ही है न कि जो प्रकट देखने में आता है वह भगवान् ? यदि यों कहते हो, तो इसका उत्तर देते हैं कि 'कालोपसृष्टनिगमावने आत्तयोगमायाकृतिम्' जब काल वेदों का नाश कर देता है, तब वेद प्रतिपाद्य समस्त धर्मों को तथा उनके सर्व धर्मों की भी रक्षा वास्ते वह ही पूर्ण पर ब्रह्म, अपनी योग माया से स्वरूप को धारण कर प्रकट होकर दर्शन देते हैं, न कोई दूसरा, जब यों है, तो सब क्यों नहीं ? यों समझते हैं, यों कहो तो इसका उत्तर यह कि 'परमहंसगतिम्' जो संसार से आत्मा का पृथक् भाव जानते हैं और करने के लिए समर्थ हैं, वे 'हंस' हैं, उससे भी जो, जीवों की गति और भगवान् की गति का विवेचन करना जानते हैं वे परमहंस हैं, वे ही उनको जान सकते हैं, अतः अपने भजन के अनुकूल कितने धर्म जाने, इस प्रकार वैसे हो भगवद्भाव के लिए हम तुम्हें प्रणाम करते हैं, यों तात्पर्य है ।।४।।

आभास—एवं पुरुषाणां सर्वभावप्रपत्तिमुक्त्वा स्त्रीणामपि साक्षाद्भगवत्प्रपत्त्यर्थं पुरुषद्वारा जातायामपि तादृशी प्रतिपत्तिर्भगवत्स्त्रीषु दृश्यत इति तस्या मूलकारणं प्रष्टुं सर्वाः स्त्रियो मिलिताः ततस्ताभ्यः श्रुत्वा स्वयं च तथाजाता इति। सर्वाः स्त्रियः पुरुषवदेवेति यदुपाख्यानवृत्तं तदुपक्षिपति **इत्युत्तमश्लोके**ति।

आभासार्थ—इसी तरह पुरुषों के सर्वभाव की प्रपत्ति कहकर स्त्रियों को भी साक्षात् भगवत्प्रपत्ति के लिए पुरुष द्वारा होते हुए भी वैसी प्रतिपत्ति भगवान् की स्त्रियों में दीखती है। यों उसका मूल कारण पूछने के लिए सब स्त्रियाँ इकट्ठी हुईं, पश्चात् उनसे सुनकर और स्वयं वैसी ही हुई यों सर्व स्त्रियाँ पुरुष की भाँति ही हैं, इनका जो इतिहास है वह 'इत्युत्तम' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—ऋषिरुवाच—**इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जने-**
ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-
स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार पवित्र कीर्ति-पुरुषों के मुकुट-मणि श्रीहरि की लोक स्तुति कर ही रहे थे, वहाँ अन्धक (यादवों की एक शाखा) और कौरवों की स्त्रियाँ एकत्र हो, त्रिलोक में गायी जाती भगवान् की कीर्ति की गाथाएं परस्पर करने लगीं, वे मैं वर्णन करता हूँ, उसको तुम सुनो ॥५॥

सुबोधिनी—उत्तमैः श्लोक्यत इति उत्तमानां तदेव प्रयोजनमिति। ततोऽप्युत्तमत्वमेव कर्तव्यमिति **उत्तमश्लोकशिखामणिं** भगवन्तमेव स्तुवन्ति सर्वे जनाः। **स्त्रीणां** पुनस्तदभिज्ञत्वाभावात् तज्ज्ञानार्थं **अन्धकानां** यादवानां **कौरवाणां** च **स्त्रियः समेत्य मिथः गोविन्दकथाः अगृणन्**, तास्ते **वर्णयिष्यामी**ति प्रतिजानीते। ननु तावता किं स्यादित्याशङ्कयाह **त्रिलोकगीता** इति। ताः कथाः लोकत्रयेपि गीताः, अतः सावधानतया **शृण्वि**ति सात्विकसाधनमिति नियोगः ॥५॥

व्याख्यार्थ—उत्तमजनों से प्रशंसित (बखाने जाते) हैं, यों उत्तमों का यह ही प्रयोजन है, अर्थात् लोक में उत्तम पुरुष इसलिए ही जन्मे हैं उससे भी उत्तम कार्य करना चाहिए, इसलिए कहते हैं, कि उत्तमों से जो प्रशंसित (बखाने जाते) हैं उनमें भी जो मुकुटमणि हैं, वैसे भगवान् की ही सर्व मनुष्य स्तुति करते हैं। स्त्रियों में उनका पूर्ण ज्ञान न होने से, उसको जानने के लिए यादव और कौरवों की स्त्रियाँ आकर आपस में गोविन्द की कथाएं कहने लगीं, वे कथाएं तेरे लिए वर्णन करूँगा यों प्रतिज्ञा करते हैं। इस वर्णन से क्या लाभ होगा? इस पर कहते हैं कि 'त्रिलोकगीताः' वे कथाएं तीनों लोकों में गाई जाती है इसलिए, सावधान होकर सुन, यह सात्विक साधन है ॥५॥

आभास—तत्र प्रथमं द्रौपद्याः प्रश्नमाह **हे वैदर्भी**ति।

आभासार्थ—वहाँ पहले 'वैदर्भी' श्लोक से द्रौपदी का प्रश्न कहते हैं

श्लोक—द्रौपद्युवाच-हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।
हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ।।६।।

श्लोकार्थ—द्रौपदी कहने लगी कि हे रुक्मिणी ! हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे कौसले ! हे सत्यभामा ! हे कालिन्दी ! हे शैव्या ! हे रोहिणी ! हे लक्ष्मणा ! ।।६।।

सुबोधिनी—अष्टस्त्रीणां प्रत्येकमन्यासां समुदायेन च संबोधनम् । सर्वभावेन भगवद्गुणज्ञानार्थम् । मूला प्रकृतिः लक्ष्मीः, ततोऽष्टप्रकृतयो रुक्मिण्याद्याः, ततः षोडशविकाराणां सहस्रशः कार्यप्रकृतयः । सर्वासु भगवतो या लीलाः यथावा तासां परिग्रहः तदनुसंधानेन कृतार्थता भविष्यतीति तथा प्रश्नः । **अच्युत** इति सर्वास्वपि रममाणो न च्युतो भवतीति जीववैलक्षण्यं निरूपितम् । **हे भद्रे हे जाम्बवति हे कौसले हे सत्यभामे हे कालिन्दीति हे शैब्ये मित्रविन्दे** । षोडशसहस्त्रीषु मुख्या रोहिणी । सैवाष्टमहिषीष्वपि कल्पान्तरे । अत एव **क्रमदीपिकासु** सैव गृहीता ।।६।।

व्याख्यार्थ - श्रीकृष्ण की आठपटराणियों में से प्रत्येक का संबोधन है और अन्यों का समुदाय से संबोधन दिया है. सर्वभाव से भगवद्गुणगान के लिए यों किया हैं । मूल प्रकृति लक्ष्मी है, पश्चात् रुक्मिणी आदि आठ प्रकृतियाँ हैं, उनके बाद षोडश विकारों के हजारों कार्य (प्रकृतियाँ है, इन सब प्रकृतियों में भगवान् की जो लीलाएं हैं अथवा जैसे उनका परिग्रह किया है, उनका अनुसन्धान करने से कृतार्थता होगी, इसलिए वैसा प्रश्न है । श्रीकृष्ण का यहाँ 'अच्युत' नाम देकर यह सूचित किया है, कि सर्व प्रकृतियों में रमण करते हुए भी च्युत (गिरना) नहीं होते हैं, जिससे आपकी जीव से विलक्षणता कही है । हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे कौसले ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि, हे शैब्ये ! हे मित्रविन्दे ! सोलह हजार स्त्रियों में रोहिणी मुख्य है, वह ही कल्पान्तर में आठ पटराणियों में भी थी, इस कारण से ही क्रमदीपिकाओं में वह ही ग्रहण की है ।।६।।

**श्लोक—हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवानयम् ।
उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ।।७।।**

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण की रानियों ! यह हमें कहो कि अपनी माया से लोक का अनुकरण करते हुए स्वयं हरि भगवान् ने तुम्हारा पाणिग्रहण किस प्रकार किया ? ।।७।।

सुबोधिनी—**हे कृष्णपत्न्य** इति साधारणीनां संबोधनम् । **एतदनु**पदमेव प्रष्टव्यम् । **नोऽस्मभ्यं ब्रूत** । तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह **भगवान् अयं यथा उपयेम** इति । आन्तरं भावमुत्पाद्य विवाहं कृतवानिति चेत्तत्राह **यथा लोकमनुकुर्वन्निति** । लोकानुकरणं बाह्यप्रकारेण । ननु सर्वान्तरो भगवान् कथं बाह्यप्रकारं करिष्यतीति चेत्तत्राह **स्वमाययेति** । असाधारणमायया बहिरपि स्वभाव प्रकटयतीत्यर्थः ।।७।।

व्याख्यार्थ—हे श्रीकृष्ण की पत्नियों ! यह संबोधन साधारण स्त्रियों के लिए दिया गया है, इसके बाद साथ में ही पूछना चाहिए, हमको कहो। क्या कहें ? ऐसी आकांक्षा होने पर, कहती हैं, कि इन भगवान् ने जैसे आपका पाणिग्रहण किया, भीतर के भाव को उद्भूत कर विवाह किया. यदि यों पूछतो हो तो हम कहती हैं; जैसे लोक करते हैं उसी बाह्य प्रकार से किया जो भगवान् सर्वान्तर हैं वे बाह्य प्रकार से कैसे करेंगे ? जिसका उत्तर देती हैं कि 'स्वमायया' असाधारण अपनी माया से बाहर भी स्वभाव को प्रकट करते हैं ॥७॥

आभास—तत्र प्रथमं वैदर्भी स्वविवाहप्रकारमाह चैद्याय मार्पयितुमिति।

आभासार्थ—वहाँ पहले वैदर्भी अपने विवाह का प्रकार 'चैद्याय' श्लोक से कहती है—

श्लोक—रुक्मिण्युवाच—**चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु**
राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथा-
त्तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥८॥

श्लोकार्थ—रुक्मिणी ने कहा कि मुझे शिशुपाल को दिलाने के लिए जरासन्ध आदि राजा धनुष तैयार करके आ उपस्थित हुए थे, उस समय अजेयसुभट लोगों के सिर पर जिनके चरणों की रज मुकुट के समान विद्यमान है, ऐसे हरि सिंह बकरियों के टोले में से जैसे अपने भाग को ले जाता है, वैसे ही अपने भाग रूप मुझको लेकर आ गए। उन लक्ष्मी के निवास रूप हरि के चरणों की मैं नित्य पूजा किया करूँ ॥८॥

सुबोधिनी—राजा मत्पिता भ्राता वा। यावद्दास्यति ततः पूर्वमेव नेष्यतीति तन्निराकरणार्थमुद्यतकार्मुका राजानो जाताः। ततश्च **चैद्याय** मामर्पयिष्यति राजद्वारा एवं स्थिते **अजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः** भगवान्निन्ये। न जेयो भटोऽपि येषां ते **अजेयभटाः**। भटः पदातिः कीर्तिवक्ता दूतरूपो वैतालिको वा। तेषां **शेखरितः** मुकुटेष्वधिरूढः **अङ्घ्रिरेणुर्यस्य**। तादृशं भगवन्तं जेष्यन्तीति दूरापास्तमन एव मां **निन्ये**। निःशङ्कार्थमाह **मृगेन्द्र इवेति**। एवमावश्यकनयने हेतुः **भागमिति**। अन्येषामप्रयोजकत्वमाह **अजावियूथादिति**। अजानामवीनां च समूहात्। येऽपि सात्त्विका येऽपि राजसाः ते उभयेऽप्यप्रयोजकाः। एव पुरुषोत्तमत्वं प्रकटितमिति। मम सर्वपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं तच्चरणो ममार्चनायास्तु। प्रत्यक्षमेव तत्र सर्वपुरुषार्थसत्त्वमित्याह **श्रीनिकेतेति**। स्वभागत्वात् शरीरं स्वयमेव भोक्ष्यति। तत्र प्रसङ्गादागतो जीवः भगवद्भक्तिमेव वाञ्छतीति निरूपितम् ॥८॥

व्याख्यार्थ—मेरे पिता वा भाई जब तक शिशुपाल को दें, उससे पहले ही, श्रीकृष्ण ले जाएंगे इस शङ्का से, उसका निराकरण करने के लिए, शिशुपाल के पक्ष वाले राजा लोग धनुष ले तैयार होकर आके उपस्थित हुए। पश्चात् यह विचारणा हुई, कि चैद्य को देंगे वा राजद्वारा

मुझे अर्पण की जाएगी, निश्चित न होने से, जिनको शूर भी नहीं जीत सकते हैं, वे अजेय भट कहे जाते हैं, भट पद का तात्पर्य है, पैदल सैनिक, यशोगान करनेवाले, दूत वा वैतालिक, इन सब के मुकुटों पर स्थित है चरणारज जिनकी, ऐसे भगवान् को ये क्या जीतेंगे ? ये तो दूर से ही ग्रस्त हैं इससे ही मुझे ले आए। किसी प्रकार की लेने में शङ्का वा रुकावट न हो सकी। इसको दृष्टान्त देकर समझती हैं कि जैसे सिंह बकरियों के झुंड से अपना भाग ले जाता है, वसे ही प्रभु भी अपना भाग जो मैं थी उसको ले आए, जो सात्विक वा राजस थे वे तो अप्रयोजक थे, इस प्रकार पुरुषोत्तमपन प्रकट किया। मेरे सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे इसलिए उनका चरण हो मेरी पूजा के लिए हो, कारण कि उन चरणों में सर्व प्रकार के पुरुषार्थ रहते हैं यह प्रत्यक्ष दीखता है, इसलिए चरणों का विशेषण 'श्रीनिकेत' है श्री का वहाँ सतत निवास है, यह शरीर आपका ही भाग है, इसलिए स्वयं ही इसका उपभोग करेंगे ही, इससे यह सूचित किया है कि इस शरीर में प्रसङ्ग से आया हुआ जीव भगवान् की भक्ति ही चाहता है यों निरूपण किया है ॥८॥

आभास—यद्यपि द्रौपदी परिगणनां व्युत्यासेन कृतवती। तथापि क्रमेणैव ताः स्त्रियः स्ववृत्तान्तं निरूपयन्ति। अतस्तदनन्तरभाविनी सत्यभामा स्ववृत्तान्तमाह **यो मे सनाभीति**।

आभासार्थ—यद्यपि द्रौपदी ने गणना बिना क्रम से की है, तो भी वे स्त्रियाँ क्रम से ही अपना वृत्तान्त निरूपण करती है, अतः रुक्मिणी के बाद सत्यभामा अपना हाल 'यो मे सनाभि' श्लोक से कहती है—

श्लोक—सत्यभामोवाच—**यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन**
लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन
भीतः पितादिशत मां प्रभवेपि दत्ताम् ॥९॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा कहने लगी कि भ्रातृ वध होने से सन्तप्त मेरे पिता ने जो कलङ्क श्रीकृष्ण पर लगाया था, उसको मिटाने के लिए भगवान् ने जाम्बवान् को जीत कर, मणि लाकर मेरे पिता को दी, तब उस अपराध से मेरे पिता डर गए थे, अतः वाग्दान होने पर भी मुझे श्रीकृष्ण को अर्पण किया ॥९॥

सुबोधिनी—**सनाभिः** सोदरो भ्राता तस्य **वधो** यद्यप्यन्यत्र जातः तथापि तद्वधेन तप्तहृदयः मत्पिता तेन अविचार्यैव भगवति **लिप्तोभिशापः तमपमार्ष्टुं ऋक्षराजं जित्वा। अथ** भिन्नप्रकारेण स्वयं प्रतिगृह्य पारिबर्हतया दत्तं **रत्नं** तस्मै मत्पित्रे **उपाजहार**। ततो **भीतो मत्पिता तेन** रत्नेन सह **मामादिशद्दत्तवान्**। **यद्यपि** तस्य **भार्याः** सिद्धाः। तथापि प्रभुरिति। अन्यस्मै **दत्तामपि** वाग्दत्ताम्। 'दत्तामपि हरेत्कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' इति। क्षत्रियविषयमेतत्। 'नैतत्पूर्वेषयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे। यदन्यस्याप्यनुज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते' इति मनुवाक्यं ब्राह्मणविषयं ऋषिपदप्रयोगात्। किञ्च। विवाहे बन्धूनामैकमत्यं मृग्यते तदैवाधिकारः। ततोधि-

कारसंपादनार्थमेव मां दत्तवान् । अतः प्रायश्चित्तार्थं दत्ताह् दोषनिर्घातार्थं जातेति स्वार्थं नावशिष्टेति न किञ्चित्कामये इत्यर्थः । अत एव भगवतः सा प्रिया । पित्रर्थमेव च व्यापृता । अत एव तस्याः स्वर्गो नास्तीति पारिजातापहरणं स्वर्गे च नयनम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—सगा भाई यद्यपि दूसरे स्थान पर मरा था, तो भी उसके वध से सन्तप्त हृदय वाले मेरे पिता ने बिना विचार किए भगवान् पर उसके मारने का कलङ्क लगाया उस कलङ्क को मिटाने के लिये रीछों के राजा को जीतकर मणि लेली, 'अथ' जुदा प्रक्रम करते हैं, वह मणि स्वयं लेकर मेरे पिता को भेट वा उपहार रूप में दे दी । झूठे कलङ्क लगाने से डरे हुए मेरे पिता ने उस रत्न सहित मुझे भी श्रीकृष्ण को अर्पण किया । यद्यपि उनको स्त्रियाँ तो थीं ही तो भी 'प्रभु' जानकर मुझे भी अर्पण किया, यद्यपि मेरा वाग्दान हो चुका था, ऐसा करने को शास्त्र में क्षत्रियों के लिए आज्ञा है, जैसे कि कहा है 'दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' यदि श्रेष्ठ वर आ जावे, तो वागदान् की हुई कन्या उसको दी जावे, मनु ने कहा है कि जो कन्या एक को दी हो वह फिर दूसरे को नहीं देनी चाहिए, कारण कि आगे के ऋषियों ने ऐसा नहीं किया है और न दूसरे करेंगे यह मनु का वाक्य ब्राह्मणों के लिए है क्योंकि श्लोक में ऋषि पद से ब्राह्मण कहे हैं विवाह बान्धवों की भी एक राय की जाती है, तभी ही अधिकार है इसलिए अधिकार का सम्पादन करने के लिए ही मुझे दिया, अतः मेरे पिता ने जो दोष किया था उसको मिटाने का प्रायश्चित यह किया कि मुझे कृष्ण को अर्पण किया, मैं दोष नाश करने के लिए ही हुई इससे अपने लिए नहीं रही, इसलिए मैं कुछ कामना[1] नहीं करती हूँ इस कारण ही वह भगवान् को प्यारी है, पिता के लिए ही वह व्यापृत थी, अतएव उसको स्वर्ग नहीं इसलिए पारिजात ले आए और स्वर्ग दिखाया ॥६॥

आभास—जाम्बवतीत्याह **प्राज्ञायेति ।**

आभासार्थ—'प्राज्ञाय' श्लोक में जाम्बवती ने इस प्रकार कहा—

श्लोक—जाम्बवत्युवाच–प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदैवं
सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां
पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

श्लोकार्थ - जाम्बवती ने कहा कि मेरे पिता जाम्बवान् ने प्रथम यह नहीं जाना कि ये मेरे इष्टदेव स्वामी हैं, अतः सत्ताईस दिन तक युद्ध किया, फिर जब जाना कि स्वामी हैं, तब चरणों में गिरकर भेंट में मणि के साथ मुझे अर्पण किया, अतः मैं तो इनकी दासी हूँ ॥१०॥

---

१ कामना न करने वालों को सद्योमुक्ति होती है इसलिए स्वर्ग नहीं,

सुबोधिनी—अज्ञाय अज्ञात्वा प्रकर्षेण अज्ञात्वा **प्राज्ञाय** कश्चिन्मनुष्य इति भगवन्तं ज्ञात्वा मम **देहकृत्** कन्यापिता। महता पापेनैव कन्यापितृत्वं भवतीति। अत एव दुःखायैवेति शास्त्रम्। अतो भगवन्तं न ज्ञातवान्। **अमुमित्यग्रे** प्रदर्श्याह वस्तुतस्त्वयं **निजः** आत्मा **नाथः** स्वामी **दैवं** पूज्यश्च। ननु तादृशो राम इति चेत्तत्राह **सीतापतिमिति**। पूर्वं सीतायै महद्दुःखं दत्त्वा ततस्तां बहुधा अवतार्य तदर्थं स्वयमप्यागत इत्यर्थः। अज्ञान तावदेव यावद्भगवतः सान्निध्य न भवति। तत्र त्रिगुणानां भेदाः सप्तविंशति तत्त्वानीति तत्तद्व्यवधानात् भगवदज्ञानमिति तन्निराकरणार्थ**ममुनाभ्ययुध्यत्**। ततो व्यवधानेषु गतेषु **परीक्षिते** परीक्षायां जातायां भगवानेवायमिति ज्ञात्वा **अर्हणं** पूजायोग्यं **मां पादौ प्रगृह्य मणिना सह उपाहरत्**। एवं विवाहमुक्त्वा कामनामाह **अहममुष्य दासी**। यो हि स्वतन्त्रो भवेत् स कामयेत। अहं तु दासी दास्यव्यतिरेकेणान्यदस्याः कामिकं न भवति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवती ने कहा कि मेरे पिता ने भगवान् को भगवान् न समझ केवल यों समझा कि वे कोई मनुष्य है। मेरी देह को उत्पन्न करने वाला होने से (कन्या का) मेरा पिता है। जब पूर्व जन्म में महान् पाप किया जाता है तो उसका फल कन्या का पिता होना होता है, इसलिए ही शास्त्र में कहा है, कि कन्या का जन्म दुःख के लिए ही है- अतः यह भगवान् हैं यों न जान सका। 'अमु' पद से यह बताया है कि ओह ! यह सामने स्थित तो वास्तविक अपनी आत्मा नाथ, दैव और पूज्य है। वैसे तो यह राम हैं, किन्तु यों है तो भी सीता के पति हैं। पहले सीता को बहुत दुःख देकर पश्चात् उसको अनेक तरह से अवतार धारण कराके उसके लिए स्वयं भी आए हैं। अज्ञान तब तक रहता है, जब तक भगवान् का सानिध्य नहीं होता है, उसमें तीन गुणों के भेद सत्ताईस तत्व है, उनके व्यवधान होने के कारण, भगवान् का अज्ञान रहता है। उस अज्ञान के निराकरण करने के लिए इनसे युद्ध करने लगे, युद्ध करने से रुकावटें नष्ट हो गई, परीक्षा भी हो गई यह ज्ञान हो गया है कि 'यह ही भगवान् हैं, यों पूर्णज्ञान प्राप्तकर, पूजा योग्य का चरण पकड़कर अर्थात् चरणों में पड़कर मणि के साथ मुझे भी भगवान् को दे दिया यों विवाह का वर्णन कर कामना कहती है, जो निश्चयपूर्वक स्वतन्त्र होता है, वह कामना करता है मैं तो दासी हूँ अतः दास्य के सिवाय दूसरी कामना ही नहीं है ॥१०॥

आभास—ततः प्राप्ता कालिन्दी स्ववृतान्तमाह **तपश्चरन्तीमिति**।

आभासार्थ—अनन्तर कालिन्दी आई, वह 'तपश्चरन्ती' श्लोक से अपना वृत्तान्त कहती है—

श्लोक—कालिन्द्युवाच—**तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया।**
सख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं याहं तद्गृहमार्जनी ॥११॥

श्लोकार्थ—कालिन्दी ने कहा कि मुझे अपने चरण स्पर्श की इच्छा से तपस्या करती हुई जानकर, प्रथम अपने मित्र अर्जुन द्वारा मिलकर, बाद जिन्होंने मेरा पाणिग्रहण किया, उन भगवान् के घर में सदा सोहनी करने (बुहारा लगाने) वाली दासी मैं हूँ ॥११॥

सुबोधिनी—अर्जुनादिप्रेषणं व्याजार्थम्। वस्तुतस्तु स्वयमेवाज्ञाय **सख्या सह उपेत्य पाणिमग्रहीत्**। एवं विवाहमुक्त्वा कामनामाह **याहं तद्गृहमार्जनीति**। मम तु कामना नास्ति स्वभावत एवाहं कालिन्दी तद्गृहस्य मथुरायाः **मार्जनी** शोधिका। तद्गृहं वा सूर्यमण्डल ततः शोधयित्वा वा निर्गता। अथवा। गृहदासीत्वं स्वस्याः कामितमेव जातमिति निरूपयति ।११।

व्याख्यार्थ—अर्जन आदि का भेजना केवल नाट्य था, वास्तव में तो स्वयं ही आज्ञा कर मित्र के साथ आके पाणिग्रहण करने लगे इस प्रकार विवाह कर कामना कहती है, मैं जो हूं वह उनके घर की बुहारी (झाडू) देने वाली दासी हूँ, मुझे तो कामना नहीं है क्योंकि में स्वभाव से हो उनके घर मथुरा को साफ करने वाली कालिन्दी हूँ उनका गृह अथवा सूर्य मण्डल उससे शोध कर निकली हूँ अथवा गृहदासीपन ही अपना कामित हो गया है, यों निरूपण किया है ।।११।।

आभास—ततोऽनन्तरा मित्रविन्दा स्ववृत्तान्तमाह **यो मामिति**।

आभासार्थ—इसके बाद मित्रविन्दा 'यो मां' श्लोक में अपना वृत्तान्त कहती है-

श्लोक—भद्रोवाच-**यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपा-**
न्निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः।
भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-
स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्रचवनेजनत्वम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—भद्रा ने कहा कि लक्ष्मी निवास भगवान् स्वयंवर में आकर राजाओं को तथा अपकार करने वाले मेरे भ्राताओं को भी जीतकर, जैसे सिंह श्वानों (कुत्तों) के झुण्ड में गिरे हुए अपने भोज्य को ले लेता है, वैसे ही मुझे वहाँ से द्वारका ले आए मैं उनके चरण धोने वाली दासी सदा ही हूँ ।।१२।।

सुबोधिनी—**स्वयंवरे उपेत्येति**। पूर्वं स्वत एवासक्तापि भ्रात्रा निवार्य स्वयंवरे योजिता ततः **स्वयंवरे** स्वय**मुपेत्य** सर्वानेव **विजित्य** पैतृष्वस्रेय्येवाहमिति स्वभागत्वादन्यभागमन्यो गृह्णन् श्वा भवतीति **श्वयूथगमिव द्विपारिः** सिंहः धर्मभूःक्षकानपि राज्ञो जयतीति। एवं मे **भ्रातॄनपकुरुतः विजित्य**। यद्यपि विन्दानुविन्दौ द्वावेव प्रतिकूलौ तथापि तत्पक्षपातिनोऽन्येऽपि गोत्रजा इति भ्रातॄनिति बहुवचनम्। चकारादन्येऽपि प्रतिकूलाः सूचिताः। ततः **स्वपुरं** निन्ये द्वारकां मां नीतवान्। अनेन मध्ये विघ्नो निवारितः। **श्रियौक** इति पुरस्य सर्वसमृद्धिरुक्ता। ततः कामितमाह **तस्य अङ्घ्रचवनेजनत्वं** अनुभवं जन्मनि जन्मनि भवतु अङ्घ्रचवनेजनी पादप्रक्षालनकर्त्री। एतत्कामितम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—प्रथम तो मैं स्वयं ही भगवान् में आसक्त चित्त वाली थी तो भी मेरे भ्राता मुझे स्वयंवर में लाए, तब भगवान् ने स्वयंवर में आकर सबको जीतकर भूआ की बेटी मैं हूँ इसलिए अपना भाग होने से, दूसरे का भाग यदि कोई दूसरा ग्रहण करे तो वह श्वान सम होता है इसलिए

वे राजा कुत्तों के समान थे इसलिए इसी प्रकार का दृष्टान्त दिया है जैसे सिंह कुत्तों के मध्य में पड़े हुए अपने भाग को ले जाता है वैसे ही भगवान् भी नृपरूप श्वानों के मध्य से अपने भाग मुझको वहाँ से छीनकर द्वारका ले आए, धर्म और भू के रक्षक राजा को भी भगवान् जीतते हैं, इसी प्रकार अपकार करनेवाले मेरे भ्राताओं को भी जीता। यहाँ भ्रातृन् बहुवचन का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यद्यपि भगवान् के विरुद्ध तो विन्द और अनुविन्द दोनों भाई थे किन्तु उनके पक्ष में दूसरे भी गोत्र में उत्पन्न बांधव थे, इसलिए 'बान्धव' पद बहुवचन दिया है, च' पद से दूसरे भी जो प्रतिकूल थे उनकी भी सूचना की है। मुझे लेकर सीधे द्वारका आए, यों कहने से यह बताया है कि मध्य में किसी प्रकार का विघ्न न हुआ। 'श्रियौकः' पद से नगर की समृद्धि कही है, पश्चात् कामना का निरूपण करती है, कि मुझे यही कामना है कि मैं जन्म जन्म में भगवान् के चरणों का प्रक्षालन ही करती (धोती रहूं ॥१२॥

आभास—नाग्नजिती त्वाह **सप्तोक्षण** इति।

आभासार्थ—'सप्तोक्षण' श्लोक से नाग्नजिती अपना वृत्तान्त कहती है.

श्लोक—सत्योवाच—**सप्तोक्षणोतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्**
पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय।
तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य
क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥१३॥

श्लोकार्थ—नाग्नजिती ने कहा कि मेरे पिता ने राजाओं की वीरता की परीक्षा करने के लिए बहुत तीखे शृङ्ग, अति बल और पराक्रम वाले तथा वीर पुरुषों के दुष्ट अभिमान को उतारने वाले सात बैल अङ्कित कर छोड़ रखे थे, उन्हें भगवान् ने इसी भाँति खेल ही खेल में बाँध लिया, जैसे बालक बकरी के बच्चों को बाँध लेते हैं॥१३॥

सुबोधिनी—**अतिबलं वीर्यं** पराक्रमः **सुतीक्ष्णे शृङ्गे** च येषां तान् **सप्त** व्यवसनात्मकान् अत एव **क्षितिपवीर्यपरीक्षणार्थं पित्रा कृतान्**। यो हि व्यसनग्रस्तो भवति स कुतो भोक्ता भविष्यतीति स्वकन्याया भोगः सिध्यत्विति पित्रा ते कृताः। व्यसनानि **च** त्रिगुणात्मकानि। अतो बलीवर्दास्तथानिरूपिताः। वीर्यं सात्त्विकं बलं तामसम्, शृङ्गे राजसे। किञ्च। व्यसनानि धर्मादिभिर्निराकर्तुमशक्यानीति ज्ञापयितुं तेषां विशेषणम्। **वीरदुर्मदहन** इति वीराः शूरा राजानः वीर्यं धर्मस्थानीयमुक्तं तथापि दुरभिमानजनकत्वात् न व्यसननाशने समर्थमित्यभिप्रायेणाह **दुर्मदे**ति। वीराणां दुष्टं मदं घ्नन्तीति दुर्मदहनः। अतस्तरसा शीघ्रमेव **निगृह्य** यतो व्यवसनानामेव व्यसनं भवति। ततः **क्रीडन्निव** लौकिकव्यापारेणैव तन्निग्रहं कृत्वा। हेत्याश्चर्ये। वदिकैरपि दुर्निवार्यं कथं लौकिकेन निवारितवानिति लौकिकेपि प्रयासाभावायाह **यथा शिशवोजतोकानि**ति। स्थूलाः अजबालकान् बिभ्रतीति बालका एवं बन्धनार्थं बिभ्रतीति। तथाप्येकेन न भवतीति बहुवचनम्। व्यसनशान्त्यर्थं सप्ततन्तुं यज्ञं बालकाः कुर्बन्तीति ध्वनितम्॥१३॥

व्याख्यार्थ—बहुत बलशाली पराक्रम तथा बहुत तीखे सींगधारी सात व्यसन रूप बैल, राजाओं की शूरवीरता की परीक्षा के लिए पिता ने तैयार किए। पिता ने इनको इसलिए तैयार किया, कि जो व्यसन ग्रस्त होता है वह कैसे भोक्ता बन सकेगा ? इसलिए अपनी कन्या का भोग सिद्ध हो, तदर्थ पिता ने तैयार किए। व्यसन तीन प्रकार के होते हैं, अतः बैल भी ऐसे निरूपण किए। 'वीर्य' सात्विक है, 'बल' तामस है और सींग राजस है। यद्यपि व्यसनों को धर्म आदि निराकरण नहीं कर सकते हैं, यह जताने के लिए उनके ये विशेषण देकर समझाया है कि 'दुर्मदहनः' वीरों में जो दुष्ट मद है, उसको नाश करने वाले हैं अतः शीघ्र ही पकड़ लिया, क्योंकि आप व्यसनों के ही व्यसन हैं, इस कारण से मानों खेलते ही खेलते लौकिक को तरह ही, उनको पकड़ लिया ह' यह आश्चर्य है, वैदिक युक्तियों से भी जो कठिनाई से पकड़ में आने वाले हैं, उनको लौकिक से कैसे हटा दिया ? फिर लौकिक में किसी प्रकार का परिश्रम भी नहीं हुआ, जिसको वैसा ही दृष्टांत देकर समझाती है। स्थूल बालक बकरी के बच्चों को पकड़ते हैं किन्तु बन्धन के लिए डरते हैं, क्योंकि एक से नहीं बाँधे जाते हैं इसलिए बहुवचन दिया है. व्यसन शान्ति के वास्ते बालक सात तन्तुओं वाले यज्ञ को करते हैं, भगवान् ने भी उनका बन्धन ही किया यह ध्वनि निकलती है- अर्थात् ऐसा भाव प्रकट होता है ॥१३॥

श्लोक—**य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।**
पथि निर्जित्य राजन्यान्निन्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥१४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जिसका मूल्य पराक्रम ही है, उस मुझ दासी का पाणिग्रहण कर जिस मार्ग से पधार रहे थे, उस मार्ग में जो राजा आए, उनको तथा उनकी चतुरङ्गिणी सेना को जीतकर, मेरे पिता की दी हुई दासियाँ सहित मुझे द्वारका ले आए, उनकी सदा दासी बनी रहूँ ॥१४॥

सुबोधिनी—ततः स्वाभिलषिते सिद्धे पित्रैव **दत्तां मां वीर्यमेव शुल्कं** यस्याः। **दासीभिः** सहिताम्। **राजन्यां**स्तेषां **चतुरङ्गिणीं** सेनां च **पथि** जित्वा **मां** स्वगृहं **निन्ये**। कामनामाह **तद्दास्यम**स्त्विति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् अपना अभिलषित सिद्ध होते ही, जिसका शुल्क, वीर्य ही है ऐसी जो मैं हूं, उसको पिता ने इनको दासियों सहित अर्पण की थी मार्ग में राजाओं को तथा उनकी चतुरङ्गिणी सेना को जीतकर मुझे अपने गृह (द्वारका) ले आए, अपनी कामना प्रकट करती है कि इनकी ही मैं दासी बनी रहूँ ॥१४॥

आभास—ततो भद्रा निरूपयति **पिता मे** इति।

आभासार्थ - पश्चात् भद्रा 'पिता मे' श्लोक से अपना वृतान्त कहती है-

श्लोक—भद्रोवाच-**पिता मे मातुलेयाय कृष्णे कृष्णाय दत्तवान् ।**
तच्चित्तां भ्रातृभिर्दत्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—भद्रा ने कहा कि मेरा चित्त भगवान् में ही था, अतः मेरे पिता ने (भ्राताओं द्वारा वाग्दान कराके) मामा के पुत्र श्रीकृष्ण को अक्षौहिणी सेना और सखियों के साथ मुझे भगवान् को अर्पण की ।।१५।।

सुबोधिनी मम **मातुलेयो** भगवान् श्रुतिकीर्तिकन्येयम् । हे **कृष्णे** द्रौपदि कृष्णार्थं वा । विशेषतो दानहेतुः **तच्चित्तामिति** । **भ्रातृभिर्दत्ता**मिति वाग्दानार्थं भ्रातर एव द्वारकां गता इति ज्ञेयम् । इदं तु दानं सङ्कल्पपूर्वकम् । **अक्षौहिणी सख्यश्च** दाने सहभावमापन्नाः ।।१५।।

व्याख्यार्थ - यह भद्रा श्रुत कीर्ति की कन्या है श्री कृष्ण इसके मामे के पुत्र हैं । हे कृष्णे! (द्रौपदि) अथवा कृष्ण के लिए मुझे दी, कृष्ण को देने का विशेष कारण यह है, कि उनमें मेरा चित्त था, भ्राताओं ने द्वारका जाकर मेरा वाग्दान किया था, यह दान केवल वाणी से नहीं था किन्तु सङ्कल्प पढकर किया हुआ है, दान में अक्षौहिणी और सखियां भी साथ में थीं ।।१५।।

आभास—कामनामाह **अस्य मे पादसंस्पर्श** इति ।

आभासार्थ— अस्य मे पाद संस्पर्श' श्लोक में अपनी कामना का वर्णन करती है

श्लोक—**अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।**
कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ।।१६।।

श्लोकार्थ—मैं कर्मों से कहीं भी भ्रमण करती रहूँ, तो भी वहाँ जन्म-जन्म में मुझे भगवच्चरण का स्पर्श होता रहे; क्योंकि अपना कल्याण इसमें है ।।१६।।

सुबोधिनी - जन्मनि जन्मनि भवेदिति । यदा यदा भगवानवतीर्णो भविष्यति तदा तदा लक्ष्मीवदहमप्यागमिष्यामीति । ननु स्वयमेव तच्छक्तित्वाद्भविष्यति किमिति प्रार्थ्यत इति चेत्तत्राह **कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया** इति । जीवभावात्कर्मसंबन्धः अन्यथा अन्यसंबन्धिनी कथं भवेयम् । किमतो यद्येवं तत्राह **येन** पादस्पर्शेन तत्प्रसिद्धं ब्रह्मानन्दात्मकं **श्रेयो** भवति । **आत्मनः** स्वस्यात्मगामि वा । सप्तैता भक्तिभेदाः ।।१६।।

व्याख्यार्थ जन्म-जन्म में चरण स्पर्श होवे, जब जब भगवान् अवतार लेंगे तब तब लक्ष्मी की भाँति मैं भी आऊंगी, भगवान् की शक्ति होने से स्वयं होगी, तो फिर प्रार्थना क्यों करती हो ? यदि यों कहती हो इसका उत्तर यह है कि, कर्मों से फिरने वाली होने से प्रार्थना करती हूँ, जीव भाव से कर्म सम्बन्ध है, अन्यथा यदि जीव भाव न हो तो कर्म सम्बन्ध भी न हो तो दूसरे से भी सम्वन्ध न होना चाहिए, वह हुआ है जैसा कि श्रुति कीर्ति की कन्या कर्मों के कारण ही हुई हूँ, यदि यों है तो भी क्या हुआ ? इसका उत्तर देती है कि जिसके पाद स्पर्श से वह प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द रूप श्रेय आत्मा को प्राप्त होना है इसलिए उसकी प्राप्ति के वास्ते प्रार्थना करनी आवश्यक है ।।१६।।

ये रुक्मिणी आदि भक्ति के सात भेद हैं-

कारिका —**अर्चनात्मा रुक्मिणी स्याच्छ्रवणं तदनन्तरा ।**
सर्वपापक्षयः पूर्वं यस्मादत्र निरूप्यते ।
एकान्ते च प्रदत्तेति तृतीया स्मृतिरुच्यते ।
चतुर्थ्येव चतुर्थी स्यात् द्वितीया पञ्चमी मता ।
सर्वान्बलवतो दुष्टान् विनिवार्यैव कीर्तयेत् ।
षष्ठी तु सप्तमी प्रोक्ता सप्तमी तद्विपर्ययम् ।
नमने पादसंस्पर्शः प्रतिवारं भवेदिति ।
सख्यरूपा त्वष्टमीयं महती विनिरूप्यते ॥१६॥

कारिकार्थ—ये जो सात पटरानियाँ कही, वे सात ही भक्तिरूपा हैं । अर्चनरूपा भक्ति रुक्मिणी है, श्रवणरूपा सत्यभामा है । इन भक्तियों के करने से सर्व पाप क्षय होते हैं । जाम्बवती एकान्त में दी हुई है, इस कारण से यह स्मरणरूपा भक्ति है, कालिन्दी पाद-सेवनरूपा भक्ति है, मित्रविन्दा कीर्तनरूपा भक्ति है, सर्व बलवान् दोषों को दूर कर कीर्तन करना चाहिए । छठी-सातवीं कही है, सप्तमी उसके विपरीत है, छठी पटरानी दास्यरूपा भक्ति है, लक्ष्मणा आठवीं सख्यरूपा भक्ति है, वह इन सर्व में श्रेष्ठ है ॥१६॥

आभास—लक्ष्मणा स्ववृत्तान्तं द्रौपद्यभिमाननाशायाह **ममापीति** ।

आभासार्थ—द्रौपदी के अभिमान के नाशार्थ लक्ष्मणा 'ममापि' श्लोक से अपना वृत्तान्त कहती है ।

श्लोक—लक्ष्मणोवाच—**ममापि राज्ञ्यच्युतजन्मकर्म**
श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।
चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया
वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥१७॥

श्लोकार्थ - लक्ष्मणा ने कहा कि हे द्रौपदी ! बार-बार नारदजी के गाए हुए भगवान् के जन्म और कर्म सुनकर मेरा मन उन मुकुन्द में आसक्त हो गया, तब अच्छी तरह विचार कर, पद्म को दीप की भाँति हस्त में लेकर देखती हुई सर्व लोकपालों को छोड़कर इनको वर लिया ॥१७॥

सुबोधिनी सा हि स्वविवाहमुत्कृष्टं मन्यते। राधावेधो हि दुर्लक्ष्यो भवति ततोप्यधिकश्चेद्भगवत्कृतोपि भवेत्। ततो भर्तृसख्यं विहाय भगवत्सखी भवेदिति सा प्रथमं स्वमनःप्रीतिमाह। स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्मप्रभृति जन्मान्तरेषु वा भगवत्येव चित्तं भवति। हे **राज्ञीति** सावधानतया श्रवणार्थं संबोधनम्। **अच्युतत्व** भजनीयत्वे मुख्यो हेतुः। **जन्म** भक्तोद्धारार्थमेव। **कर्म** तु भक्तकार्यार्थमेवेति **श्रुत्वा** कुलशीले वा। **मुहुर्नारदगीतमिति** निर्द्धारार्थं प्रमाणावृत्तिरुक्ता। **मुकुन्दे चित्तम** सेति। तदेकप्रवणं जातम्। अच्युतत्वादैहिकसुखदातृत्वं मुकुन्दत्वान्मोक्षदातृत्वमिति। तथापि योगिगम्यः कथं स्त्रीमात्रस्य वरणीयो भवेत् तत्राह **पद्महस्तया किल वृत** इति। पद्मं हस्ते यस्या इति दीपमिव गृहीत्वा सर्वं दृष्ट्वा विचार्य ग्रहणं निरूपितम्। ननु तावता किं त्वयान्यो ग्राह्य इति चेत्तत्राह **विहाय लोकपानिति।** अन्ये लोकपालाः अप्रयोजकाः सुदुष्टा इति ज्ञापितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ – वह (लक्ष्मणा) अपने विवाह को द्रौपदी आदि के विवाह से उत्तम मानती है। राधावेध (मछली बींधना) दुर्लक्ष्य है उससे भी अधिक यदि हो तो भगवान् का किया हुआ है, उससे भी भर्तारूप से सखाभाव त्याग कर भगवान् की सखी होना श्रेष्ठ जाना इसलिए प्रथम ही भगवान् से अपने मन की प्रीति जोड़ी, यों कहती है कि वह ही सखाभाव को प्राप्त कर सकता है जो पहले जन्म से लेकर सारा जीवन अथवा जिसने अन्य जन्मों में भी भगवान् में चित्त पिरो दिया है। हे रानी ! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो कुछ मै कहती हूं, वह सावधान होकर सुनो, इनके भजन करने में मुख्य कारण यह है, कि आप अच्युत हैं, अतः कभी भी किसी तरह से भी आपकी च्युति नहीं होती है, प्रभु का प्राकट्य भक्तोद्धार के लिए है और कर्म भक्तों के कार्य सिद्ध करने के वास्ते ही हैं तथा कुल एवं शील को बारंबार जो नारदजी गाते हैं उसको सुनकर, मन में इसको प्रमाण रूप सत्य है यों निर्द्धार कर मुकुन्द में मन को आसक्त कर दिया, और यह भी समझा कि अच्युत होने से आप सब प्रकार ऐहिक सुखदाता हैं एवं मुकुन्द होने से मोक्ष देने वाले भी आप ही हैं, अतः इनको वरण करने से दोनों लाभ प्राप्त होंगे, यों है, तो भी जो योगियों को प्राप्त होने वा समझने योग्य हैं उनको स्त्रियां कैसे पा सकेंगी ? अथवा उनका वरणीय कैसे होगा? इसके उत्तर में कहती हैं कि, मैंने दीप की तरह कमल लिया जिसके द्वारा पूर्ण रीति से सब राजाओं को देखा फिर विचार किया, विचार करने से निश्चय किया, कि दूसरे राजा लोकपाल आदि निरर्थक हैं क्योंकि दोषों वाले हैं, ये ही एक निर्दोष हैं, अतः सबका त्याग कर इनका वरण किया ॥१७॥

श्लोक– **ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः।**
बृहत्सेन इति ख्यातस्तथोपायमचीकरत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे साध्वी ! पुत्री-वत्सल मेरे पिता बृहत्सेन ने मेरा इस प्रकार का मत जानकर वैसा उपाय किया, जैसे मुझे श्रीकृष्ण प्राप्त होवे ॥१८॥

सुबोधिनी यत्परं मनस्तस्मै देयमिति स्वयं दाने लज्जा भवतीति साधारणस्वयंवरे च यः कश्चिद्ग्रहीष्यतीति पणबन्धो महान् कर्तव्य इति। **मम पिता मन्मतं ज्ञात्वा दुहितृवत्सलः** यथा भवति **तथोपायं** कृतवानित्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—कन्या का मन जिसमें लगा हुआ हो उसको देनी चाहिए, कन्या स्वयं अपने को देने में तो लज्जा का अनुभव करती है, अतः यदि मैं साधारण प्रकार का स्वयंवर करूंगा तो हर कोई ग्रहण कर सकेगा, इसलिए कोई महान् कठिन शर्त इसमें रखनी चाहिए जिसको श्रीकृष्ण के सिवाय दूसरा कोई पूर्ण न कर सके, यों निश्चय कर पुत्रीवत्सल मेरे पिताजी ने मेरा भाव जान लिया था अतः वैसा उपाय किया ।।१८।।

आभास—तमुपायमाह **यथा स्वयंवर** इति ।

आभासार्थ—उस उपाय को 'यथा स्वयंवरे' श्लोक में बताती है-

श्लोक—**यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।**
अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—हे द्रौपदी रानी ! जैसे तुम्हारे स्वयंवर में अर्जुन को देने की इच्छा से मत्स्य किया गया था, वैसे मेरे स्वयंवर में भी मत्स्य किया गया था, परन्तु तुम्हारे स्वयंवर में जो मत्स्य था, वह केवल बाहर ढका हुआ था, इसलिए खम्भे में लगी हुई दृष्टि से वह देखने में आ जाता था, किन्तु यह वैसा नहीं था, यह तो खम्भे के पास रखे हुए कलश के जल में ही दीख सकता था, अतएव दृष्टि नीचे और लक्ष्य ऊपर होने से यह मत्स्य श्रीकृष्णचन्द्र के सिवाय दूसरा कोई वेध नहीं सकता ।।१९।।

सुबोधिनी—**पार्थेप्सया** अर्जुन एव गृह्णात्विति । ततोपि मदीयो विशिष्ट इत्याह **अयं तु बहिराच्छन्न** इति । **स** तु बहिर्दृश्यते **परं जले** । जले तस्य प्रतिच्छाया उपलभ्यत इत्यर्थः । मदीयस्य तु जलेप्युपलम्भो नास्ति । सर्वथा बहिराच्छन्न एव । अतः पार्थस्याप्यगम्यं भविष्यतीति पितुरभिप्रायः । १९।।

व्याख्यार्थ—तुम्हारे स्वयंवर में मत्स्य इसी प्रकार रखा गया था, कि अर्जुन ही उसको वेध सके, मेरे स्वयंवर में मत्स्य उससे विशेष प्रकार से रखा गया था । आपके स्वयंवर वाला मत्स्य, तो बाहर ढका हुआ था, वह तो ढका हुआ (कपड़े में लपेटा हुआ था किन्तु जल में दीखता था, क्योंकि उसकी जल में परछाई पड़ती थी जिससे वह दीख जाता था, मेरे स्वयंवर वाला मत्स्य तो जल में भी नहीं दीखता था, सर्व प्रकार बाहर लपेटा हुआ ही था, अतः उसको अर्जुन भी वेध नहीं सके यह ही मेरे पिता का अभिप्राय था ।।१९।।

आभास—ततः सर्वे बलोन्नद्धाः समागता इत्याह **श्रुत्वैतदिति** ।

आभासार्थ—यह स्वयंवर सुनकर बल से मत्त बड़े २ राजा लोग वहाँ आए यह 'श्रुत्वैतत्सर्वतो' श्लोक से बताती है-

श्लोक—श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।
सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ।।२०।।

श्लोकार्थ—यह बात सुनकर सब अस्त्र तथा शस्त्र के ज्ञाता हजारों राजा लोग अपने-अपने उपाध्यायों को साथ ले, चारों ओर से मेरे पिता के नगर में आए ।२०।

सुबोधिनी—आगमने तेषां बलमाह **सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञा** इति । अस्त्रशस्त्रयोर्वैदिकलौकिकयोः क्षेपाक्षेपरहितयोर्वा तत्त्वं स्वरूपं अत्र स्थित्वा प्रक्षेपे एवं लक्ष्यं भवतीति अस्मिन् वा शस्त्रे योजिते लक्ष्यवेध इति । अकस्माद्विस्मरणे सभाकम्पे वा **सोपाध्यायाः सहस्रश** इति । एकस्य भङ्गे अपरो ग्रहीष्यतीति स्वतस्तेभ्य आदानेपि प्रतिष्ठा न भवतीति ।।२०।।

व्याख्यार्थ—जो आए उनके बल को कहती है कि सर्व प्रकार के वैदिक लौकिक अस्त्र शस्त्र के तत्त्व को जानने वाले थे, जैसा कि, वहाँ खड़ा रहकर फेंकने से इस प्रकार लक्ष्य हो सकेगा, इस शस्त्र को जोड़ने से लक्ष्य का वेध हो जाएगा, अचानक भूल हो जाए वा सभा कम्प हो, तो इसलिए हजारों उपाध्याय साथ लाए थे, उनसे पूछकर कार्य करेंगे, एक के भङ्ग होने पर दूसरा ग्रहण करेगा, यों स्वतः उनको आदान करने पर भी प्रतिष्ठा नहीं होगी ।।२०।।

श्लोक—पित्रा संपूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।
आददुः सशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ।।२१।।

श्लोकार्थ—पराक्रम तथा आयु के अनुसार सबका मेरे पिता ने सत्कार किया, अनन्तर सभा में रखे हुए सिर सहित धनुष को मत्स्य वेधार्थ लेने लगे; क्योंकि मेरी प्राप्ति का ही उनको ध्यान था कि वेध करने से वह मिलेगी ।।२१।।

सुबोधिनी—समागताः **सर्व** एव **पित्रा संपूजिताः** । परं तारतम्यानुसारेण तत्र तरतमभावे नियामकं **वीर्यं वयश्च** मिलितम् । अन्यथा तदुपाध्यायानामेव पूजनं स्यात् । तत्रैव भगवन्मन्त्राभिमन्त्रितं धनुः शरं च तत्रैव स्थापितं ते **समाददुः** । आदाने हेतुः **वेद्धुम्** । **पर्षदि** सभायाम् । यतो **मद्धिय** इति मत्कामाः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—आए हुए सबकी पिताजी ने पूजा की, वीर्य और आयु के अनुसार, यथायोग्य पूजन किया अर्थात् सबकी समान पूजा नहीं, गुणानुसार पूजा की, यों न करते तो केवल उपाध्यायों का ही पूजन होता वहां सभा में ही वेद मन्त्रों से अभिमन्त्रित धनुष और शर रखा था, वे राजा उनको लेने लगे, लेने का कारण यह था कि वेध करना था, 'पर्षदि' सभा में, क्योंकि मुझे लेने की इच्छा वाले थे ।।२१।।

आभास—ततस्तेषां भङ्गप्रकारमाह **आदाय व्यसृजन्निति** ।

आभासार्थ—पश्चात् उनके भङ्ग होने का प्रकार 'आदाय' श्लोक में कहती है ।

श्लोक—**आदाय व्यसृजन्केचित्सज्जीकर्तुं मनीश्वरा: ।**
आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हता: ।।२२।।

श्लोकार्थ—कितने ही राजाओं ने तो धनुष-बाण लेकर छोड़ दिया, कुछ डोरी ही नहीं चढ़ा सके, कुछ राजा ऐसे भी थे, जिन्होंने कोहनी के नीचे भाग तक खींचा तो गिर गए और वह धनुष उनके ऊपर पड़ने से वे मर गए ।।२२।।

सुबोधिनी—तत्र हेतु: **सज्जीकर्तुं मनीश्वरा** इति । **केचित्पुन:** वेधमात्रमेव पणीकृतमिति सज्जीकरणमप्रयोजकमिति । अन्यैर्बहुभिर्वा सज्जीकृतमेव धनु: । **आदाय** कोष्ठपर्यन्तं **ज्यामाकृष्य अमुना** धनुषा **हता:** सन्त: पतिता: । कर्णान्तं ज्याकर्षणं कर्तव्यं कोष्ठप्रदेशे तु ज्या तिष्ठत्येव । तस्यैवान्ते समीपे कथंचिदानीतवन्त: तावतैव बलक्षयो जात इति । तथैव पतिता: । तदनन्तरं स्वोपरि पतितेन धनुषा हता इत्यर्थ: ।।२२।।

व्याख्यार्थ—कितने ही जो डोरी नहीं चढा सकने थे वे कहने लगे, कि वेध मात्र ही करना है, डोरी चढानी बिना प्रयोजन वाली बात है, दूसरे बहुत से ऐसे थे, जिन्होंने डोरी चढ़ाई किन्तु जब उसको खींच कर कोहनी तक लाए तब बल क्षय हो जाने से गिर पड़े, उसके बाद अपने ऊपर गिरे धनुष से वे मर गए ।।२२।।

आभास—एवमप्रसिद्धानां स्वरूपमुक्त्वा प्रसिद्धानामाह **सज्ज्यं कृत्वेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार अप्रसिद्धों का स्वरूप कहके 'सज्जयं' श्लोक से प्रसिद्धों का स्वरूप कहती है-

श्लोक—**सज्ज्यं कृत्वाऽपरे वीरा मागधाम्बष्ठचेदिपा: ।**
भीमो दुर्योधन: कर्णो नाविदुस्तदवस्थितिम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—दूसरे वीर, मागध, अम्बष्ठ, चेदिय, भीम, दुर्योधन और कर्ण भी वह (मत्स्य) कहाँ है ? इसको न जान सके ।।२३।।

सुबोधिनी—**अपरे** पूर्वोक्तेभ्य: अन्ये । **मागधो** जरासन्ध: । **अम्बष्ठो** भगदत्त: हस्तिपत्वात् । **चेदिप:** शिशुपाल: तथैव **भीमो दुर्योधन: कर्णश्च** तथापि तस्य मत्स्यस्य **अवस्थितिं न विदु:** क्व तिष्ठतीति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—दूसरे, अर्थात् पूर्व जो कहे हैं उनके सिवाय दूसरे, उनका नाम कहते हैं, मागध (जरासन्ध) अम्बष्ठ, (भगदत्त हस्ती के पालक होने से अम्बष्ठ, चेदिय, (शिशुपाल) वैसे ही भीम दुर्योधन तथा कर्ण, इन सबने भी यह न जाना कि मत्स्य की स्थिति कहाँ है ।।२३।।

श्लोक – **मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।**
पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ।।२४।।

श्लोकार्थ – अर्जुन ने मत्स्य का जल में प्रतिबिम्ब देख, उसकी वही स्थिति समझ, सावधान हो, बाण चलाया, उस बाण ने उसका स्पर्श किया, किन्तु उसको वेधा नहीं ।।२४।।

सुबोधिनी --ततोर्जुनः आच्छादनसहितस्य **जले** प्रतिबिम्बं दृष्ट्वा जलाभासं तत्र ज्ञात्वा अमुकस्थाने तिष्ठतीति निश्चित्य **यत्तः** सन् **पार्थः बाणमसृजत्** । तावतापि लक्ष्यं **नाच्छिनत्** । **परं पस्पृशे** स्पर्शमेव संपादितवानिति । नरनारायणयोरेतावदन्तरं शक्तिद्वयमेकस्य पूर्णम् । अपरस्यैका कथंचिदिति ।।२४।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् अर्जुन ने आवरण सहित मत्स्य का प्रतिबिम्ब जल में देखकर, अमुक स्थान पर ही यह है यों निश्चय कर सावधान हो बाण छोड़ा, तो भी लक्ष्य को वेधा नहीं केवल स्पर्श ही किया, नर और नारायण में इतना ही अन्तर है, एक नारायण की दोनों शक्तियां ज्ञान और क्रिया पूर्ण हैं, दूसरे नर (अर्जुन) की एक (ज्ञान) भी कथंचित् है ।।२४।।

आभास—एवं साधारणप्रसिद्धातिप्रसिद्धनिराकरणे जाते सर्व एव निवृत्ता इत्याह **राजन्येषु निवृत्तेष्विति** ।

आभासार्थ –यों साधारण प्रसिद्ध और अति प्रसिद्धों का निराकरण होने से सब ही निवृत्त हो गए जिसका वर्णन 'राजन्येषु' श्लोकों से वर्णन करती है—

श्लोक—**राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।**
भगवान्धनुरादाय सज्जं कृत्वाथ लीलया ।।२५।।
तस्मिन्संधाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।
छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ।।२६।।
दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।
देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ।।२७।।

श्लोकार्थ—इस तरह उन अभिमानी क्षत्रियों का मान भङ्ग होते हुए वे सब निवृत्त हो गए, तब श्रीकृष्णचन्द्रजी ने धनुष ले, पनच (धनुष की डोरी) चढ़ा, उसमें लीला से बाण का सन्धान कर मध्याह्न समय अभिजित नक्षत्र के होते, एक बार जल में मत्स्य को देखकर बाण से उसे काट गिरा दिया, उस समय जय-जय शब्द के

साथ स्वर्ग में दुन्दुभि बजने लगी, हर्ष से विह्वल हुए देवता पुष्पों की वर्षा करने लगे ।।२५-२७।।

सुबोधिनी--ततः कृष्णः किं करिष्यतीति शङ्कां वारयितुं **भगवानित्याह लीलया च सज्जं** कृतवान् । अनेनादित आरभ्य स्वयमेव सर्वं कृतवान् न त्वन्यशेषः स्थापित इति ज्ञापितम् । **लीलया** मत्संतोषार्थम् । **तस्मिन् संधाय विशिखमिति** लौकिकन्यायेनैव मारितवानिति ज्ञापितम् । ततोर्जुनसंतोषार्थं **सकृन्मत्स्यं जले वीक्ष्य इषुणा छित्त्वा जलेऽपातयत्** । तस्मिन्नेव समये **अभिजिल्लग्नं** तेनैव सर्वे दोषाः परिहृता इति लौकिक एव प्रकार उक्तः । ततो भगवता सर्वजीवाशक्यं कृतमिति इदमेकं चरित्रं लोके समुत्पन्नमिति संतोषाद्दिवि **दुन्दुभयो नेदुः जयशब्दाश्च** । भूमावपि नरदुन्दुभयो जयशब्दाश्च । ततो देवानां भगवान् स्वोत्कर्षं प्रकटीकृतवान् । अतः परं दैत्यवधं करिष्यतीति संतोषाद्देवाश्चकारादन्येपि सिद्धादयः **कुसुमासारान् मुमुचुः हर्षेण विह्वलाश्च** जाताः ।।२५-२७।।

व्याख्यार्थ—ऐसे प्रसिद्ध योद्धा क्षत्रिय भी नहीं वेध सके तो कृष्ण क्या करेगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'भगवान्' हैं इसलिए लीला से ही तैयार कर लिया, यों कहने से यह बताया है कि आदि से अन्त तक जो क्रिया करनी होती है वह सब करली कुछ शेष न रखा, जो दूसरा आकर करे, लीला से अर्थात् खेल की तरह जो किया उसका कारण यह था कि मैं प्रसन्न हो जाऊं अन्यथा करते तो मुझे चिन्ता होती, 'तस्मिन् संधाय विशिखं' कहा जिसका तात्पर्य है कि लौकिक न्याय से ही मारा, पश्चात् अर्जुन के सन्तोष के लिए ही एक वार मत्स्य को जल में देख बाण से तोड़कर पानी में गिरा दिया, जिस समय भगवान् ने यह क्रिया की उस समय 'अभिजित्' लग्न था, उसने ही सब दोष नष्ट कर दिए. यों लौकिक प्रकार ही कहा, भगवान् ने वह कार्य किया जो जीव से नहीं हो सकता था, यह एक चरित्र लोक में हुआ तब इससे सन्तुष्ट हो स्वर्ग में दुन्दुभि बजने लगी और जय जय ध्वनि हुई, पृथ्वी पर मनुष्य दुन्दुभि बजाने लगे और जय जय शब्द करने लगे, पश्चात् भगवान् देवों में अपना उत्कर्ष प्रकट करने लगे । इसके बाद भगवान् दैत्यों का वध करेंगे, इस प्रकार संतोष होने से देवता और दूसरे सिद्ध आदि भी पुष्प वर्षा करने लगे, हर्ष से विह्वल हो गए ।।२५-२६-२७।।

आभास- ततः पणः सिद्ध इति मया वृत इत्याह **तद्रङ्गमाविशमहमिति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यों हो जाने से पिता का प्रण सिद्ध हो गया, इसलिए मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को वरण किया यह वृतान्त 'तद्रङ्गमाविषम्' दो श्लोकों में कहती है-

श्लोक—**तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां**
पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।
नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्र्ये
सव्रीडहासवदना कबरीधृतस्रक् । २८।।

श्लोकार्थ—कनक से मढ़ी हुई उज्ज्वल रत्नों की माला को हाथ में ले, मधुर शब्द ध्वनि करने वाले नूपुरों को धारण कर, नूतन दो पट्ट वस्त्रों में से एक पहन कर और एक को ऊपर से लपेट, केशपाश में फूलमाला बाँधकर, लज्जा और हास्ययुक्त मुख वाली मैं स्वयंवर की सभा में आई ।।२८।।

सुबोधिनी—आत्मानं वर्णयत्येकेन। द्वितीयेन स्वक्रियाम्। विषयाः पञ्चविधाः शब्दादयः पञ्चापि मयि सन्तीति पञ्च विशेषणानि। तादृशी **अहं तद्रङ्गस्थानं प्रविष्टा** यत्र विवाहोत्सवः। **कलनूपुराभ्यामिति** सशब्दान्याभरणानि निरूपितानि, एतादृशपद्भ्यामुपलक्षिता। **कनकोज्ज्वलरत्नमालामिति** रूपसंपत्तिर्निरूपिता। सा माला भगवतः कण्ठे देयेति स्वतुल्यतां निरूपयन्ती स्वस्यैव रूपातिशयं निरूपयति। ततः **कौशिकाग्रच** पट्टवस्त्रद्वयम्,एकं **निवीयोपरि** धृत्वा, अपरं **परिधाय**, **च**कारात् कञ्चुकवदपि कृत्वा, अनेन स्पर्शोत्कर्षो निरूपितः। **सव्रीडहासवदनेति** रसः। **व्रीडा** आन्तरभावसूचिका। **हासो** बहिर्मोहजनकरूपः। **कबर्यां धृताः स्रजो** ययेति गन्धः ।।२८।।

व्याख्यार्थ—इस एक श्लोक से अपना वर्णन करती है, दूसरे निम्न श्लोक से अपनी क्रिया कहेगी, शब्द आदि पांच विषय हैं, वे पाँच ही मुझमें हैं, इसलिए पांच विशेषण दिए हैं, जहां विवाह का उत्सव हो रहा था उस रङ्ग स्थान में मैंने प्रवेश किया। किस तरह और किस रूप में जिसका वर्णन करती है, मधुर झंकार करने वाले नूपरों को धारण किया था, इससे यह सूचन किया कि मैंने जो आभरण धारण किए थे वे मूक नहीं थे किन्तु मधुर ध्वनि करते थे, ऐसे आभरणों से युक्त मेरे चरण थे, जिनसे मेरी पहचान हो जाती थी। अपने रूप की सम्पत्ति दिखाते हुए कहती है कि मैंने कनक (सोने) से मढी हुई उज्जवल रत्नों की माला हस्त में ले ली थी, वह माला भगवान् के कण्ठ में डालनी थी, अपनी समानता दिखाती हुई अपने रूप की विशेषता निरूपण करती है, दो रेशमी वस्त्र एक शरीर पर पहना था और दूसरा उसके ऊपर लपेटा हुआ था, 'च' पद से यह भाव भी निकलता है कि वस्त्रों को कञ्चुकवत् भी कर लिया हो, इससे स्पर्श का उत्कर्ष कहा है। अब रस को प्रकट करने के लिए लज्जा तथा हास्य वाले मुख वाली मैंने लज्जा से भीतर के भाव को सूचित किया, हास से बाहर मोह को पैदा किया, और केशपाश में पुष्पमाला धारण की थी। ऐसी बनकर ही मैं सभा मण्डप में आई थी ।।२८।।

श्लोक—**उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-**
गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-
रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ।।२९।।

श्लोकार्थ—केश-भार व कुण्डलों की कान्ति से चमकते हुए कपोलों वाले मुख को ऊपर उठाकर, सर्व ताप को हरने वाले हासयुक्त कटाक्षों के विलासों से चारों ओर

धीरे-धीरे राजाओं को देखकर, श्रीकृष्ण में ही अनुरक्त चित्त वाली मैंने अपनी माला मुरारी के गले में डाली ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं सर्वगुणपूर्णा **मुरारेरंसे स्वमालां निदधे**। अग्रे रसशङ्काव्यावृत्त्यर्थं राज्ञां निरीक्षणं कृतवती **वक्त्रमुन्नीय**। वक्त्रस्योन्नयने हेतुः **उरुकुन्तलकुण्डलत्विड्गण्डस्थलमिति**। **उरुकुन्तला** यस्मिन्मुखे, तेन कुन्तलानां प्रतिबन्धव्यावृत्त्यर्थमुन्नयनम्। **कुण्डलत्विड्युक्तगण्डस्थलमिति** समदर्शने विद्युताहते इव नेत्रे कुण्डलकान्त्याघाताद् विषयदर्शने न समर्थे। अनेन प्रदर्शनार्थं मुखवर्णनापि कृता। किञ्च। यथा तेषां प्रतिघातकत्वं न भवति तथा दृष्टवती तदर्थमाह **शिशिरहासकटाक्षमोक्षैरिति**। **शिशिरः** सर्वतापहारी यो **हास**. उत्पन्न एव सर्वाह्लादकरः तत्सहिता ये **कटाक्षमोक्षाः** एकेन वशीकरणमपरेण हननमिति। आदौ दर्शनं न दोषाय। सर्वानेव **राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्दृष्टिं** प्रसारयन्ती तत्र भगवन्तं दृष्ट्वा तस्य **मुरारेरंसे अनुरक्तहृदया** सती मनोमालां दत्त्वा **स्वमालां** स्वप्रतिकृतिरूपां रत्नमालां च **अंसे निदधे** ॥२६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सब गुणों से पूर्ण ने मुरारी के गले में अपनी माला डाली, रस की शङ्का को मिटाने के लिए राजाओं को मुख उठाके देखने लगी, मुख उठाने का यह कारण था, कि मुख केश से ढका हुआ था उनको दूर करने के लिए मुख को ऊपर किया जिससे देखने का प्रतिबन्ध मिट गया, जैसे विद्युत सामने आवे तो नेत्र में चका चौंध होने से देखा नहीं जाता है, वैसे ही कुण्डलों की कान्ति से चमक रहे कपोलों के कारण भी नेत्र, उनको देखने में समर्थ न थे, इसलिए देख सके, तदर्थ मुख ऊपर उठाना और उनके नेत्रों के लक्षण कहे हैं कि 'शिशिरहास कटाक्ष मोक्षैः' सर्व के ताप को हरण करने वाला अथवा सर्व प्रकार के तापों को हरण करने वाला जो हास, उत्पन्न होते ही सर्वाह्लादकारी है, उस सहित जो कटाक्षों के मोक्ष, एक से वशीकरण और दूसरे से घायल करना, आदि क्रिया करती हुई, वरण से प्रथम अन्यों को देखना दोष नहीं है, सब ही राजाओं को देखती हुई चारों ओर धीरे धीरे दृष्टि फेंकती थी, जिससे वहां भगवान् के दर्शन हुए, दर्शन होते ही उस मुरारि के गले में, अनुरक्त हृदय वाली होते हुए मन रूप माला देकर, अपनी प्रति कृति रूप रत्नमाला डाली ॥२६॥

आभास-तन्मम वरणं सर्वसंमतं जातमिति ज्ञापयितुं तदानीमुत्सववाद्यान्याह **तावन्मृदङ्गपटहा** इति।

आभासार्थ—वह मेरा वरण सर्व संमत हुआ, यह जताने के लिए उस समय उत्सव और वाद्य हुआ वह तावन्मृदङ्गपटहा' श्लोक में कहती है—

श्लोक—तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानकादयः।
निनेदुर्नटनर्तक्यो ननृतुर्गायका जगुः ॥३०॥

श्लोकार्थ-इतने में मृदङ्ग, पटह, शङ्ख, भेरी और आनक आदि बजने लगे, नट और नटनियाँ नाचने लगीं, गाने वाले गान करने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी — पञ्चैतानि मङ्गलवाद्यानि नित्यानि । गीतवाद्यनृत्यानि वक्तव्यानीति वाद्यान्युक्त्वा नृत्यमाह **नटनर्तक्यो ननृतु**रिति । गानं चाह **गायकाश्च जगु**रिति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—ये पांच मङ्गल वाद्य नित्य हैं, उत्सव में गीत, वाद्य नृत्य ये तीन कहने चाहिए, वाद्यों को कहकर नृत्य कहती है, कि नट और नटनियाँ नाचने लगी और गान कहती है कि गाने वाले गान करने लगे । ३६।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **एवं वृते भगवतीति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं वृते' श्लोक में कहती है-

श्लोक—**एवं वृते भगवति मयेशे नृपयूथपाः ।**
न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धिनो हृच्छयार्दिताः ।।३१।।

श्लोकार्थ हे द्रौपदी ! इस प्रकार जब मैंने ईश भगवान् का वरण किया, तब ईर्षालु और काम से पीड़ित राजगण इसको न सह सके ।।३१।।

सुबोधिनी—भगवत्त्वात्सर्वसंपत्तिः ईशत्वादावश्यकः । अन्ये **नृपयूथपा** इति नृपाणां यूथपत्वं शूकरत्वं निरूपितम् । एकचरो हि सिंहः । यूथचरास्त इति तेषां वध्यत्वं निरूपितम् । ततो **न सेहिरे** । अनेन तेषामन्तःकरणदोषो निरूपितः । **याज्ञसेनी**ति विश्वासार्थं संबोधनम् । यज्ञरूपा सेना यस्य स यज्ञसेनः तस्य कन्या याज्ञसेनी । यज्ञादेवोत्पन्नेति । यतः **स्पर्धिनः** भगवता सह स्पर्धायुक्ताः । मदर्थं **हृच्छयेन** कामेनार्दिताः । एवमन्यकृतो दोषः स्वभावकृतश्च निरुक्तः ।।३१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् पने से सर्व सम्पत्ति रूप हैं, ईशपन से अवश्य वरण योग्य हैं । दूसरे राजा लोग तो शूकर सम थे, अकेला फिरने वाला ही सिंह है, जो यूथ बनाकर साथ में फिरते हैं, वैसे राजा तो मारने योग्य हैं यों निरूपण किया । शूकर सम होने से ही, मेरे वरण कार्य को सहन न कर सके । यों कहने से, उनके अन्तःकरण के दोष का निरूपण किया, 'याज्ञसेनी' संबोधन विश्वास करने के लिए ही दिया है यज्ञ रूप है सेना जिसकी, वह यज्ञसेन उसकी कन्या याज्ञसेनी, हे द्रौपदी इस यज्ञ से ही उत्पन्न हुई है, इसे भगवान् ले जाते हैं जिससे भगवान् से वे राजा ईर्षा करने लगे, मेरे लिए काम से पीड़ित होते थे, इस प्रकार दूसरों का दोष स्वभाव कृत है यों कहा ।।३१।।

आभास— ततो भगवता यत्कृतं तदाह **मां तावद्रथमारोप्येति** ।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् ने जो किया वह 'मां तावत्' श्लोक में कहती है-

श्लोक—**मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।**
शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ।।३२।।

श्लोकार्थ—भगवान् तो उसी क्षण रत्न रूप चार घोड़ों वाले रथ में मुझे बिठा

कर चारभुजा वाले भगवान् शार्ङ्ग धनुष ले, कवच (बख्तर) पहनकर लड़ाई के लिए तैयार हो गए ।।३२।।

सुबोधिनी - तावता कथं निस्तार इति शङ्कां वारयितुमाह **हयरत्नचतुष्टयमिति** ।
'स्यमन्तकः कौस्तुभश्च स्पर्शश्चिन्तामणिस्तथा ।
चत्वारो मणयः प्रोक्तास्तत्तुल्याः कृष्णवाजिनः'।।

ततः **शार्ङ्गमुद्यम्य** कवचेन **सन्नद्धः आजौ** संग्रामे **चतुर्भुजः** सन् **तस्थौ** ।
'साधनस्य च रक्षायाः क्रियायाः सर्वरूपतः ।
कालस्यापि स्वचेष्टायाः परिग्रह इहोदितः' ।।३२।।

व्याख्यार्थ—ऐसी अवस्था में छुटकारा कैसे हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए जैसे स्यमन्तक, कौस्तुभ, स्पर्श और चिन्तामणि ये चार उत्तम रत्न हैं वैसे ही भगवान् के चार अश्व समस्त घोड़ों में, रत्न समान उत्तम थे उन घोड़ों से युक्त रथ में मुझे बिठाकर, पश्चात् भगवान् शार्ङ्ग धनुष ले कवच धारण कर, चतुर्भुज हो, लड़ाई में लड़ने के लिए तैयार हुए ।

यहाँ साधन[1] रक्षा, क्रिया, अपनी चेष्टा रूप काल का भी सर्व रूप से भगवान् ने ग्रहण किया यह बताया है ।।३२।।

आभास—बिभीषिकार्थमेतत्परिगृहीतवान् न तु तेषां मारणार्थं तथा सति भूम्यर्थं मारणं न स्यात् । अत एव दारुकेण भगवत्प्रेरितेन रथो द्वारकायामेवे नीत इत्याह **दारुकश्चोदयामासेति** ।

आभासार्थ—भगवान् ने शार्ङ्ग का ग्रहण राजाओं को डराने के लिए ही किया, न कि उनके वध के लिए, वैसा होने पर भूमि के लिए मारना नहीं हो, अतएव भगवान् की प्रेरणा से दारुक रथ को द्वारका ले चला, यह निम्न श्लोक में कहा–

श्लोक—**दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।**
मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ।।३३।।

श्लोकार्थ—हे रानी द्रौपदी ! दारुक सारथी ने सुवर्ण से मँढ़े रथ को चलाया, तब जैसे हिरणों के देखते हुए सिंह चला जावे, वैसे ही भगवान् राजाओं के देखते हुए चले गए ।।३३।।

सुबोधिनी — **काञ्चनोपस्कर**त्वेन लघुता शीघ्रगमने बन्धनाभावश्च सूचितः । **मिषतां भूभुजामिति** तेषामपि क्रियाशक्तिः भगवतैव चतुर्भुजत्वेन स्वीकृतेति ज्ञानशक्तिरेवावशिष्टेति । **राज्ञीति** परिज्ञानार्थम् । किञ्च । ते रूपाद्याश्चर्येणैव व्यामोहिता इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **मृगाणां मिषतामेव** सतां यथा **मृगराड्** हरतीति। ।।३३।।

१- असि, चर्म, बाण और धनुष ये चार क्रम से कहे हैं,

व्याख्यार्थ—सुवर्ण में मंढे होने के कारण हलका था, जिससे शीघ्र चलने में कोई रुकावट न होना, सूचित किया, राजा देखते तथा भौंकते ही रहे, इससे उनकी भी क्रिया शक्ति कही, भगवान् ने चतुर्भुज धारण कर स्वीकृत ज्ञान शक्ति ही शेष रही, राज्ञी ! यह सम्बोधन पूरी तरह समझने के लिए दिया है और विशेष, वे रूपादि देख आश्चर्य से ही मोहित हो रहे थे, वह समझाने के लिए दृष्टान्त देती है कि जैसे हिरनों को देखते ही सिंह अपना भाग ले जाता है, वैसे ही भगवान् अपना भाग मुझको ले चले ॥३३॥

आभास— ये तु दूरे स्थिताः दर्शनानन्दं न प्राप्तवन्तः ते केचित् समागता इत्याह **तेऽन्वसज्जन्तेति** ।

आभासार्थ जो लोग दूर खड़े होने से दर्शन का आनन्द न ले सके, वे कितने ही आए, यों 'तेऽन्वसज्जन्त' श्लोक में कहती है-

श्लोक—**तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धुं पथि केचन ।**
संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—कितने ही राजा धनुष लेकर तैयार हो, जैसे सिंह को कुत्ते भौं-भौं करते हुए रोकने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं, वैसे वे राजा भी मार्ग में भगवान् को रोकने के लिए आगे आकर व्यर्थ चेष्टा करने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी – **केचन** मूर्खाः दूरे स्थिताः **अन्वसज्जन्त** भगवन्तमन्वसज्जन्त । पथि नयननिषेधं कर्तुं **पथि** भ्रान्ताः । **संयत्ताः** सावधानाः । **उद्धृतेष्वासाः** धनूंषि विस्फूर्ज्य । अनेन भगवत्तुल्यता सामग्र्या निरूपिता । तथापि शब्दमात्रता तेषु । अर्थस्तु भगवत्येवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **ग्रामसिंहा** इति । सिंहवाच्यतुल्यत्वेपि यथा ग्रामसिंहसिंहयोरन्तरम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—कितने ही मूर्ख दूर खड़े होकर भगवान् को मार्ग में कहने लगे, कि इसको मत ले जाओ, यों कहते हुए रास्ते में भ्रमण करते थे, सावधान थे, अतः धनुष तैयार कर लिए थे, इससे यह बताया कि जैसे भगवान् ने युद्ध के लिए धनुष लिया था वैसे ये भी युद्ध सामग्री धनुषादि लेकर तैयार थे, यों होते हुए भी इन्होंमें केवल बकवाद करने की ही शक्ति थी वास्तविकता भगवान् में ही है, यों जताने के लिए, दृष्टान्त दिया है सिंह नाम की बराबरी होते हुए भी जैसे ग्रामसिंह (कुत्ता) और सिंह (शेर) में भेद है वैसे ही यहां भी अन्तर है ॥३४॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैरिति ।**

आभासार्थ – पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'ते शार्ङ्गच्युत' श्लोक से कहा है-

श्लोक—**ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृत्तबाह्वङ्घ्रिकंधराः ।**
निपेतुः प्रधने केचिदेके संत्यज्य दुद्रुवुः ॥३५॥

श्लोकार्थ—शार्ङ्ग धनुष से निकले हुए बाणों से उनके हाथ, पाँव और गर्दनें कट गईं, तब कितने ही रण को छोड़ भाग गए ।।३५।।

सुबोधिनी—एकोपि **शार्ङ्गे** योजितः तस्माच् **च्युतश्चे**द्बाणौघतामापद्यते । अत एकेनैव बाणेन **कृत्तबाह्वङ्घ्रिकंधराः** षोढा छिन्ना भवन्ति । ततः **प्रधने निपेतुः । एके तु संत्यज्य दुद्रुवुरि**ति । प्राणमानयोश्छेदो निरूपितः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—शार्ङ्ग धनुष पर चढाया हुआ एक भी बाण जब उससे छूटता है तब बाणों का समूह बन जाता है, अतः एक ही बाण से बाहु, चरण और गर्दनों के कई प्रकार टुकड़े हो गए और वे रणभूमि में आकर गिरे कितने ही रणभूमि छोड़ भाग गए, इस प्रकार प्राण और मान दोनों का छेद (नाश) बताया ।।३५।।

आभास—ततः सभार्यस्य द्वारकाप्रवेशमाह **ततः पुरीमिति** ।

आभासार्थ—बाद में 'ततः पुरीं' श्लोक से स्त्री सहित द्वारका में प्रवेश कहा-

श्लोक— **ततः पुरीं यदुपतिरत्यलंकृतां**
रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।
कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां
समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ।।३६।।

श्लोकार्थ सूर्य को आच्छादन करने वाली, ध्वजा वाली और विचित्र तोरणों से अति अलंकृत, पृथ्वी और स्वर्ग में प्रशंसित हुई द्वारकापुरी में भगवान् ने यों प्रवेश किया, जैसे सूर्य सायंकाल को अपने गृह अस्ताचल में प्रवेश करता है ।।३६।।

सुबोधिनी—अयं विवाहः सर्वसंमत इति ज्ञापयितुं ततः यदुपुर्यामुत्सवो निरूप्यते । आदौ सर्वैव **पुरी अत्यलंकृता । रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणा** रविमपि छादयन्तीति ध्वजपटाश्चित्रतोरणानि च उपरि मध्ये च शोभा निरूपिता । अलंकरणं त्वधः लेपादिना । **कुशस्थलीमिति** स्थानस्य सर्वाभेद्यत्वं निरूपितम् । दैत्यसंबन्धेन निन्दितत्वमाशङ्क्याह **दिवि भुवि चाभिसंस्तुतामिति** । गुप्ततया प्रवेशं वारयति **तरणिरिवेति** । ।।३६।।

व्याख्यार्थ यह मेरा विवाह सर्व सम्मत था, यह जताने के लिए, यदुपुरी में जो उत्सव हुआ उसका निरूपण करती है, पहले तो समग्र द्वारकापुरी अति अलंकृत की गई थी, उसमें जो बड़ी बड़ी ध्वजाएं लगाई गई थीं वे सूर्य का भी आच्छादन कर रही थी तथा विचित्र अनेक तोरण लगाए गए थे, यों कहने से ऊपर और मध्य की शोभा का वर्णन किया, नीचे के भाग को भी लेपन आदि से अलंकृत किया था, द्वारका का नाम 'कुशस्थली' कह कर यह समझाया है कि यह ऐसा स्थान है जिसको कोई तोड़े नहीं सकता है, दैत्य के सम्बन्ध से तो निन्दित है, इस शङ्का को

मिटाने के लिए कहा है कि 'दिवि भुवि चाभिसंस्तुता' स्वर्ग तथा पृथ्वी, दोनों में चारों ओर प्रशंसित हुई है, छिपकर उसमें प्रवेश नहीं किया किन्तु सूर्य की तरह सबके देखते हुए प्रविष्ट हुए ।।३६।।

आभास—एवं स्वस्यान्तर्निर्वाहमुक्त्वा तत्र गत्वा पिता सर्वमेव विवाहयोग्यं कृतवानित्याह **पिता मे पूजयामासेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने विवाह का गृह पहुंचने तक का समाचार कह कर, वहां जाकर पिता ने विवाह के योग्य जो था वह सब कार्य किया, यह 'पिता मे' श्लोक से कहते हैं-

श्लोक—**पिता मे पूजयामास सुहृत्संबन्धिबान्धवान् ।**
महार्हवासोलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ।।३७।।

श्लोकार्थ मेरे पिता ने अमूल्य वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, आसन और अन्य उपकरणों से मित्र, सम्बन्धी व बान्धवों का सत्कार किया ।।३७।।

सुबोधिनी - **सुहृदादयो** भगवदीयाः । **महार्हा** अमूल्याः **वासः**प्रभृतयः । **शय्या आसनानि परिच्छदाश्च** गृहोपकरणानि ।।३७।।

व्याख्यार्थ—मित्र आदि सब भगवदीय थे, उनको अमूल्य वस्त्र आदि, शय्या, आसन और आभूषण आदि सामग्री अर्थात् गृह के योग्य बर्तन आदि सर्व दिए ।।३७।।

आभास—ततः पारिबर्हदानमाह **दासीभिरिति** ।

आभासार्थ—इसके बाद दहेज दिया जिसका वर्णन 'दासीभिः' श्लोक में करती है-

श्लोक—**दासीभिः सर्वसंपद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ।**
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ।।३८।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं पूर्ण हैं, उनको किसी प्रकार की कमी नहीं हैं, तो भी अपनी भक्ति दिखाने के लिए सर्व प्रकार के आभूषणों से सजी हुई दासियाँ, सकल सम्पदा, योद्धा, हाथी, रथ, घोड़े और सर्व प्रकार के आयुध मेरे पिता ने श्रीकृष्ण को अर्पण किए ।।३८।।

सुबोधिनी—**सर्वाः संपदो** यासु वस्त्राभरणरूपाद्याः । भगवदर्थमेव वा अन्याः संपदः । तथा **भटेभरथवाजिनश्च** सेनाङ्गानि । अमूल्यान्यायुधानि च दत्तवान् । तत्र प्रयोजनमाह **भक्तित** इति । हेत्वन्तरं वारयति **पूर्णस्येति** ।।३८।।

व्याख्यार्थ—वस्त्र आभरण आदि सर्व सम्पदाओं से युक्त दासियाँ, इनके सिवाय दूसरी सम्पदा भगवान् के लिए ही थी, योधा, हस्ति, रथ, घोड़े ये सेना के अङ्ग हैं, और अमूल्य आयुध भी दिए, क्यों दिए ? भक्ति के कारण दिए कारण कि वे पूर्ण हैं इसलिए भक्ति के सिवाय कोई दूसरा हेतु नहीं वे तो पूर्ण हैं उनको किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है ।।३८।।

आभास—कामनामाह **आत्मारामस्येति** ।

आभासार्थ—'आत्मारामस्य' श्लोक से 'कामना' कही है—

श्लोक—**आत्मारामस्य तस्येमा वयं च गृहदासिकाः ।**
सर्वसंगनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ।।३९।।

श्लोकार्थ—ये सब हम सर्व सङ्ग से निवृत्त हो, तप के प्रभाव से इन आत्माराम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र के घर की दासियाँ बनी हैं ।।३९।।

सुबोधिनी—सर्वाभिर्दास्यमुक्तं नोपपत्तिरिति स्वयमुपपत्तिं चाह आनीताः परं सर्वाः रमयति च । स्वयं त्वात्मन्येव रमते । अस्मिन्नर्थे प्रमाणं प्रसिद्धिस्तस्येति । **इमा** रुक्मिण्याद्याः । **वयमि**ति मुख्यतया निरूपिताः **च**कारादन्याश्च । सर्वा एव **गृहदासिकाः** भगवदर्थेनोपयुज्यन्त इति । इदमप्यत्यन्तदुर्लभमित्याह **सर्वसङ्गनिवृत्त्ये**ति । पूर्वजन्मनि सर्वसङ्गनिवृत्तिं कृत्वा **तपश्च** कृत्वा इमामवस्थां प्राप्ता इत्यर्थः ।।३९।।

व्याख्यार्थ—सबने दासीपन कहा किन्तु उसका हेतु देकर उसको सिद्ध नहीं किया, अतः स्वयं उपपत्ति देती है, सब लाई हुई हैं पर सर्व को रमाते हैं, स्वयं तो आत्मा में ही रमण करते हैं, 'तस्य' पद कहने से यह बताया है कि, वे आत्मा में ही रमते हैं यह प्रसिद्ध ही है 'इमाः' पद से रुक्मिणी आदि का कथन किया है 'वयं' पद से अपनी मुख्यता निरूपण की है, 'च' पद से दूसरियों का भी निर्देश किया है सब हम गृहदासियाँ भगवान् के गृह कार्य आदि के लिए ही जन्मी हैं यों होना भी अत्यन्त दुर्लभ है किन्तु हमको यह लाभ मिला है जिसका कारण है कि हम सब ने पूर्व जन्म में सर्व सङ्ग का त्याग कर, इसकी प्राप्ति के लिए तप किया है, जिसका यह फल है ।।३९।।

आभास—महिष्यः एकभावापन्नाः रोहिणीप्रमुखाः स्ववृत्तान्तमाहुः **भौमं निहत्येति** ।

आभासार्थ—सर्व रानियां एक भाव को प्राप्त होकर प्रमुख रोहिणी अपना वृत्तान्त 'भौमं निहत्य' श्लोक में कहती है-

श्लोक—महिष्य ऊचुः—**भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा**
ज्ञात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।

निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्तीः
पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ।।४०।।

श्लोकार्थ—रानियाँ कहने लगीं कि नरकासुर ने दिग्विजय में जिन हम राजकन्याओं को जीत रोक रखा था, उन्हें भवसागर से छुड़ाने वाले प्रभु (आप) के चरणारविन्द का स्मरण करती हुई जानकर श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं पूर्ण काम होते हुए भी समर में नरकासुर और उसके परिवार को मार हमारा पाणिग्रहण किया ।।४०।।

सुबोधिनी—**सगणं** सेवकसहितं तद्रक्षकदेवसहितं वा । **युधीति** न चौर्यादिना तद्वधः । ततः **तेन रुद्धा नः** अस्मान् **ज्ञात्वा निर्मुच्य पादाम्बुजं स्मरन्तीः परिणिनायेति** संबन्धः । अथ भिन्नप्रक्रमेण **निर्मुच्येति** संसाराद्देहात् चिन्तातश्च मोचनं निरूपितम् । तासां निरोधहेतुमाह **क्षितिजये ये जिता राजानस्तेषां कन्या** इति । भगवतो देहेन निर्मोचनं किमाश्चर्यम् । यस्य **पादाम्बुजं संसृतिविमोक्षं** संसृतेरपि मोक्षो यस्मादिति चेद्वयं स्मरामः तदास्माकं का चिन्तेति साधनं निरूपितम् । अत एव **परिणिनाय** । स्वार्थतां वारयन्ति **य आप्तकाम** इति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—'सगणं' सेवक सहित अथवा उसके रक्षक देवसमेत लड़ाई में मारा न कि छिप कर वध किया, पश्चात् उसने हमको रोक रखा है, यह जान, कि हम आपके चरणार्विन्दों का स्मरण कर रही हैं अतः वहाँ से छुड़ाकर पाणिग्रहण किया 'अथ' पद से 'निर्मुच्य' पद का भावार्थ दूसरी तरह का प्रकट करते हैं कि संसार से अर्थात् देह से और चिन्ता से छुड़ाकर पाणिग्रहण किया। उनके निरोध का हेतु कहती हैं, पृथ्वी को जीतने के समय जिन राजाओं को जीता उनकी हम कन्याएँ हैं, इसलिए हमको बन्धन में डाल सका, भगवान् देह से छुड़ावें इसमें क्या आश्चर्य है ? जिनका चरणार्विन्द इस संसार से छुड़ाकर मोक्ष दे सकता है, जब हम उसका स्मरण कर रहो थी तो हमको काहे की चिन्ता ? इस प्रकार छूटने का साधन कहा अतएव पाणिग्रहण हुआ, इसमें भगवान् का स्वार्थ होगा जिसका निवारण करती हैं कि वे तो पूर्ण काम हैं अतः उनका कोई स्वार्थ नहीं है ।।४०।।

आभास—स्वस्य कामनामाहुस्त्रिभिः **न वयमिति** ।

आभासार्थ - अपनी कामनाओं को 'न वयं' से लेकर तीन श्लोकों से निरूपण करती हैं—

श्लोक—**न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।**
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे साध्वी ! हम न तो चक्रवर्तीपन की, आत्मारामपन की, सायुज्य की, ब्रह्माण्ड के आधिपत्य की वा मोक्ष की इच्छा करती हैं, इनको छोड़कर अन्य किसी भोग की इच्छा नहीं है ।।४१।।

सुबोधिनी हे **साध्वीति** संबोधनं मात्सर्य-कटाक्षाभावाय। **साम्राज्यं** सार्वभौमम्। **स्वाराज्यम**ात्मारामता, अनेन सर्वदुःखाभावो निरूपितः। **अपीति** सर्वभोगा विद्यादयोपि संगृहीताः। **उत** पुन**र्भोज्यं** इदानीं तु भगवता सह भोज्यं कामयामह एव। **वैराज्यं** ब्रह्माण्डरूपत्वम्। **पारमेष्ठ्यं** ब्रह्माण्डाधिपत्यम्। **वे**त्यनादरे। **आनन्त्यं** मोक्षः। **हरेः पदं** सायुज्यादि ॥४१॥

व्याख्यार्थ—हे साध्वी! द्रौपदी को इस सम्बोधन से यह सूचित किया है कि मात्सर्य वा कटाक्ष से हम नहीं कहती हैं, चक्रवर्तीपन, आत्मारामता, इससे सर्व दुःख का अभाव निरूपण किया, अपि शब्द से सर्व प्रकार के भोग, विद्या आदि भी कहे अब तो भगवान् के साथ ही भोज्य की कामना है, ब्रह्माण्ड के आधिपत्य की और ब्रह्माण्डरूपपन की कामना नहीं है, 'वा' अनादर अर्थ में दिया है अतः मोक्ष सायुज्यादि में भी आदर नहीं है ॥४१॥

आभास—एवं लोकसिद्धानि फलान्यनूद्य निषेधन्ति **कामयामह** इति।

आभासार्थ—इसी प्रकार लोक प्रसिद्ध कामनाओं को कहकर, वे नहीं चाहिए यों 'कामयामह' श्लोक में कहती हैं-

श्लोक—**कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।**
कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥४२॥

श्लोकार्थ—किन्तु हम तो लक्ष्मी के कुच-कुंकुम की सुगन्धी वाले इन भगवान् गदाधारी के सर्वोत्तम चरण रज को मस्तक पर धारण करना चाहती हैं ॥४२॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तान् न कामयामहे। अग्रिमं तु **कामयामहे**। तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह **एतस्य** भगवतः **श्री**युक्तचरण**रजः**। तद्रजो वर्णयन्ति **श्रियः कुचकुङ्कुम**गन्धा**ढ्यमि**ति। तर्हि यथा श्रीः स्ववक्षसि चरणस्थापनं कामयते एवं किं भवतीभिरपीति चेत् तत्राह **मूर्ध्ना वोढुमि**ति। नन्वेतदसंगतं प्रतिभाति चरणश्चेन्मूर्ध्नि तिष्ठति तदा तद्रजो निरन्तरं तिष्ठति। स विषमे कथं तिष्ठेदित्याशङ्क्याह **गदाभृत** इति। अस्मासु चेत्किंचिन्न कर्तव्यं तदा गदामवलम्ब्य स्थास्यति। इतरथा गदया समं करिष्यतीति वा भावः। स हि कठिनेपि तिष्ठतीति ज्ञापनार्थं वा यथा ब्रह्मशिलायां स्थितः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—उपर कहे हुए सबको हम नहीं चाहती हैं, आगे जो कहनी हूं उनको चाहती हैं. वह क्या चाहती हो इस आकांक्षा में कहती है कि हम इन भगवान् की लक्ष्मी युक्त चरण रज को चाहती हैं, उस रज का वर्णन करती हैं कि वह रज, लक्ष्मीजी के कुच की जो केसर है उसकी गन्ध से युक्त है अतः उसको हम चाहती हैं। तो क्या जैसे लक्ष्मी अपनी छाती पर, चरण स्थापना की कामना करती हैं, वैसे ही क्या आप भी चाहती हैं? जिसके उत्तर में कहती हैं कि हम तो इस रज को मस्तक पर धारण करना चाहती हैं. यह आपकी मांग, असंगत भासती है, क्योंकि यदि चरण मस्तक पर रहे तो उसको रज सदैव मस्तक पर रहेगी वह विषम स्थान पर कैसे स्थित रहेगी? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहती हैं कि 'गदाभृत' उसको मस्तक पर धरो

रहने के लिए हम कुछ न कर सकेंगे, तो भी स्वामी आप गदा लेकर खड़े रहेंगे, अन्य प्रकार गदा से सम कर देंगे, यों भाव है वह कठिन स्थान पर भी स्थित रहते हैं, जैसे ब्रह्मशिला पर स्थित है ॥४२॥

आभास—ननु कामनाश्चेत्त्यक्तव्याः सर्वा एव त्यक्तव्याः किं रजःकामनया इत्याशङ्क्याह **व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्तीति** ।

आभासार्थ—यदि कामनाओं का त्याग किया है तो सब का त्याग करो रज की कामना से क्या ? इस शङ्का का उत्तर 'व्रजस्त्रियो' श्लोक में देती है–

श्लोक - **व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।**
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जैसे गौ चराते हुए गोप भगवान् के पाद स्पर्श को, गोपियाँ, भीलनियाँ, तृण और लताएँ उनकी चरण रज को चाहती हैं, वैसे ही हम भी उसे चाहती हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—तदेव सर्वोत्तममिति ज्ञातव्यं यं नीचोपि लोकः प्रसिद्धं परित्यज्य चेद्वाञ्छति । यथात्यन्तं क्षुधितः प्राप्तमपि भोजनं परित्यज्य यद्यन्यद्वाञ्छेत् तदा तद्भोजनादुत्तममित्यध्यवसेयम् । तृप्तश्चेद्वाञ्छति तदा नैवमतो नीचान्नीचमेव दृष्टान्तीकुर्वन्ति । **व्रजस्त्रियो** हि लोकोत्कृष्टं न दृष्टवत्य इति कदाचिदैन्द्रपदं वाञ्छेयुः तेदि चेत्तत्परित्यज्य रज एव **वाञ्छन्ति** । ततः **पुलिन्द्योपि** ततो नीचाः तथा **तृणवीरुधोपि** 'आसामहो चरणरेणुजुषाम्' इति वाक्ये निरूपितम् । तथा **गावोपि** वाञ्छन्ति ता एव **चारयतो** भगवतः स्वयं तुल्या अपि **गोपाः पादस्पर्शमेव वाञ्छन्ति** । कात्रोपपत्तिरिति चेत् तत्राह **महात्मन** इति । महानेवात्मा इत्थंभूतानुभाव इत्यर्थः। युक्तिस्तु पूर्वमेवोक्ता । भगवदीयशरीरं तेनैव भवतीति 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' इति च ॥४३॥

व्याख्यार्थ—उस वस्तु को ही सर्वोत्तम समझना चाहिए, जिसको, नीच लोक भी प्रसिद्ध सुखवाली वस्तु का त्याग कर चाहते हो, जैसे बिलकुल भूखा मिले हुए भोजन का त्याग कर, यदि दूसरे की चाहना करे तो समझना चाहिए कि वह दूसरी वस्तु इस भोजन से उत्तम है । जो तृप्त है वह यदि भोजन का त्याग कर दूसरी वस्तु की चाहना करे तो यों नहीं समझना कि वह दूसरी उत्तम होगी । अतः नीची से नीची श्रेणी(दर्जे) के मनुष्य व पदार्थ का दृष्टान्त देती हैं–व्रज की स्त्रियां, जिन्होंने कभी उत्कृष्ट लोक देखा ही नहीं वे कदाचित् स्वर्ग पद की मांग करे, किन्तु यदि वे भी उसका त्याग कर 'रज' की ही चाहना करती हैं, उनसे भी पुलिन्दियां कम दर्जे की हैं, वैसे ही तृण और लताएँ भी 'अहोचरणरेणुजुषाम्' में रज की ही कामना करती हैं, वैसे ही गायें भी रज को चाहती हैं, विशेष क्या कहें भगवान् के समान गोप भी पाद स्पर्श ही चाहते हैं, इसमें उपपत्ति[1] क्या

१– हेतुपूर्वक युक्ति

है ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि ये चरण रज जो हम माँग रही हैं वे महान् आत्मा की है, वे ऐसे प्रभाव वाले हैं युक्ति तो पहले कही है, यह शरीर इस रजस्पर्श से ही भगवदीय होता है, भगवदीय होने पर ही सब अर्थ परिपूर्ण हो जाते हैं, बाद में कोई अर्थ नहीं रहता है ।।४३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चतुस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ।।३४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८०वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३४वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का षष्ठम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का संक्षिप्त सार भक्त शिरोमणि श्री सूरदासजी के निम्न पद में अवलोकन करें ।

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरौ दिन रात । नातरु जन्म अकारथ जात ।
सौ बातन की एकै बात । हरि हरि हरि सुमिरौ दिन रात ।।
हरि कुरुखेत अन्हान सिधाए । तब सब भूपति दरसन आए ।
हरि तिन सबकौ आदर कियौ । भयौ संतुष्ट सबनि को हियौ ।।
तब भूपति हरि को सिर नाइ । करन लगे अस्तुति या भाइ ।।
परमहंस तुम सबके ईस । वचन तुम्हारे सुनि जगदीश ।
तुम अच्युत अविगत अविनासी । परमानंद सकल सुख-रासी ।।
तुम तन धारि हरयौ भुव भार । नमो-नमो तुम्हे बारंबार ।
गुनि रानि रानिनि पै आई । द्रुपद-सुता तब बात चलाई ।।
ज्यौं ज्यौं भयौ तुम्हारौ ब्याह । कहो सुनन कौ मोहिं उत्साह ।
कह्यौ सबनि हरि अज अबिनासी । भक्त-बछल सब जगत निवासी ।।
नहिँ हम गुन, नहिँ सुन्दरताई । भक्ति जानिकै सब अपनाई ।
ब्याह सबनि कौ ज्यौं ज्यौं भयौ । बहुरौ तिन त्यौं ही त्यौं कह्यौ ।।
द्रुपद-सुता सुनि मन हरषाई । कह्यौ धन्य तुम धनि जदुराई ।
धन्य सकल पटरानी रानी । जिन वर पायौ सारँग पानी ।।
धन्य जो हरि-गुन अह-निसि गावै । सूरदास तिहि की रज पावै ।।

卐

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८४वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८१वां अध्याय
उत्तरार्ध ३५वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—७"

वसुदेवजी का यज्ञोत्सव

कारिका—पञ्चत्रिंशे सात्त्विकानां फलोत्कर्षो निरूप्यते ।
सम्मानसंग्रहौ चैव ऋणापाकरणं तथा ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३५वें अध्याय, सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण के ७वें अध्याय में सात्त्विकों के फलोत्कर्ष[1] का निरूपण किया जाता है तथा ऋषियों का सम्मान, यज्ञ के लिए उनको बुलाना तथा ऋण से वसुदेवजी का छूटना कहा जाता है ॥१॥

कारिका—निरुद्धानां हि लोकेस्मिन् दुर्लभं चेति रूप्यते ।
तदीयत्वं फलं नान्यदिति चोक्तं समासतः ॥२॥

१- तदीयत्वरूप फल का उत्कर्ष

कारिकार्थ—तदीयत्व[1] पूर्व कहा है, फिर कहने का कारण यह है कि इस लोक में लौकिक कामों से बद्ध है, उन निरुद्धों का तदीयत्व होना दुर्लभ है, किन्तु 'च' पद से कहते हैं कि भगवत्कृपा से सुलभ भी होता है। फल तो तदीयत्व होना ही है, अन्य कोई फल नहीं है, इसलिए ही समास से कहा है ॥२॥

कारिका—**आत्मीयानां निरोधं हि हरिरत्र करोति हि ।**
अतः फलं पूर्वमेव सिद्धरीत्या तु बोध्यते ॥३॥

कारिकार्थ—हरि इस स्कन्ध में आत्मियों का ही निरोध करते हैं कारण कि इस स्कन्ध का अर्थ ही 'निरोध' है, अतः मुख्यपन से वह ही करना है, इसलिए यहाँ तदीयत्वरूप फल अनुवाद (सिद्ध) रीति से समझाया जाता है ॥३॥

कारिका—**अद्भुता भगवल्लीला निरोधः फलसूचकः ।**
फलं तु फलतासिद्ध्यै किमाश्चर्यमतः परम् ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् की लीला ही अद्भुत है, निरोध तो फल का सूचक है, यहाँ जो फलप्राप्ति है, वह निरोधरूप अर्थात् तदीयत्वरूप फल की ही सफलता है, न कि ऋषियों के सम्मान अथवा ऋणापाकरण से सफलता है ॥४॥

॥ इति श्री कारिका ॥

आभास—पूर्वाध्याये भगवतः स्वीयकरणलीला सर्वापि निरूपिता, दृष्टा अदृष्टा च, दृष्टा भगवत्कृतिः, अदृष्टं चरणरज इति, उभयोः संपत्तौ भगवदीयत्वं सेत्स्यति अतस्तासां स्त्रीणामत्याश्चर्यं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा भगवति स्नेहानुबन्ध आश्चर्यं च जातमित्याह श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में भगवान् की स्वीयकरण (भक्त को अपना करलेने की) लीला का पूर्ण रूप से निरूपण हुआ, वह दो प्रकार की थी, एक दृष्ट दूसरी अदृष्ट, दृष्ट लीला भगवत्कार्य और अदृष्ट लीला चरण रज दोनों की सम्पत्ति होने पर भगवदीयत्व होगा, अतः उन स्त्रियों का अतिशय आश्चर्य कारक भगवान् का चरित्र सुन भगवान् में स्नेहानुबन्ध हुआ, यह आश्चर्य निम्न श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं—

१- भगवदीयत्व

श्लोक—श्रीशुक उवाच-श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी
माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं
सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि कुन्ती, द्रौपदी, गान्धारी, सुभद्रा, राजाओं की स्त्रियाँ और भक्त गोपियाँ ये सब इस प्रकार भगवान् की स्त्रियों का, सर्व की आत्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में स्नेहानुबन्ध का चरित्र सुनकर बहुत विस्मित हुई और उनके नेत्र आँसूओं से भर गए ।।१।।

सुबोधिनी—द्रौपदी प्रसङ्गं परं कृतवती । उपविष्टास्तु श्रवणार्थं सर्वा एव । अतो मुख्याः नामत उच्चार्यन्ते । **सुबलपुत्री** गान्धारी । **याज्ञसेनी** द्रौपदी । **माधवी** सुभद्रा । **अथ क्षितिपपत्न्यः** इतरराजस्त्रियः । **उत स्वगोप्यश्च** । अथद्वयमुतेति च स्त्रीणां चतुर्विधत्वमुपपादयति । सात्त्विक्यो राजस्यः तामस्यो निर्गुणाश्चेति । एताः सर्वा एव **कृष्णे** परमानन्दे सर्वेषामात्मभूते सर्वदोषनिवर्त्तके **प्रणयः** स्नेह एव **अनुबन्धो** यासाम् । भगवत्पत्नीनां तु विवाहादिरूपो बाह्योऽपि संबन्धोऽस्ति । अस्माकं तु साक्षात्संबन्धः प्रणय एव । अतः कथं भगवदीया भविष्याम इति । कथं चेयमवस्था च भविष्यतीति **सर्वा** एव विस्मयं प्राप्ताः । **स्मेति** प्रसिद्धे । कदाचिद्विस्मयो बाह्योपि भवतीति क्रियान्तरमप्याह **अश्रुकलाकुलाक्ष्य** इति । अश्रूणां कलाभिः आकुलानि अक्षीणि यासां । कलाशब्द शोकं वारयति । आकुलत्वं ज्ञानक्रियायाः व्यापृतत्वं बोधयति ।।१।।

व्याख्यार्थ—द्रौपदी वह प्रसङ्ग कहने लगी जिसे सुनने के लिए सब ही बैठ गई अतः जो मुख्य थीं उनके नाम लिए जाते हैं, गान्धारी, द्रौपदी सुभद्रा और दूसरे राजाओं की स्त्रियाँ तथा अपनी गोपियाँ, 'अथ' दो बार और 'उत' इन पदों से स्त्रियों का चार प्रकार से प्रतिपादन करते हैं सात्विक राजसी, तामसी और निर्गुण, ये सब ही सर्व की आत्मा, सर्व दोष हरण करने वाले परमानन्द रूप श्रीकृष्णचन्द्र में स्नेह से अनुबन्ध वाली थीं, भगवान् की विवाहित स्त्रियों का तो बाह्य सम्बन्ध भी है, हमारा तो साक्षात् सम्बन्ध प्रणय ही है, अतः भगवदीय कैसे बनूंगी ? और ऐसी अवस्था कैसे होगी ? यों सुनकर सब विस्मित हो गई 'स्म' अव्यय पद प्रसिद्धि अर्थ में दिया है। कदाचित् विस्मय केवल बहार दिखाने का ही हो, इस पर कहते हैं कि नहीं, केवल बाहर का नहीं था किन्तु आन्तर का भी था जिसमे उनके नेत्र आसुओं से व्याकुल हो गए। 'कल' शब्द से यह सूचित किया है कि ये आँसू शोक के नहीं थे, आकुलपन बताता है कि ज्ञान क्रिया से वे व्यापृत हो गई थीं ।।१।।

आभास – एवं पूर्वोक्तसाधनस्य फलाकाङ्क्षां निरूप्य भगवानेव फलमिति ज्ञापयितुं साधनानामेतच्छेषत्वं प्रतिपादयन् मुनीनामागमनमाह **इत्थं संभाषमाणास्विति** ।

आभासार्थ - इसी तरह पूर्व कहे हुए साधन के फल की आकांक्षा का निरूपण कर भगवान्

ही फल हैं यह जताने के लिये यह साधनों का भगवत् शेषत्व[1] है यों प्रतिपादन करते हुए मुनियों का आगमन 'इत्थं सभाषमाणासु' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**इत्थं संभाषमाणासु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु।**
आययुर्मुनयस्तत्र रामकृष्णदिदृक्षया ॥२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के साथ स्त्रियाँ, पुरुषों के साथ पुरुष बातें कर रहे थे, वहाँ राम और कृष्ण के दर्शन के लिए मुनि आ गए ॥२॥

सुबोधिनी- **स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु** सर्वेषामेव भगवत्संबन्धिनां भगवत्परता निरूपिता भवति। येन संमर्देपि मुनीनामागमनं न विरुध्येत। अत एव तत्र **मुनयः आययुः**। यत्रैव यस्याभीष्टं फलं तत्रैव तस्यागमनम्। अतो **रामकृष्णावत्र** वर्तेते इति **तद्दिदृक्षया** मननेन ज्ञात्वा मननं साधनमपि परित्यज्य समागता इत्यर्थः। इदानीं बाह्यक्रिययैव प्राप्यत इति भावः ॥२॥

व्याख्यार्थ--स्त्रियाँ परस्पर, पुरुष भी आपस में भगवत्सम्बन्धी वार्तालाप कर रहे थे, जिससे सब स्त्री पुरुषों की भगवत्परायणता दिखाई है जिससे इस बात चीत करने के समय में भी मुनियों का आना विरोधी नहीं है, अतएव मुनि लोग वहाँ आए, जहाँ ही जिसका अभीष्ट फल होता है वहाँ ही उसका आना होता है, अतः राम कृष्ण यहाँ विराजते हैं, यह मन से जान इनके दर्शन की इच्छा से मनन रूप साधन करना भी त्याग कर आगए, अब बाह्य क्रिया से ही मिलते हैं यह भाव है ॥२॥

आभास– तान् गणयति **द्वैपायन** इति त्रिभिः।

आभासार्थ--उन मुनियों की 'द्वैपायन' इन तीन श्लोकों से गणना करते हैं–

श्लोक—**द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः।**
विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥३॥
रामः सशिष्यो भगवान्वसिष्ठो गालवो भृगुः।
पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥४॥
द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः।
अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥५॥

श्लोकार्थ—वेदव्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, शिष्यों के साथ भगवान् परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्मा के पुत्र, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेव आदि अन्य ऋषि भी आए ॥३–५॥

१-- इससे सिद्ध किया है कि भगवान् ही फल रूप हैं

सुबोधिनी—अत्रापि सात्त्विकादिभेदाः । **गौतमान्ता** नव सात्त्विकाः । तत्रापि भेदत्रयम् । उत्तमौ द्वौ, मध्यमाः षट्, एकश्चापर इति । **रामादयो**ऽपि नव राजसाः । **रामः** परशुरामः स भगवानेव तथापि तच्छिष्यास्तत्स्थानीयाः । यां लीलां प्रकाशयति सा निरूप्यते । द्वितादयो बहव एव । ब्रह्मपुत्रः **पुलहः** । अङ्गिरसो वा विशेषणम् । एते प्रकारनिरूपकाः ॥३-५॥

व्याख्यार्थ--यहाँ मुनियों में) भी सात्विक आदि भेद हैं, गौतम तक नव मुनि सात्विक हैं, उनमें भी तीन भेद हैं । दो उत्तम हैं, छ मध्यम हैं, एक साधारण है । राम आदि नव राजस हैं, राम से परशुराम समझना, वह भगवान् ही हैं तो भी उनके शिष्य मुनियों के समान है, जो लीला प्रगट करते हैं वह निरूपण की जाती हैं, द्वित आदि बहुत हैं ब्रह्मपुत्र पुलह हैं वा अङ्गिरस का विशेषण हैं । इस प्रकार निरूपण हैं ॥३-४-५॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **तान् दृष्ट्वे**ति ।

आभासार्थ--बाद में जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'तान् दृष्ट्वा' श्लोक में करते हैं-

श्लोक—**तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।**
पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणेमुर्विश्ववन्दितान् ॥६॥

श्लोकार्थ पहले ही स्थित पाण्डव, कृष्ण, राम और राजादिक, सब विश्व में नमन करने योग्य, उन ऋषियों को देख, सहसा उठकर, प्रणाम करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—लोके तद्गुणाः प्रसिद्धा इति तेषां बुद्धिमनुसृत्य व्यवहारं वा समाश्रित्य सन्माननां कुर्वन्ति सर्व एव । **सहसोत्थाये**ति । अत्रापि भेदत्रयं साधारणाः भक्ताः भगवांश्चेति । तत्र सर्व एव **प्रणेमुः** । तत्र हेतु**र्विश्ववन्दितानि**ति ॥६॥

व्याख्यार्थ--लोक में उन ऋषियों के गुण प्रसिद्ध थे, यों उनकी बुद्धि का अनुसरण कर, अथवा व्यवहार का आश्रयकर सब ही उनका सन्मान करने लगे, कैसे करने लगे? वह प्रकार बताते हैं । उनको देखते ही सब झट पट उठ खड़े हो गए इसमें भी तीन भेद हैं, १- साधारण २- भक्त और ३- भगवान् सबं ने प्रणाम किया क्योंकि वे ऋषि विश्व में वन्दन योग्य हैं ॥६॥

श्लोक—**तानानर्चुर्यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।**
स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥७॥

श्लोकार्थ—सब लोगों ने और राम सहित भगवान् ने इनका आसन, पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, धूप और चन्दन से स्वागत किया ॥७॥

सुबोधिनी—ततस्तानानर्चुः । **यथा** यथावत् । **सर्व एव** । यथा वा लोकस्थाः **सर्वे** भगवन्मार्गानभिज्ञास्तथाऽभिज्ञा **अप्यानर्चु**रित्यर्थः । यदि भगवान् न पूजयेत् तदा द्वैविध्यमापद्येतेति

सहराम: अच्युतोऽप्यर्चयत् । आर्चयदिति सन्धि-रार्षः । अडागमाभावो वा । अर्चनाप्रकारमाह **स्वागतासनेति** ॥७॥

व्याख्यार्थ--पश्चात् उनका पूजन, जैसा योग्य था वैसा सब ही करने लगे अथवा जैसे भी लोक में स्थित थे अर्थात् भगवन्मार्ग को जानने वाले या न जानने वाले, सबने पूजन किया जो भगवान् पूजन न करें तो दुविधा हो जाय इसलिये राम सहित भगवान् ने भी पूजन किया । जहाँ आर्चयत्' पाठ हो वहाँ समझना चाहिए कि यह 'आर्ष' सन्धि है । अथवा अट् का आगम नहीं हुवा है, पूजा का प्रकार 'स्वागतासन' से कहा है ॥६॥

आभास—स्तोत्राभावे कायिकं सर्वं नटवद्भवतीति स्तुतिमाह **उवाच सुखमासीनानिति** ।

आभासार्थ--यदि स्तुति न की जावे तो अन्य पूजा आदि केवल नाटक देखने में आवे अर्थात् दिखावा मात्र है इसलिए 'उवाच' श्लोक में स्तुति कहते है-

श्लोक—**उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुब् विभुः ।**
सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुश्रृण्वतः ॥८॥

श्लोकार्थ— धर्मरक्षार्थ प्रगट विभु भगवान् मौन धारण कर बैठी हुई सभा जब सुनने के लिए तैयार हो गई, तब सुखपूर्वक विराजमान ऋषियों को कहने लगे ॥८॥

सुबोधिनी--यतो **भगवान्** कर्तव्यं जानाति । भगवतोऽपि तादृशकथने हेतुः **धर्मगुबिति** । तावतापि न काचित्क्षतिरिति **विभुरिति** । धर्मगुप्तनुरिति पाठे धर्मरक्षार्थमेव तनुर्यस्येति । मुनिस्तोत्रादिकमपि अवतारकार्यमेवेति सूचितम् । यस्मिन् स्थाने स्तोत्रे कृते लोकप्रसिद्धिर्भवति तादृशमिदं स्थानमिति ज्ञापयितुमाह **सदसस्तस्य श्रृण्वत** इति । **महत** इति माहात्म्यं प्रकृतोपयोगि । **यतवाच** इति सावधानता च तथा ॥८॥

व्याख्यार्थ--अब क्या करना चाहिए, इसको श्रीकृष्ण जानते हैं क्योंकि भगवान् हैं, भगवान् होकर भी ऋषियों की स्तुति क्यों करने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'धर्मगुब्' विशेषण दिया है और आप 'विभु' हैं अतः यों स्तुति करने में भी किसी प्रकार क्षति नहीं है, कहाँ 'धर्मगुप्तनुः' पाठ है, उसका अर्थ यों करना कि धर्म की रक्षा के लिए ही शरीर धारण किया है, मुनियों की स्तुति करना भी अवतार का ही कार्य है, यों सूचित किया, जिस स्थान पर स्तुति करने पर लोक में प्रसिद्धि हो वैसा यह स्थान है यह जताने के लिए कहते हैं कि, वाणी को रोक सावधान हो सब सदस्य सुनने लगे, कारण कि यह स्तुति महतो (महान्) है और स्तुति प्रकृत विषय के उपयोगी है ।८॥

कारिका—**पञ्चभिर्भगवानाह स्तोत्रं तेषां महात्मनाम् ।**
तन्मुखान्निर्णयं वक्तुं पूर्वपक्षोक्तिरूपतः ॥८॥

कारिकार्थ—उन महात्माओं की स्तुति भगवान् पाँच श्लोकों से करते हैं, किन्तु उनके मुख से निर्णय कहलाने के लिए पूर्व पक्ष रूप यह स्तुति है ।।८।।

आभास—आदौ भगवान् तेषां दर्शनं स्तौति **अहो वयमिति** ।

आभासार्थ—प्रथम भगवान् उनके दर्शन की प्रशंसा 'अहो वयं' श्लोक में करते हैं-

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-**अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलम् ।**
देवानामपि दुःप्रापं यद्योगेश्वरदर्शनम् ।।९।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा-अहो ! आज हमारा जन्म सार्थक हुआ, जन्म लेने का फल सम्पूर्ण रीति से मिला; क्योंकि देवों को भी आप योगेश्वरों के दर्शन दुर्लभ हैं, वह मिला ।।९।।

सुबोधिनी—**अहो** इत्याश्चर्ये । **वयमिति** श्लाघायाम् । **जन्मभृतो वयमेव** सफलजन्मान इत्यर्थः । कथमित्याकाङ्क्षायां जन्मफलं जातमिति निरूपयति **लब्धं कार्त्स्न्येन तत्फलमिति** । जन्मफलं ज्ञानादिकमपि भवति धर्मश्च परं कार्त्स्न्येन फलम् । तस्य दुर्लभत्वमाह **देवानामपि दुःप्रापमिति** । यस्माद् **योगेश्वराणां दर्शनं देवानामपि** दुर्लभम् । यत इन्द्रो महतापि कष्टेन बृहस्पतेर्दर्शनं न प्राप्तवान् । तदुक्तं षष्ठे ।।९।।

व्याख्यार्थ—'अहो' आश्चर्य अर्थ में दिया है । वयं पद यश में दिया है, 'जन्म-भृत' पद से यह सूचित किया है कि हमारा जन्म ही सफल हुआ, कैसे सफल है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जन्म लेने का जो फल है, वह हमने सम्पूर्ण रीति से प्राप्त किया है । यों तो जन्म का फल ज्ञानादि का भी होता है और धर्म भी होता है, किन्तु ये फल पूर्ण नहीं है । हमको जो फल अब मिला है जो सम्पूर्ण है, इससे विशेष कोई फल नहीं है जिसका कारण है, कि यह फल देवों को भी दुर्लभ है क्योंकि श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं योगेश्वरों का दर्शन देव भी नहीं पा सकते हैं जिससे इन्द्र महान् कष्ट से भी बृहस्पति का दर्शन नहीं पा सके वह छठे में कहा है ।।९।।

आभास—केवलं दर्शनस्य दुर्लभतां निरूप्य तत्संबन्धिनां सर्वेषामेव निरूपयन् अस्य फलत्वे तर्कमाह **किं स्वल्पतपसामिति** ।

आभासार्थ—केवल दर्शन की दुर्लभता का निरूपणकर उसके सम्बन्धी सबका निरूपण करते हुए, इसके फलपने में तर्क 'किं स्वलप' श्लोक में कहते है -

श्लोक—**किं स्वल्पतपसां न्ऋणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।**
दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ।।१०।।

श्लोकार्थ—मनुष्य अल्प तप वाले होते हैं कारण कि वे मूर्ति मात्र में ही देव

बुद्धि करते हैं, जब मुनियों के तो साक्षात् दर्शन होते हैं, उनसे प्रश्न कर सकते हैं, नम्रता से उनका पूजन आदि हो सकता है, वह सब मूर्ति में केवल भाव से होता है, मुनियों में तो साक्षात् होता है ॥१०॥

सुबोधिनी--देवादीनां महत्तपो भवत्येव । मनुष्याणामेव न भवतीति ज्ञापयितुं **न्रृणामि-**त्युक्तम् । अल्पतपस्त्वे हेतुः **अर्चायां देवचक्षुषा-मिति** । अर्चा प्रतिमा आदौ जडाजडप्रकृतिः तत्रापि पामरैः कृता तादृशी स्वस्य चेतनस्य कथं देवता भवेत् । आकृतिरस्तीति चेत् तर्हि नटेन किमपराद्धं, स्थैर्यं नास्तीति चेत् तर्हि जडा आकृतिः, चैतन्यं गुणाश्च राशिद्वयं कृत्वा विचार्यताम् । किं चैतन्यं गुणाः देवता आहोस्विदाकृतिमात्रमिति विशिष्टे न सन्देहः, आकृतिरप्रयोजिका अभगवत्त्वाद् अन्यथा तद्गृहाकृतिः तद्देहाकृतिश्च सर्वेष्वेव वर्तत इति तत्परित्यज्य कुशकाशावलम्बनेन बुद्धिस्थैर्यं कुर्वाणा अल्पतपसो भवन्ति । मुनिषु तु **दर्शनं**, **स्पर्शनं** पादयोस्ततः **प्रश्नः**, ततो विनयः, ततः **पादार्चनम्** । एतदादि सर्वं किं भवति चेतनधर्माश्चेते ॥१०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'न्रृणा' पद कहा है, जिसका भाव प्रकट करते हैं कि यह पद इसलिए दिया है कि देवादि का तप महान् ही होता है। मनुष्यों का अल्पतप होता है, मनुष्य अल्पतपवाले क्यों होते हैं जिसका कारण बताते हैं कि वे 'प्रतिमा' में देवबुद्धि करते हैं । प्रतिमा जड़ प्रकृति है और मनुष्य चेतन प्रकृति है, इसमें भी 'प्रतिमा' साधारण पामरों की बनाई हुई है । वह जड़ प्रकृति, चेतन प्रकृति की देवता कैसे हो सकेगी ? यदि कहो कि आकृति है तो नट ने कौनसा अपराध किया जो उसमें तो कोई देव बुद्धि नहीं करता है। यदि कहो कि नट में स्थिरता नहीं है तो आकृति तो जड़ है । नट में चेतन और गुण हैं दोनों को मिलान कर फिर विचारना चाहिए। क्या चेतन्य और गुण देवता हैं अथवा केवल आकृति ही देवता है ? इस सब पर विचार करने से मिलाकर ध्यान देने से सन्देह होता हैं, आकृति तो अप्रयोजक है, क्योंकि वह भगवान् नहीं है । अन्यथा उसके गृह को आकृति वा देह की आकृति आदि सब में ही भगवान् हैं, इस प्रकार होने पर भी उनका त्याग कर, कुशकाशादि के अवलम्बनवत् प्रतिमा में बुद्धि की स्थिरता करने, वाले अल्प तप वाले हैं मुनि भगवत्सम्बन्ध वाले चेतन हैं, उनमें तो दर्शन, चरणों का स्पर्श पश्चात् प्रश्न, बाद में विनय, अनन्तर, पूजा इत्यादि सब कुछ इनमें हो सकता है, कारण कि, ये चेतन धर्म वाले हैं ॥१०॥

आभास—नन्वेवं सति कथं सर्वोपि लोकः प्रवर्तत इति चेत्तत्राह **न ह्यम्मयानि तीर्थानीति** ।

आभासार्थ—यदि यों हैं तो सब लोग क्यों प्रतिमादि का पूजन करते हैं जिसका उत्तर 'न ह्यम्मयानि' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।**
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥

श्लोकार्थ—तीर्थ केवल जलमय नहीं हैं, देवता केवल मृत्तिका और पाषाणादि धातुमय नहीं हैं, किन्तु वे भक्त को चिरकाल में (बहुत समय में) पवित्र करते हैं, साधु लोग तो दर्शन से ही शीघ्र पवित्र करते हैं ।।११।।

सुबोधिनी - **तीर्थ**शब्देन यच्छोधकं स्वच्छं तदुच्यते, तज्जलमपि भवति, महान्तोऽपि भवन्ति । अतो जलमयानि किं तीर्थानि न भवन्ति भवन्त्येव अपां शोधकत्वस्य दृष्टत्वात् । परं या शुद्धिः ज्ञानरूपा महद्भिर्भवति सा न भवत्येव । तथैव **देवा** अपि मृण्मयाः **शिलामयाश्च** । केषांचिन्मते स्थानमेव देवः, प्रतिमा त्वप्रयोजिका । तस्मिन् स्थाने या काचित् प्रतिमा स्थापिता सैव देवो भवति न त्वन्यत्र । अतो **मृण्मया** एव देवाः शिलामया वा यत्र स्थानं न प्रसिद्धं शिलारूपलक्षणम् । अष्टविधानां स्थिराः शिलामया एव भवन्तीति वा । तर्हि लोकप्रसिद्धं किं निन्द्यते नेत्याह **ते पुनन्त्युरुकालेने**ति । **साधवस्तु** दर्शनमात्रेणैव । नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुमिति पूजायां प्राप्तायां मृण्मयाद्यपेक्षया साधवः पूज्याः । तीर्थगमनापेक्षया साधव एवाभिगन्तव्या इति न तु लोकसिद्धं निन्द्यत इत्यर्थः ।।११।।

व्याख्यार्थ—तीर्थ शब्दों से उसका ग्रहण किया जाता है जो शोधक (शुद्ध करने वाला) और स्वयं स्वच्छ हो वह जल भी हो सकता है और महात्माएं भी होते हैं अतः पानी रूप जो हैं, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते हैं ? हो ही सकते हैं, कारण कि पानी में शोधक गुण देखा जाता है, परन्तु जो ज्ञान रूप शुद्धि साधुजन कर सकते हैं, वह शुद्धि तीर्थ नहीं कर सकते हैं, वैसे ही, मिट्टी से बनी हुई और शिला से बनी देव प्रतिमाएं भी पवित्र करने वाली हैं किन्तु भक्तजनों के समान ज्ञान भक्ति आदि देखकर शुद्ध नहीं कर सकती हैं, कितनों के मत में स्थान ही देव है प्रतिमा तो अप्रयोजक है । उस स्थान में जो कोई प्रतिमा स्थापित की जाती है वह प्रतिमा ही देव होती है दूसरे स्थान पर प्रतिमा देव नहीं बनती है, अतः देव मिट्टी वा पत्थर के ही हैं । जहाँ स्थान प्रसिद्ध नहीं है, वहाँ शिला रूप लक्षण वाली ही प्रतिमा है, आठ प्रकार की प्रतिमाएं स्थिर और शिलामय ही हैं, लोक में तो प्रसिद्ध है कि वे देवता हैं उनकी निन्दा क्यों की जाती है ? उत्तर देते हैं कि निन्दा नहीं करते हैं किन्तु कहते हैं कि वे बहुत समय सेवन करने के बाद पवित्र करती हैं भक्त और ज्ञानीजन तो केवल दर्शन से ही पवित्र करते हैं किसी की भी यदि निन्दा की जावे तो वह निन्दा उसकी निन्दा के लिए नहीं हैं किन्तु जिसका विधान करना है, उसकी स्तुति के लिए है इसलिए जब पूजा का प्रश्न आता है कि किसकी पूजा शीघ्र फल देने वाली है तब कहा जाता है कि ज्ञानी भक्त जो साधुजन हैं उनकी पूजा, तीर्थ और प्रतिमा से विशेष है अतः तीर्थ और प्रतिमा की अपेक्षा उनकी पूजा करनी चाहिए, कारण कि, उनकी पूजा से फल शीघ्र मिलता है, तीर्थों पर जाने के बजाय भक्तजनों के पास जाना चाहिए, इससे लोक सिद्ध तीर्थ आदि की निन्दा नहीं की जाती है ।।११।।

आभास—नन्वेतदपेक्षया सूर्यादयः प्रत्यक्षदेवाः सन्ति त एव कथं न पूज्यन्त इति चेत् तत्राह **नाग्निर्न सूर्य** इति ।

आभासार्थ —इन साधुजनों की अपेक्षा सूर्य आदि प्रत्यक्ष देव हैं वे ही क्यों न पूजे जाते हैं ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'नाग्निर्न सूर्यो' श्लोक में हैं–

श्लोक—नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्रतारका:
न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।
उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं
विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥

श्लोकार्थ—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मन इनकी उपासना की जावे, तो भी ये अज्ञान का हरण नहीं करते हैं, केवल पाप का नाश करते हैं, कारण कि भेद को अङ्गीकार कर वे प्रवृत्त हुए हैं, किन्तु साधुजन, ज्ञानी मुहूर्त मात्र की सेवा से अज्ञान मिटा देते हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—अग्निरग्निहोत्रादिषु प्रसिद्धः । **सूर्यो**ऽप्युपासनायाम्, **चन्द्रो**पि व्रतादौ **तारका** अपि ग्रहादिपूजायां बुधादिरूपाः अश्विन्यादिरूपा वा, **भूमिश्च** विश्वंभरा उपासनादौ, तथा **जलम्**, तथैव हृदयाकाशः । तथैव प्राणायामरूपो वायुः **श्वसनः** । अथ भिन्नप्रक्रमेण **वाक्** सरस्वती । तथा **मनश्च** योगादौ 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवश्च देवाः' इति । एते सर्वे भगवद्बुद्धया पूजिताः **अघं हरन्ति** पापक्षयमेव कुर्वन्ति न त्वधिकम् । तत्र हेतुः **भेदकृ**दिति । भेदमङ्गीकृत्य हि सः प्रवर्तते । यो ह्यखण्डं भिनत्ति स कथं कृतार्थो भवेत् । **विपश्चि**तस्तु भेदं दूरीकुर्वन्ति तदाह **विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवये**ति । तावतैव ज्ञानोदयः सर्वपापक्षयः अनायासेन भवति 'नालं कुर्वन्ति तां शुद्धिं या ज्ञानकलया कृता' इति वाक्यात् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—'अग्नि' की उपासना अग्निहोत्र में प्रसिद्ध है, सूर्य की भी सन्ध्यावंदन आदि में उपासना होती है, चन्द्रमा की व्रत आदि में पूजा होती ही है, तारे भी ग्रहादि पूजा में बुधादि अथवा अश्विनी आदि रूप से पूजे जाते हैं भूमि विश्वम्भरा होने से उपासनादि में पूजी जाती है, वैसे ही जल, हृदयाकाश, प्राणायाम रूप वायु आदि पूजे जाते हैं 'अथ' पद से सब पृथक् क्रम से कहते हैं कि वाक् अर्थात् सरस्वती, मन की उपासना योगादि में होती है जिससे ही शास्त्र में कहा है कि 'मनोवशेऽन्येह्यभवश्च देवा ? मन वश होने पर सब देव वश में हो जाते हैं, ये सब यदि भगवत् बुद्धि से पूजे जाते हैं तो पाप का ही नाश करते हैं, विशेष नहीं अर्थात् ज्ञानादि उत्पन्न कर अज्ञान को नाश नहीं कर सकते हैं, इसमें कारण यह है, कि भेद को अङ्गीकार कर वह प्रवृत होता है जो अखण्ड को खण्ड करता हैं, वह कृतार्थ कैसे होगा ? ज्ञानी तो भेद को दूर करते हैं, अतः कहते हैं, कि ज्ञानी मुहुर्तमात्र सेवन से भेद का नाश कर देते हैं, इतने में ही ज्ञान का उदय और पाप का क्षय बिना परिश्रम ही हो जाता है, जो शुद्धि ज्ञान कला से होती है वह उन भेद कृतों से नहीं होती है ॥१२॥

आभास—एवं परमार्थमुक्त्वा एतद्व्यतिरिक्तान् सर्वान् एकीकृत्य निन्दति **यस्यात्मबुद्धिरि**ति ।

आभासार्थ—यों परमार्थ कह कर इनसे पृथक् सबको एक साथ में निम्न श्लोक से निन्दित करते हैं ।

श्लोक—यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३।

श्लोकार्थ—जो लोग वात, पित्त और कफमय शरीर को ही आत्मा रूप जानते हैं, स्त्री आदि में ही अपनत्व की बुद्धि रखते हैं, भूमि के विकार रूप पदार्थों में पूज्य बुद्धि रखते हैं तथा जल में तीर्थ बुद्धि करते हैं, किन्तु ज्ञानी भक्तों में कभी भी आत्म बुद्धि एवं पूज्य बुद्धि नहीं करते हैं, वे ही बैल वा गर्दभ (गधे) हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—**कुणपे** देहे। चैतन्यरहितो देहः कुणपमित्युच्यते। न हि चेतनस्य जडः आत्मा भवति। तत्र मूलविचारेणापि दोषमाह **त्रिधातुक** इति। वातपित्तश्लेष्मप्रकृतिकोऽयं देहः, आत्मा चेतनप्रकृतिकः। अतोस्य देहस्य धातव एव आत्मानो भवितुमर्हन्ति न त्वात्मा। आत्मनो वायं भवति। एवमात्मबुद्धिर्भ्रान्तेति निरूप्य आत्मीयबुद्धिरपि भ्रान्तेत्याह **स्वधीः कलत्रादिष्विति**। आत्मीयास्त एव भवन्ति ये स्वस्योपकुर्वन्ति ते सन्त एव, कलत्रादयस्त्वपकुर्वन्ति। तथा भगवानेव आत्मनामात्मा सद्रूपः। **भौमे** भूविकारे **इज्यधीः** स्वदेहस्यापि भूमिजत्वात्। **तीर्थबुद्धिश्च सलिले**। एवं बुद्धिचतुष्टयं यस्य स न कर्हिचिदपि अभिज्ञेषु जनेषु मन्तव्यः किंतु मूर्खेष्वेव मन्तव्यः। किं बहुना स एव **गौर्बलीवर्दः खरो** वा। बलीवर्दानां तृणानयनार्थं खरो वा। पशुप्राया गृहस्थाः तेषां निर्वाहक इति। एवं मुनिस्तोत्रार्थं लोकप्रसिद्धाः पदार्था निन्दिताः ॥

व्याख्यार्थ—'कुणपे' अर्थात् देह में, जिस देह में चैतन्य नहीं है उसको कुणप कहते हैं, चेतन की आत्मा जड़ नहीं होती है' उसमें मूल विचार से भी दोष दिखाते हैं 'त्रिधातुके' वह देह वात पित्त और कफ की प्रकृति वाली है और आत्मा चेतन प्रकृति वाली है इस कारण से देह की आत्मा धातु ही है न कि आत्मा, अथवा यह आत्मा की होती है. इस प्रकार देह में आत्म बुद्धि भ्रान्त है, यो निरूपण कर अपनेपन की बुद्धि भी भ्रान्त है, स्त्री आदि में अपनापन समझना भूल है। अपने वे ही होते हैं जो अपना कल्याण करते हैं। वे कल्याण करने वाले तो सन्त ही हैं, स्त्री आदि तो हानि ही करते हैं। वैसे भगवान् ही आत्माओं की आत्मा सद्रूप है 'भौमे भूविकारे इज्यधी' पृथ्वी से बने पदार्थों में पूज्य बुद्धि भी भ्रान्ति है. अपनी देह भी पृथ्वी से बनी हुई है 'तीथ बुद्धिश्चसलिले' पानी में तीर्थ बुद्धि करना भी भ्रान्ति है। इस प्रकार की चार बुद्धि जिसकी है उसको कभी भी ज्ञानियों की श्रेणी में नहीं गिनना चाहिए किन्तु मुर्खों में ही गिनना चाहिए विशेष क्यों कहें वह ही बैल वा खर है, अथवा बैलों के लिए तृण ले आने वाले जैसे गर्दभ हैं, वैसे ही ऐसे ये मनुष्य भी पशु प्रायः गृहस्थियों के निर्वाह के लिये खर (गदहे) हैं, इसी तरह मुनियों की स्तुति के लिए ही लोक प्रसिद्ध पदार्थों की निन्दा की है ॥१३॥

आभास—तेषां पूर्वं भगवानेव स्तोत्रं कृतवान् वेदादिद्वारा अतो विरुद्धमुभयमपि तन्निर्णयार्थं मुनीनां संदेहो जात इत्याह **निशम्येत्थं भगवत** इति।

आभासार्थ—जिन तीर्थ आदि की भगवान् अब हीनता कर रहे हैं उनकी ही भगवान् ने प्रथम वेद द्वारा स्तुति की है अतः भगवान् के दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध होने से इनका निर्णय करना मुनियों को भी कठिन हो गया इसलिए संदेह में पड़ गए, ऐसी अवस्था देख श्री शुकदेवजी 'निशम्य' श्लोक में इसका वर्णन करते है,

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**निशम्येत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ।**
वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्धियः ॥१४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि अकुण्ठ बुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के दुरन्वय वचन सुनकर मुनि संशयग्रस्त होने से चुप हो गए ॥१४॥

सुबोधिनी—एवं **भगवतो वचो निशम्य भ्रमद्धियो** भूत्वा **तूष्णीमासन्निति** संबन्धः । ननु संदेहः कथं, भगवद्वाक्यप्रामाण्ये निश्चय एव, अन्यथा पूर्वसिद्ध एवार्थः तत्राह **अकुण्ठमेधस** इति । अकुण्ठा मेधा यस्येति को वेद केनाभिप्रायेण एवं वदतीति संदेह इत्यर्थः । ननु निश्चय एव कुतो नोत्पद्यते तत्राह **दुरन्वयमिति** । अन्वयो लोकसिद्धार्थसमर्पकः तद्विरुद्धत्वात् दुरन्वयः । अत एव **भ्रमद्धियः** ॥१४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर, संशयग्रस्त बुद्धि वाले होने से चुप हो गए, यों अन्वय है- भगवान् के वाक्यों में सदेह कैसे ? भगवान् के वाक्यों के प्रामाण्य में तो निश्चय ही है, नहीं तो अर्थ पूर्ण सिद्ध ही हो, इस पर कहते हैं, 'अकुण्ठमेधसः' जिसका कहा हुआ समझ में नहीं आता है कि ये वचन किसी अभिप्राय से कह रहे हैं, इस कारण से संदेह है आपके वचनों से निश्चय क्यों नहीं उत्पन्न होता है ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'दुरन्वयं' आपके वचन लोक सिद्ध **अर्थ** के समर्थक भी हैं और उनके विरुद्ध भी हैं इसलिए 'दुरन्वय' हैं अर्थात् समझ में नहीं आते हैं, इस कारण से संशय में पड़ गए हैं ॥१४॥

आभास—ततस्तेषां निर्णयो जात इत्याह **चिरं विमृश्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् उनका निर्णय हुआ, वह 'चिरंविमृश्य' श्लोक में कहते हैं-

श्लोक - **चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।**
जनसंग्रह इत्यूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—मुनि लोग ईश्वर की इस दीनता व सेवकत्व का बहुत विचार कर हँसते हुए उस जगत् के गुरु को कहने लगे कि यों आपका कृत्य, जनसंग्रहार्थ ही है ॥१५॥

सुबोधिनी—**मुनय** इति मननं विचारे साधकम् । विचारितमर्थमाह **ईश्वरस्येशितव्यतामिति**। **ईश्वरस्य** सर्वसमर्थस्य **ईशितव्यता** सेवकता या सा **जनसंग्रहः**, जना एवं बुद्धया संगृहीता भवन्तीति । यथा स्वयं चेदेवं ब्रूयाद् अन्योऽप्येवं वदेदिति । ततो भगवद्वाक्याभिप्राय ज्ञात्वा, **स्मयन्तो** हसन्तः **तं जगद्गुरुं** सर्वहितोपदेष्टारं प्रति किंचिद्**ऊचुः** ।।१५।।

व्याख्यार्थ—'मुनय' पद का अर्थ है, विचार करने में जिनका साधक मनन ही है वे मुनि हैं जिस विषय का विचार किया जा रहा है उसको कहते हैं कि 'ईश्वरस्येशितव्यताम्' सर्व समर्थ की यह जो सेवकता है वह लोक संग्रह है अर्थात् मनुष्य इस प्रकार बुद्धि से सिखाए जाते है, जैसे कि जब आप इस प्रकार सेवकता एवं दीनता के वचन कहें, तब अन्य लोग भी कहना सीखें, पश्चात् भगवान् के वाक्यों का अभिप्राय समझ हँसते हुए उस जगद्गुरु सर्व के हित के उपदेष्टा को कुछ कहने लगे ।।१५।।

आभास—तत्र मुनयः द्वेधा निर्णयं वदन्ति किमद्य भगवान् अस्मान् व्यामोहयितुं वदति आहोस्विदन्येषामुपकाराय । यद्यस्मान्प्रति वदति तदोत्तरमुच्यत इत्याहुः **यन्माययेति** ।

आभासार्थ—इस विषय में मुनि लोग दो तरह से निर्णय देते हैं कि आज भगवान् हमको मोह में डालने के लिए यों कहते हैं अथवा अन्यों के उपकार के लिए कह रहे हैं, जो हम को यों कहते हैं तो 'यन्मायया' श्लोक से उत्तर कहते हैं ।

श्लोक—मुनय ऊचुः-**यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं**
विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।
यदीशितव्यायति गूढ ईहया
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ।।१६।।

श्लोकार्थ - मुनि कहने लगे कि तत्त्व ज्ञान में उत्तम और विश्व के बनाने वाले कश्यप आदि के उपदेष्टा हम भी जिसकी माया से मोहित हो रहे हैं, वे आप गूढ रह कर सेवकता बता रहे हो, अतः आपकी लीला विचित्र एवं ज्ञानी को भी भ्रम में डालने वाली है । यह बड़ा आश्चर्य है ।।१६।।

सुबोधिनी - **तत्त्व**विदां मध्ये **उत्तमाः** साक्षात्कारतद्बोधनसमर्थाः । अनेन ज्ञानशक्तिर्निरूपिता । **विश्वसृजामधीश्वरा** इति **विश्वसृजः** कश्यपादयः ये सर्वदा विश्वं सृजन्ति तेषामपि **वयमधीश्वराः** उपदेष्टारो नियन्तारो वा तेपि **वयं विमोहिताः** । विमोहनमाहुः यद्यस्माद्भगवान् **गूढः** सन् स **ईशितव्यायति** ईशितव्यवदाचरति सेवकभावं संपादयति । **ईहया** चेष्टया । तथा चेष्टां प्रकटयति यथा लोकः ईशितव्यं जीवमेव मन्यते न त्वीशम् । एतादृशं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा आश्चर्याविष्टा आहुः **अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितमिति** । भगवद्विचेष्टितत्वम् । तथा करणे अकरणे च हेतुरिति विचित्रता । भगवांश्चेत्किमित्येवं करोति कुतो वा न करोति इत्युभयत्रापि भगवत्त्वस्य

हेतुत्वात् अनीशितृत्ववद् अल्पेशितृत्वमपि भगवति नास्ति, नापि भगवता एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमिति क्वचिन्निर्धारोऽस्ति, तस्मादलौकिकत्वात्सर्वमेव भगवच्चरित्रं विचित्रम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—तत्त्व वेत्ताओं में उत्तम साक्षात्कार और उसके बोध देने में समर्थ हम हैं इससे ज्ञानशक्ति का निरूपण किया है, विश्व को रचने वाले कश्यप आदि के भी उपदेष्टा तथा नियामक होते हुए भी हम मोहित हो रहे हैं, कैसा वह मोह है, भगवान् होकर भी अपना स्वरूप गूढ रख सेवकवत् आचरण कर रहे हैं। इस चेष्टा से लोग आपको जीव समझते हैं न कि भगवान्, इस प्रकार आपका चरित्र सुन व देख आश्चर्य में पड़ कर ऋषि लोग कहने लगे, कि भगवान् की लीला विचित्र है, क्योंकि भगवान् होकर यों क्यों करते हैं, अथवा यह क्यों नहीं करते हैं, दोनों में भगवत्व ही हेतु हैं, अनीशता अल्पेशता भी भगवान् में नही हैं, भगवान् को यों करना चाहिए वा यों नहीं करना चाहिए जिसका भी कोई निर्णय नहीं है, इससे अलौकिक होने से सब ही भगवान् के चरित्र विचित्र हैं ॥१६॥

आभास—सर्वस्यैवालौकिकत्वाय सहजमपि भगवच्चरित्रं परस्परविरुद्धमित्याह **अनीह** इति।

आभासार्थ—सर्व के ही अलौकिकत्व के लिए, सहज भी भगवान् का चरित्र परस्पर विरुद्ध दीखता है। इसके लिए 'अनीह' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा।**
भौमैर्हि भूमिर्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे पृथ्वी एक होते हुए भी अपने में से घट आदि पदार्थों को उत्पन्न कर अनेक नाम रूप वाली होती है, वैसे ही आप भी एक हैं और चेष्टारहित हैं, तो भी इस नाना प्रकार के जगत् को उत्पन्न करते हो, उसकी रक्षा करते हो और फिर उसको अपने में लीन करते हो, यों करते हुए भी उसके बन्धन में नहीं आते हो, इसके दोषों से स्वयं दोष वाले नहीं होते हो, अतः आपका यह चरित्र लोकानुकरण तथा विचित्र है ॥१७॥

सुबोधिनी—लोके ईहासहित एव घटादिकं सृजति मन्त्रयोगादिनापि सृजन् मानसीं क्रियामनुसंधत्ते। भगवांस्तु **अनीह** एव तत्राप्येकः। एतच्चान्येन मनसाप्याकलयितुमशक्यं तच्च बहुधा ब्रह्माण्डकोटिषु विसदृशानेव सृजतीति। तत्राप्या**त्मनैवा**विक्रियमाणेन एवमपि कुर्वन् तेन कर्मणा **न बध्यते** करोति च **यथा** विकृतम्। अन्यथा सा सृष्टिस्तादृशीत्येवेति नाश्चर्यं स्यात्। तदर्थमाह यथा **भौमैर्हि भूमिः**, **भौमैरे**व विकारै**र्भूमिर्बहुनामरूपिणी** भवति। तथा भगवान् स्वयमेव नानाविधत्वमापद्यते। अविकृतत्वादयस्त्वधिकाः। अत एव भगवतः अनुकरणमपि विचित्रं सर्वमेवानुकरणं वा ॥१७॥

व्याख्यार्थ लोक में मिट्टी से घट आदि जो बनाते हैं वे इच्छा से युक्त होने से ही बनाते हैं, मन्त्रयोग आदि से जो बनाते हैं वे भी मानसी क्रिया का अनुसन्धान करते हैं। अतः वहाँ भी मानसिक चेष्टा है, भगवान् तो चेष्टा रहित हो हैं फिर एक हैं, दूसरे जिसको मन से भी विचार नहीं सकते हैं, उसको भगवान् अनेक प्रकार से कोटि ब्रह्माण्डों में पृथक् पृथक् तरह के बनाते है, यहाँ भी विकृत न होकर स्वरूप से ही बनाते हैं, बनाने पर उस कर्म से बन्धन में नहीं आते हैं, जैसे विकृत आते हैं, अन्यथा वह सृष्टि वैसी ही है, इसलिए आश्चर्य नहीं है, इस वास्ते कहते हैं कि पृथ्वी से बने हुए घट शराब (सुराही या कुंजा) आदि पदार्थों से बहुत नाम और रूपोंवाले होकर भी पृथ्वी अन्य नहीं होती है, वैसे ही भगवान् स्वयं नाना विधिरूप नाम होते हैं, फिर अधिकता तो उनमें यह हैं कि 'अविकृतत्व' नहीं आता अतएव भगवान् का यह अनुकरण भो विचित्र है, अथवा सर्व ही अनुकरण है ।।१७।।

आभास—एवमघटमानत्वमुपपाद्य श्रोतॄन् प्रत्युपदेशपक्षे वक्तुमुचितमिति समर्थयन्ते **अथापीति** ।

आभासार्थ इस तरह भगवच्चरित्र का अघटमानपन सिद्ध कर उपदेश पक्ष में श्रोताओं को समझाने के लिए कहना उचित है, इसलिए 'अथापि' श्लोक से उसका समर्थन करते हैं ।

श्लोक—**अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।**
स्वलीलया वेदपथं पुरातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ।।१८।।

श्लोकार्थ—तो भी आप समय आने पर भक्तों की रक्षा और खलों का निग्रह करने के लिए सत्व (शुद्ध) को धारण कर अवतार लेते हो और प्राचीन वेद मार्ग की लीला से रक्षा करते हो, आप वर्ण तथा आश्रम रूप होकर भी इससे पर पुरुष भी सदैव आप ही हो ।।१८।।

सुबोधिनी—काले तत्तदवसरे **स्वजना** भक्तजनाः तेषाम**भिगुप्तये** रक्षार्थं **सत्त्वं बिभर्षि** । यद्यपि सर्वजनपालनार्थं सत्त्वं धृतमेव तथापीदं तस्मादतिरिक्तं येनावतारा जायन्ते । पूर्वमेव गुणानां भेदा निरूपिताः सच्चिदानन्दस्य, प्रकृतेः, अहङ्कारस्य, बुद्धेः, कालस्य चेति । तत्रेदं **सत्त्वं** सद्रूपस्य तेनैव च भक्ता रक्षिता भवन्ति । किंच । **खलनिग्रहाय च** । दैत्यानां नाशाय सर्वपालकं तु तेषां न नाशकं किंतु पालकमेव । **चकारा**दन्यान्यपि भक्तिप्रवर्तनादीनि संगृह्यन्ते । तस्य सत्त्वस्य स्वरूपे स्थितस्य स्वरूपधर्मस्य कथं ग्रहणमित्याकाङ्क्षायामाह **स्वलीलये**ति । किंच । तेन सत्त्वेन **वर्णाश्रमात्मा** भूत्वा **पुरातनं** वेदपथं पालयसि बिभर्षि वा । रक्षार्थं हेतुः **पुरातनमिति** । नूतननिर्माणे बह्वन्यथा कर्तव्यं स्यात् । ननु वर्णाश्रमात्मा पुरुषः 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' इति श्रुतेः तत्राह **भवानेव पुरुषः**, यतः **परः** । अनेन ब्राह्मणानां त्वद्रूपत्वात् स्वस्य स्वयं सर्वं भवतीति वचनं समर्थितम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—जब वैसा समय आता है, तब भक्तजनों की रक्षा के लिए सत्व गुण को धारण करते हैं, यद्यपि साधारणतया सत्व को धारण ही किया हुआ है जिससे सर्वजनों की पालना हो

रही है, तो भी यह सत्व उससे पृथक् है जिससे अवतार होते हैं। प्रथम हो सच्चिदानन्द, प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि और काल के गुणों के भेद[1] कहे हैं, उसमें यह सत्व सद्रुप है। उससे ही भक्तों की रक्षा होती है, और खल जो दैत्य हैं, उनके नाशार्थ, सर्व पालक तो उनके नाशक नहीं किन्तु पालक ही हैं, 'च' पद से दूसरे भी भक्ति के प्रवृत्त करने वाले कार्य लिए जाते हैं। उस सत्त्व के स्वरूप में स्थित स्वरूप धर्म का ग्रहण कैसे किया जाता है ? इस आकांक्षा में कहते हैं, कि 'स्वलीलया' अपनी लीला से किञ्च उस सत्त्व से वर्णाश्रम की आत्मा हो पुरातन वेद पथ का रक्षण (पालन) करते हैं। पालन अर्थात् रक्षा का हेतु यह है, कि 'पुरातन' है यदि नूतन बनाया जावे तो बहुत दूसरे प्रकार के कार्य करने पड़ें, वर्णाश्रमात्मा तो पुरुष है, मैं तो नहीं, जैसा की श्रुति कहती है 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत पुरुष एवं इदं' जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भवानेव पुरुष' वह पुरुष आप ही हैं, क्योंकि 'पर' हो, इससे यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण आपके ही रूप होने से, अपने ही सब हैं अतः स्वयं ही हैं, इस वचन का समर्थन किया ।।१८।।

आभास—एवं साधारण्येन वर्णाश्रमाणामुक्त्वा ब्राह्मणे विशेषमाहुः **ब्रह्म ते हृदयमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार साधारण तथा वर्णाश्रमों को कहकर ब्राह्मण वर्ण में 'ब्रह्म ते हृदयं' से विशेषता कहते हैं-

श्लोक—**ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।**
यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमव्यक्तं च ततः परम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—शुद्ध ब्राह्मण आपके हृदय हैं; क्योंकि उनमें तप, स्वाध्याय और संयम है, जिनसे ब्राह्मणों में सत् रूप ब्रह्म प्रकट होता है, वह सत् ब्रह्म अक्षरात्मक है, उस अक्षर से परे जो पुरुषोत्तम है, वह आप हो ।।१९।।

सुबोधिनी—ब्रह्म ब्राह्मणजातिः। **ते हृदयम**न्तरङ्गा शक्तिः। ताश्च शक्तयस्त्रिविधा भवन्तीति विशेषमाह **शुक्लमिति**। तस्य माहात्म्यमाह **तपःस्वाध्यायसंयमैः** तदङ्गैः कृत्वा। **यत्र** शुक्ले हृदये **सदभिव्यक्तं** सद्रूपं ब्रह्म अभिव्यक्तं भवति। **अव्यक्तं** च जगत्कारणभूतं अक्षरात्मकम्। चकारादात्मस्वरूपं च। **ततः परं** पुरुषोत्तममानन्दरूपं वा। तपो वानप्रस्थे, स्वाध्यायो ब्रह्मचर्ये, सयमः पारमहंस्ये, आश्रमत्रय एव सदाद्यभिव्यक्तिरिति नियमः सूचितः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—'ब्रह्म' पद से ब्राह्मण जाति कही है, वह जाति आपका हृदय अर्थात् अन्तरङ्ग-

---

१- सत्व, रज, तम ये प्रकृति के गुण हैं, ये गुण गुणावतारों ने उन कार्यों के लिए धारण किए हैं. अहङ्कार के गुण, मन इन्द्रियाँ और भूतों की उत्पत्ति के कारण हैं। बुद्धि के गुण सत्वात्संजायते' ज्ञानं' श्लोक में कहे हैं। काल के गुण युगावतारों में प्रसिद्ध हैं। वर्णात्मत्व 'ब्रह्मानतम्' श्लोक में कहा है, आश्रमात्मत्वं, गृहाश्रमों जघनतः' यह कहा है। वह हो वेद पथ का पालक पुरुष है।

शक्ति है, वे शक्तियां तीन[1] प्रकार की होती हैं, विशेष कहते हैं कि 'शुक्ल' उनमें शुक्ल का महात्म्य कहते हैं कि तपस्या, स्वाध्याय और संयम ये उसके अङ्ग हैं. जिस शुक्ल हृदय में सद्रूप ब्रह्म प्रकट होता है, और अव्यक्त, जगत् का कारण, अक्षरात्मक है, 'च' शब्द से आत्मारूप है यों कहा, उससे 'पर' पुरुषोत्तम आनन्द रूप है, तपस्या वानप्रस्थ में, वेद पाठ, ब्रह्मचर्य में, संयम परमहंस अवस्था में, आश्रम त्रय में ही सद् आदि की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार नियम सूचित किए हैं ।।१९।।

आभास—किमतो यद्येवं तत्राह **तस्माद्ब्रह्मकुलमिति** ।

आभासार्थ—जो यों हैं, तो इससे क्या जिसका उत्तर 'तस्माद्ब्रह्मकुलं' में देते हैं,

श्लोक—**तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोने त्वमात्मनः ।**
सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ।।२०।।

श्लोकार्थ – हे शास्त्र के कारण रूप ब्रह्मन् ! इस सद्रूप का आश्रय आप होने से, आपकी उपलब्धि (प्राप्ति) के स्थान रूप ब्राह्मण होने से, आप ब्राह्मणों की पूजा करते हो, इससे ब्रह्मण्य लोगों के अग्रणी भी आप ही हैं ।।२०।।

सुबोधिनी—**त्वं ब्रह्मकुलं सभाजयसि** तत्रैको हेतुः **सद्धामेति**। सदादीनां धाम स्थानम् । यदुक्तं यत्रोपलब्धं सद्व्यक्तमिति । **धाम** स्फूर्तिराश्रयो वा । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं तद्रूपतया हेत्वन्तरमात्मानमेव पालयसीति । पुनरन्यं हेतुमाह **शास्त्रयोन** इति । शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कारणं वेदा उत्पादितास्तेषामाधारो ब्राह्मण एवेति तद्रक्षा कर्तव्येत्यर्थः । **शास्त्रयोने**रात्मन इति वा । तथा सति साधनफले निरूपिते, शास्त्रं साधनमात्मा फलमिति । किंच । तस्मात् **ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान्** । यद्यप्येतत्सर्वमन्यथा भवति तथापि त्वं ब्राह्मणानां हितकार्येव ।।२०।।

व्याख्यार्थ—आप ब्रह्म कुल का आदर सत्कार और पूजन करते हो, इसमें एक कारण है, सद् आदि के धाम हैं, जैसा कि ऊपर के श्लोक में 'यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तं' कहा है, धाम पद का अर्थ, स्फूर्ति अथवा आश्रय है । हे ब्रह्मन् ! संबोधन देने का दूसरा हेतु यह है कि वह रूप होने से स्वयं का ही पालन करते हैं । फिर दूसरा हेतु कहते हैं, कि वेद के उत्पन्न कर्ता आप हैं, उनकी रक्षा करने वाले ब्राह्मण ही हैं । इसलिए उनकी रक्षा करनी चाहिए अथवा 'शास्त्रयोनेः' षष्ठी विभक्ति हो तो उसका अर्थ आत्मनः करना, यों करने पर साधन और फल दोनों कहे, शास्त्र साधन और आत्मा फल, यद्यपि यह सब अन्यथा होता है, तो भी आप ब्राह्मणों के हितकारी ही हैं ।।२०।।

१- शुक्ल, लोहित और कृष्ण । इनमें से 'शुक्ल' ब्राह्मण क्योंकि सात्विक हैं । क्षत्रिय राजस और वैश्य रजो प्रधान होने से लोहित शक्ति हैं । शूद्र तमोगुणी होने से काली शक्ति वाले हैं इसलिए 'अङ्घ्रि' श्रित कृष्ण वर्ण में कहा है । चरणों में आश्रित कृष्ण वर्ण होने से शूद्रों का कृष्ण वर्णत्व कहा है, कृष्ण अर्थात् काला, अशुद्ध हृदय वाला, शूद्र वर्ण है ।

आभास - एवं ब्राह्मणानां भगवतो हितकारित्वं ज्ञात्वा संतुष्टाः सन्तः स्वरक्षकनिधिरद्य प्राप्त इति स्वकृतकृत्यतामाहुः **अद्य नो जन्मसाफल्यमिति ।**

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् ब्राह्मणों के हितकारी हैं यों जानकर, सन्तुष्ट हुए और समझे कि हमको आज अपनी रक्षा करने वाली निधि मिली, अतः हम कृतकृत्य हुए हैं जिसका 'अद्य नो' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।**
त्वया सङ्गम्य सद्गत्य यदन्तः श्रेयसां परः ॥२१॥

श्लोकार्थ—आज आपका मिलन हुआ । आप सत्पुरुषों की गति हैं, श्रेय में जो सबसे उत्तम श्रेय हैं वे आप हैं । आपके दर्शन से हमारी विद्या, तपश्चर्या और नेत्र सब सफल हुए हैं ॥२१ ।

सुबोधिनी - सज्जन्म ऋषिवंशे तस्य च फलं ब्रह्मप्राप्ति. साद्यसंपन्नेति । **विद्याः** सर्वाः तासां फलं सर्वज्ञता तदितराभिज्ञत्वं पूर्वमपि सिद्धम् भगवल्लीलापरिज्ञानं तु न जातमिति । **तदद्य** जातमिति **विद्यायाः** फलं तपसा हि परंज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजं साक्षात्करोति तच्चाद्यैव जातमिति सर्वथा कृतार्थता । अनघेति संबोधनपाठे न विद्यते अघं यस्मादिति । हे सर्वपापनिवारकेति फलान्तरमपि सूचितम् । अपहतपाप्मत्वेन वा अस्मत्संबन्धेन वा न काचित् क्षतिरिति । अत एव **त्वया सङ्गम्य** जन्मसाफल्यादिकं जातम् । कथभूतेन त्वया **सद्गत्य** सतां गतिः प्राप्यफलम् । स्वरूपस्यैव फलत्वमविकृतत्वं च ज्ञापयितुं स्त्रीलिङ्गपदप्रयोगः । साफल्यं साधयन्ति **यदन्तः श्रेयसां पर** इति । यद्यस्मात्कारणाच्छ्रेयसामन्तः परिसमाप्तिः **परः** एतदेव । न ह्यस्मादन्यच्छ्रेयोऽस्तीति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—हमारा ऋषि वंश में सत् जन्म हुआ है, उस का फल ब्रह्म की प्राप्ति है, वह आज पूर्ण हुई है, अर्थात् ब्रह्म प्राप्त हुआ है । सब विद्याएँ उनका फल सर्वज्ञता आदि पहले भी सिद्ध था, किन्तु भगवान् की लीला का परिज्ञान नहीं था, वह आज हुआ है । यह विद्या का फल, तपस्वी तपस्या से परमज्योति स्वरूप भगवान् अधोक्षज का साक्षात्कार करता है वह भी आज हुआ है, यों सर्व प्रकार कृतार्थता हुई है । हे निष्पापो ! हे सर्व पापों के मिटाने वाले यों दूसरा फल भी सूचित किया, जिसके पाप नष्ट हो गए हैं उससे या हमारे सम्बन्ध से, किसी प्रकार की क्षति नहीं है । इसलिए आपसे मिलकर हमारे जन्म की सार्थकता हुई हैं अर्थात् हमारा जन्म लेना सफल हुआ है, आप कैसे हैं ? सत्पुरुषों को गति हो, अर्थात् उनको भी फल रूप आप ही प्राप्त होते हैं, 'गति'[1] शब्द स्त्रीलिङ्ग इस लिए दिया है कि स्वरूप का ही फलपन एवं अविकृतपन है अर्थात् प्रभु का इंद्रिय आदि सर्व स्वरूप अविकारी है, अतः फलरूप भी है, साफल्य को सिद्ध करते हैं, कि जितने भी श्रेय हैं उन सब से उत्तम श्रेय आप ही हैं जिससे उत्तम को श्रेय नहीं है अतः यह ही पर है ॥२१॥

१- स्त्रियाँ स्वरूप से मोहक है अतः उनका स्वरूप फल रूप है और अविकृतपन भी है, क्योंकि उनको देखकर पुरुषों में विकार होता है, स्त्रियों में नहीं, इसी प्रकार प्रभु स्वरूप सौन्दर्य से फलरूप तो हैं किन्तु अविकारी होने से भी फलरूप हैं ।

आभास—एवं साक्षान्निर्दोषपूर्णगुणत्वं भगवतो निरूप्य श्रद्धातिशयात्तं नमस्यन्ति **नमस्तस्मै भगवत** इति ।

आभासार्थ इस प्रकार भगवान् का निर्दोषपूर्ण गुणत्व निरूपण कर श्रद्धातिशय के कारण 'नमस्तस्मै' श्लोक में उनको नमस्कार करते हैं ।

श्लोक—**नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।**
स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥२२॥

श्लोकार्थ - जिनकी मेधा (बुद्धि) अकुण्ठ है और जिसने अपनी महिमा को माया द्वारा छिपा दिया है, वैसे परमात्मा श्रीकृष्ण को हम नमन करते हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—स एव कृष्ण इति **कृष्णाय** । ननु ब्रह्मवादे सर्व एव साक्षाद्भगवान् को विशेष इति चेत् तत्राह **अकुण्ठमेधस** इति । न **कुण्ठा मेधा** यस्येति । अन्यत्र रूपान्तरभावे मेधाया अपगमोऽस्ति पश्चात् प्रत्यापत्तौ योजितपटवत् वैलक्षण्यं भवति । भगवति तन्नास्तीति अकुण्ठत्वं नैतज्जीवेषु भवतीति साक्षादविकृतब्रह्मत्वमित्यर्थः । नन्वेवं चेत् कथं सर्वे न विदुः तत्र हेतुमाहुः **स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्न** इति । स्वस्य साधनत्वेन स्वीकृतया मायया आच्छन्नो महिमा यस्येति । मायापिहितदृष्टयो भगवन्माहात्म्यं न पश्यन्तीत्यर्थः ।

विषयाच्छादनं स्वार्थं चेतने नोपपद्यते
अन्यार्थमेव तद्युक्तमात्मस्थे विषयेऽपि च ।

ननु सर्वात्मकत्वाद्भगवतः आत्मानमेव प्रति कथं तिरोधानमिति चेत् तत्राह **परमात्मन** इति । यथा गङ्गातदधिष्ठातृदेवतयोरन्तरमेवमात्मपरमात्मनोर्वैलक्षण्यम् । यथा जले दृष्टेऽपि गङ्गादेवता न दृष्टा भवति जलाच्च तिरोधत्ते तद्वदित्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—वह ही श्रीकृष्ण है, इसलिए कृष्णाय' कहा है ब्रह्मवाद में तो सब ही साक्षात् भगवान् हैं कोई विशेष कम नहीं है यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है. कि जिसकी मेधा कुण्ठित नहीं होती है वैसा तो श्रीकृष्ण ही है । इनके सिवाय, दूसरे रूप में मेधा की हानि कभी होती है, पश्चात् फिर मेधा आ जाने से योजित पट को तरह विलक्षणता होती है । उनमें मेधा की सर्वदा समानता नहीं है । भगवान् में यों नहीं है, इसलिए भगवान् की बुद्धि का अकुण्ठत्व कहा है । यह जीवों में नहीं होता है, इसलिए साक्षात् अविकृत, ब्रह्म ही है । ब्रह्मत्व ही अविकृत है, यदि विकृतत्व ब्रह्म में नहीं, सदा समता है तो सब आपको क्यों नहीं जान सकते हैं ? जिसका हेतु कहते हैं कि 'स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने' अपने साधनपन से स्वीकृत माया से अपनी महिमा को छिपा लिया है अर्थात् जिनकी दृष्टि को माया ने आच्छन्न कर दिया हैं वे भगवान् के महात्म्य को नहीं देख सकते हैं ।

अपने लिए विषय का आच्छादन चेतन (ब्रह्म) में नहीं बनता है विषय आत्मा में स्थित होते हुए भी वह आच्छादन दूसरों के लिए करना उचित है ।

भगवान् सर्वात्मा हैं अपने प्रति ही कैसे आच्छादन[1] ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, कि जैसे जल रूप गङ्गा और देवता रूप गङ्गा का परस्पर अन्तर है वैसे ही आत्मा और परमात्मा में भी विलक्षणता है जैसे जल के देखते हुए भी गङ्गा देवता के दर्शन नहीं होते हैं, वह जल से तिरोहित है वैसे ही परमात्मा भी ॥२२॥

आभास—अत एव न केपि जानन्तीत्याह **न यं विदन्तीति** ।

आभासार्थ—इस कारण से ही इनको कोई भी नहीं जान सकता है यों 'न यं विदन्ति' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।**
मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये भूपति तथा साथ में रहने एवं खेलने वाले यादव भी जिसको नहीं जान सके हैं, क्योंकि उस आत्मारूप कालरूप एवं ईश्वर रूप ने अपने को मायारूप पट (पर्दे) से छिपा लिया है ॥२३॥

सुबोधिनी—अमी विद्यमाना **भूपाः** यदि जानीयुस्तदा नैनं व्यवहारं कुर्युरिति । तेषां सङ्गो नास्तीति न वक्तव्यं यत **एकारामाः** । **च**काराज्जन्मप्रभृति सर्वाः क्रियाः एकत्रेति निरूपितम् । **वृष्णयश्च** तथात्वेन प्रसिद्धाः । तथापि न **विदन्ति** । तत्र हेतुं स्मारयन्ति **मायाजवनिकाच्छन्न**मिति पुत्रोयं भ्राता पितेत्यादिबुद्धिहेतुभूतया मायया नाट्ये आवश्यकरूपया जवनिकया आच्छन्नम् । ननु ते हीनाः स्वभावत एव भगवन्तं न ज्ञास्यन्ति किमाच्छादनेनेति चेत् तत्राह **आत्मान**मिति । अनेन तेषां संसारोपि न भवेदिति लीलाबाधोपि निरूपितः । किंच । कालोयं यद्यात्मानं ज्ञापयेत् तदा ते मारिता न भवेयुरिति । किंच । **ईश्वरोऽयम्** । ईश्वरास्तु गुप्ता एव तिष्ठन्तीति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—ये राजा जिसके स्वरूप को नहीं जानते हैं, यदि जानते हैं तो उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार नहीं करते, उनका दोष नहीं, क्योंकि उनको इनके साथ सङ्ग नहीं है, यह आपका कहना भी व्यर्थ है क्योंकि 'एकारामाः' एक ही स्थान पर आराम करने वाले हैं 'च' पद से बताया है कि जन्म से लेकर सब क्रियाएँ एक ही स्थान पर साथ में रहते ही करते थे यादव भी वैसे ही करते थे यह प्रसिद्ध ही है, यों साथ रहते हुए भी नहीं जानते हैं, उस हेतु की याद दिलवाते हैं कि 'मायाजवनिकाच्छन्न' यह मेरा पुत्र है, यह भाई है, यह पिता इसी प्रकार की बुद्धि कराने वाली माया से छिपे हुए हैं । वे तो स्वभाव से हीन हैं, अतः भगवान् को नहीं जान सकते हैं । मायारूप आच्छादन की क्या आवश्यकता है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि 'आत्मानं'

१— भगवान् अपनी शक्ति से जो आच्छादन करते हैं, वह अपने लिए नहीं किन्तु दूसरे मेरे स्वरूप को न देख सकें, इसलिए करते हैं ।

आत्मारूप अपने को, इससे उनको संसार का बाध भी न होवे, यों लीला का बाध निरूपण किया, इस समय यह कालरूप हैं, यदि अपने को जनावे तो वे मारे नहीं जावे, विशेष में ये ईश्वर हैं, ईश्वर तो गुप्त ही रहते हैं यों ॥२३॥

आभास – नन्वात्मत्वे व्यवधानाभावत् कथमेते न ज्ञातवन्तस्तत्राह **यथा शयान** इति ।

आभासार्थ—जब सब आत्मा हैं, तब व्यवधान हो नहीं सकता है तो दूसरे क्यों नहीं जान सकते हैं ? इसका उत्तर 'यथा शयान' श्लोक में देते हैं-

श्लोक—**यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।**
नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—जैसे सोया हुआ पुरुष, नाम, विषय और इन्द्रियों में सत्यता मानता है, कारण, कि स्वप्न में उसको आत्मा का अनुभव नहीं होता है किन्तु नाम, विषय और इन्द्रियों को ही आत्मा समझता है वह आत्मा भास है, इससे परमात्मा को नहीं जान सकता है ॥२४॥

सुबोधिनी--यथा निद्रा आत्मज्ञाने व्यवधायिका तथा अविद्या माया वा भगवदीया तेषामात्माज्ञाने हेतुरिति वक्तुं मायाजवनिकाच्छन्नत्वेन निरूपितमपि प्रकारभेदेन निरूपयितुमिदमुच्यते । **यथा शयानः पुरुष आत्मानं नाममात्रेन्द्रियेष्वेव आभातं वेद न** तु ततः **परम्** । तत्र हेतुः **गुणतत्त्वदृगिति** । **गुणेषु** स्वप्नप्रतिभातविषयेषु **तत्त्वदृक्** परमार्थबुद्धिः । यदि जानीयादेते अपरमार्थाः इदानीमनुभूयमानदेहक्रियासहिताः तदा जाग्रदवस्थमात्मानं जानीयादेव । नन्वात्मानुभवस्तत्राप्यस्तीति चेत् सत्यम् । तथापि **नाम** तदानींतनं देवदत्तादिरूपं, **मात्रा** विषयाः, **इन्द्रियाणि** च तेष्वेव **आभातः** । त एव अहंतया गृहीता इति आत्माभासप्रतीतिरेव न त्वात्मप्रतीतिरित्यर्थः । उभयं निषेधयन्ति **न वेद रहितं परमिति** । पूर्वोक्तनामादि**रहितं** तदवस्थातोऽपि च **परं न वेद** ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जैसे नींद आत्म ज्ञान में रुकावट है, वैसे ही अविद्या अथवा भगवदीया माया, उनकी आत्मा के **अज्ञान** में हेतु है, यों कहने के लिए कि माया के पर्दे से आत्मा आच्छन्न है, इसको दूसरे प्रकार से दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहते हैं, कि जैसे सोया हुआ पुरुष आत्मा के नाम, विषय और इन्द्रियों में ही प्रतीति करता है, उससे परे कुछ नहीं जानता है, यों जानने में हेतु कहते हैं कि 'गुणतत्त्वदृक्' स्वप्न में देखे हुए विषयों में ही परमार्थ बुद्धिवाला होता है, जो जान जावे, कि ये जो अब देह क्रिया सहित अनुभव में आ रहे हैं वे सब झूठे हैं तो जाग्रत् अवस्थावाली आत्मा को पहचाने ही यदि कहो कि वहाँ भी आत्मानुभव है ? जो वह सत्य है, तो भी नाम अर्थात् उस समय के देवदत्त आदि रूप, विषय और इन्द्रियाँ उतने में ही आभासित होने से वे ही अहंता के कारण ग्रहण किए हैं इस प्रकार आत्मा भास की ही प्रतीति है, न कि आत्मा की प्रतीति है, दोनों

का निषेध करते हुए कहते हैं, कि 'न वेद रहितं परम' पूर्व कहे हुए नाम आदि से रहित जो परमात्मा है, उसको वह शयन करने वाला नहीं जानता है ।।२४।।

आभास—एवं दृष्टान्तमुपपाद्य दार्ष्टान्तिके योजयति **एवं त्वाऽयमिति** ।

आभासार्थ--इस प्रकार दृष्टान्त कहकर 'एवं त्वाऽयं' श्लोक में दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं ।

श्लोक—**एवं त्वाऽयं जनो ब्रह्मन् नाममात्रेन्द्रियेहया ।**
मायया विभ्रमच्चित्तो न वेद स्मृत्युपप्लवात् ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! जैसे स्वप्न के देह की आत्मा यह देह है, वैसी ही इस देह की आत्मा भगवान् है, नाम विषय और इन्द्रियों की माया से चित्त भ्रम में पड़ जाता है, जिससे आपको नहीं जान सकता है । जीव की स्मृति जन्म और मरण के चक्र में फिरने से नष्ट हो जाती है, जिससे वह, यह ही है, यों नहीं जान सकता है ।।२५।।

सुबोधिनी -यथा स्वप्नसंघातस्यायं संघात आत्मा तथास्य भगवान् । अत एव भगवतः अज्ञानं न च वक्तव्यं स्वप्ने अयं देहो न स्थितः ततो वैलक्षण्यमिति । तर्हि क्व गतः तत्रैवाधारे तस्य प्रपञ्चस्योत्पन्नत्वात् अन्यथा तच्चलाने तदपगमो न स्यात् । तथापि न स पृथग्भासते इति चेत्तस्य परिच्छन्नत्वात् तत्स्थानीयमन्यच्च स्वीकृतवानीति । असमर्थत्वात्तस्यभानम् । भगवतस्तु व्यापकत्वात् सर्वसमर्थत्वात् पृथगप्याभानमेतावान् विशेषः । अज्ञानं तु तुल्यमेव तदाह **नाममात्रेन्द्रियेहया** नाममात्रेन्द्रियेषु चलनादन्यथाबुद्धिकारिण्या आत्मबुद्धिमुत्पादयन्त्या **विशेषेण भ्रमच्चित्तः** त्वा परमार्थत आत्मानं **न वेद** । अनेनात्मपरमात्मभावभेदानङ्गीकारेपि भगवदज्ञानं समर्थितम् । नन्वनादिसिद्धत्वात्संसारस्य गुरुशास्त्रतपोभिः कदाचिद्भगवदनुभवः संभवति आत्मानुभवो वा । तत इदानीं भगवन्तं दृष्ट्वा सोयमिति कथं न प्रतीतिस्तत्राह **स्मृत्युपप्लवादिति** । जन्ममरणादेना स्मृतिनाशात् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—जैसे स्वाप्निक देह की आत्मा यह देह है, वैसे ही इस देह की आत्मा भगवान् है, इस कारण से भगवान् का अज्ञान नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्वप्न में यह देह ही नहीं है, इससे विलक्षणता है, यदि देह नहीं है तो देह कहाँ गई ? उसके आधार पर ता उस स्वाप्निक प्रपञ्च की उत्पत्ति है, अन्यथा उसके चलाने में उसका जाना नहीं हो सके, तो भी वह पृथक् नहीं भासता है ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि वह परिच्छिन्न है इसलिए उसका स्थानीय दूसरा स्वीकार किया है । यों, असमर्थ होने से उसका भान नहीं होता है, भगवान् तो व्यापक और सर्व समर्थ हैं इसलिए पृथक् भी उनका भान हो सकता है, इतना भगवान् में जीव से विशेषता है. अज्ञान तो तुल्य है, वह बताते हैं, कि नाम, विषय और इन्द्रियों में ही चलने से उनमें ही आत्म बुद्धि उत्पादन करने वाली एवं अन्यथा बुद्धि करने वाली चेष्टा से जिसका चित्त भ्रमित हो गया है, वह परमार्थ से आत्मस्वरूप आपको नहीं जानता है, इससे आत्मा और परमात्मा के भाव में भेद

अङ्गीकार न करते हुए भी भगवान् के अज्ञान का समर्थन किया है। संसार अनादि सिद्ध होने, से गुरु शास्त्र और तपस्याओं से कदाचित् भगवान् का अनुभव सम्भव है अथव आत्मानुभव भी संभव है, इस कारण से अभी भगवान् को देखकर भी 'वह यही है', यों प्रतीति क्यों नहीं होती है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि, जीव की स्मृति, जन्म और मरण के चक्र में बारबार फिरने से नष्ट हो जाती है ।।२५।।

आभास—तादृशोयमद्य दृष्ट इति स्वकृतार्थतामनूद्य कृपां प्रार्थयन्ते **तस्याद्ये**ति ।

आभासार्थ—वैसे जो आप हैं उनका आज दर्शन किया अतः अपनी कृतार्थता कहकर 'तस्याद्य' श्लोक से कृपा करने के लिए प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—**तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्ष**
तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।
उत्सिक्तभक्त्युपहृताशयजीवकोशा
आपुर्भवद्गतिमथोनुगृहाण भक्तान् ।।२६।।

श्लोकार्थ पाप पटल (समुह) को नाश करने वाली, गङ्गाजी के उत्पत्ति स्थान परिपक्व योग वाले योगी जन भी जिनका केवल हृदय में चिन्तन कर सकते हैं, उन आपके चरणारविन्द का बहुत पुन्यों के प्रताप से आज प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है, सो हमें भक्त जानकर अनुग्रह कीजिए, भक्ति के सिवाय आपके चरण की प्राप्ति नहीं होती है, वृद्धिगत भक्ति से ही जिनके लिङ्ग आदि का नाश हो गया है वे ही आपको प्राप्त कर सकते हैं ।।२६।।

सुबोधिनी यः कदाचिदपि नोपलब्धः यः फलं सर्वं च स **दृष्ट** एव। तत्रापि यथा सर्वदा दर्शनं भवति तेनोपायेन सहितो **दृष्ट** इति ज्ञापनार्थं **तस्याङ्घ्रि ददृशिमे**त्युक्तम् चरणस्य सर्वदा साक्षात्कारहेतुत्वे प्रकारमाह **अघौघमर्ष**मित्यादित्रिभिर्विशेषणैः। मलापकर्षणं पूर्वं शुद्ध्यादिगुणयोजनम् । ततश्च फलरूपं च योगसाधनभावितम्। अघौघस्य पापसमूहस्य मर्षं मृषात्वं यस्मात्, मर्षणं शोधनं वा। किंच । **तीर्थास्पदं** गङ्गादीनामुत्पत्तिस्थानं ततो योगसिद्धैर्हृदि फलत्वेन कृतं, एतादृशं चेत् प्राप्ताः तदा क्रमेण हृदि स्थितो भविष्यतीति तेनाग्रे सर्वं सेत्स्यतीति स्वभाग्याभिनन्दनम्। ननु कथमग्रे भवन्तो मुक्ता भविष्यन्तीति चेत्तं प्रकारमाहुः **उत्सिक्ते**ति । उत्सिक्ता या भक्तिः मर्यादामुल्लङ्घ्य अधिका जाता तया कृत्वा **उपहृता** भगवते समर्पिता **आशयजीवकोशाः** अन्तःकरणात्मसंघाताः यैः । संघातादात्मा तदुपाधिश्च पृथक्कृत्य निरूपितौ आन्तरत्वज्ञापनाय। आशय एव वा **जीवकोशः** एवमुपाधिसमर्पणे केवला वयं **भवद्गतिमापुः ।** 'आशंसायां भूतवच्च' इति प्राप्स्याम इति लृटि प्रयोक्तव्ये लिट्प्रयोगः । **अथ** अस्मात्त्वदीया एवेति **भक्तान्** अस्मान् **अनुगृहाण** आत्मसात्कुर्विति प्रार्थना ।।२६।।

व्याख्यार्थ--जो कभी भी नहीं पाया और जो सर्व फल है, वह आज देखा हो है, इसमें भी जैसे सर्वथा दर्शन होता है, उस उपाय सहित देखा है यों जताने के लिए कहा है कि 'तस्यांघ्रि ददृशिमे' उनके चरणारविन्द को देखा है, सर्वदा साक्षात्कार हेतु मन में चरण का तीन विशेषणों से प्रकार कहते हैं—

मलापकर्षणं[1] पूर्वशुद्धयादि गुण योजनम्
ततश्चफलरूपं च योग साधनभावितम्

कि जिससे पाप समूह का नाश हो जाता है, शुद्धि आदि हो जाती है किंच गङ्गा आदि तीर्थों की उत्पत्ति स्थान, तत्पश्चात् जिनका योग सिद्ध हो गया है उन्होंने हृदय में फलरूप जानकर धर लिए हैं, वैसे चरणों को जो हम प्राप्त हुए हैं अर्थात् पा सकें है, तो क्रम से हृदय में विराजेंगे, इससे आगे सब सिद्ध होगा। यों कहकर अपने भाग्य का अभिनन्दन किया है, तुम आगे कैसे मुक्त होवोगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए, उसका प्रकार बताते हैं. मर्यादा का उल्लङ्घन कर जो भक्ति बढेगी उससे अपने आशय जीव कोश आदि सर्व भगवान् को अर्पित हो जायेंगे, संघात से आत्मा और उसकी उपाधि दोनों आन्तरपन के जताने के लिए पृथक् कर निरूपण किए हैं, अथवा आशय ही जीवकोश है, इस प्रकार उपाधि समर्पण कर देने से आशा है, कि हम केवल भगवद्गति को प्राप्त होंगे. 'आशंसायां भूतवच्च' इस नियमानुसार 'आपुः' यह लिट् लकार लृट के स्थान पर दिया है, 'अथ' पद का आशय है कि हम आपके ही भक्त हैं, इसलिए हम भक्तों पर कृपा कर अपना लीजिए यह प्रार्थना है ।।२६।।

आभास—एवं प्रार्थयित्वा तूष्णीमेवाङ्गीकारे कृतार्थत्वं ज्ञात्वा गन्तुमारेभिर इत्याह **इत्यनुज्ञाप्येति** ।

आभासार्थ—यों प्रार्थना की, भगवान् मौन रहे जिससे मुनियों ने समझा कि हमारी प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की है यों समझ वहां से जाने की तैयारी को जिसका वर्णन 'इत्यनुज्ञाप्य' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं–

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।
राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनियो दधिरे मनः ।।२७।।

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा, कि हे राजर्षि ! भगवान् से, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर मुनियों ने अपने आश्रम को जाने का मन किया ।।२७।।

सुबोधिनी—दाशार्हं सेवकप्रियं ततो भक्तैरप्यनुज्ञाता इत्याह **धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरमिति** । वृद्धभक्तौ निरूपितौ । विश्वासार्थं संबोधनम् । ततः **स्वाश्रमान् गन्तुं मनो दधिरे** ।।२७।।

१- अर्थः—पहले मल का छूटना, फिर जिससे शुद्धि आदि गुणों को युक्त करना पुनः योग साधन भावित फलरूप है ।

व्याख्यार्थ -पहले सेवक जिनको प्यारे हैं, वैसे श्रीकृष्ण से और इनके भक्त धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठर से जाने की आज्ञा ली, धृतराष्ट्र और युधिष्ठर दोनों वृद्ध और भक्त कहे, संबोधन 'राजर्षे' विश्वास के लिए दिया है, पश्चात् अपने आश्रम को तरफ जाने का मन किया ॥२७॥

आभास—एवं निवृत्तिपराणां फलसिद्धिमुक्त्वा प्रवृत्तिपराणामपि फलसिद्ध्यर्थं प्रक्रियान्तरमारद्वीक्ष्येति ।

आभासार्थ--इस प्रकार निवृत्ति परायण मुनियों की फल सिद्धि कह कर प्रवृत्ति के परायणों की फल सिद्धि के लिए अन्य प्रकार 'तद्वीक्ष्य' श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—**तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशाः ।**
प्रणम्य चोपसंगम्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥२८॥

श्लोकार्थ—यह सब देख, जब उन्होंने जाने का मन किया तब उनके निकट महा यशस्वी वसुदेव आकर प्रणाम कर विनय से यों कहने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—**वसुदेवो** हि तानुत्कृष्टान् जानाति अतः स्वकृतार्थत्वाय तान् प्रष्टुं यतते । अस्तानुपव्रज्य । तस्यैवं स्वनिस्तारार्थं यत्ने पूर्वसिद्धं हेतुमाह **महायशा** इति । महद् यशो यस्येति कथनार्थं दृष्टमप्युपायं कृतवानित्याह **प्रणम्येति** । चकारात्स्तोत्रमपि कृत्वा । **उपसंगम्य** निकटे समागत्य । **सुयन्त्रितः** सन् वक्ष्यमाण**मिदं बभाषे** । सन्धिरार्षः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी उन ऋषियों को उत्तम जानते हैं, अतः अपने को कृतार्थ करने के लिए उनसे पूछने का प्रयत्न करते हैं, अतः उनके निकट आकर नमस्कार कर एवं स्तुति कर विनयी हो निम्न श्लोक से पूछने लगे । वसुदेवजी ने अपने निस्तार के लिए जो यत्न किया उसका कारण है, कि वह महान् यशस्वी थे यों कहने के लिए दृष्ट उपाय भी कहा कि प्रणाम, स्तुति और विनय भी की, जिनसे उसका महान् यशस्वी होना सिद्ध किया है ।२८॥

आभास—विज्ञापनामाह **नमो वः सर्वदेवेभ्य** इति ।

आभासार्थ—'नमो वः सर्वदेवेभ्य' श्लोक से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—वसुदेव उवाच—**नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।**
कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कहने लगे, कि हे ऋषियों ? सब देवों के निवासरूप आपको मैं प्रणाम करता हूँ, मेरी प्रार्थना सुनने के लिए योग्य हो वह कर्म करने का प्रकार बताईए, जिस भाँति कर्म करने से कर्म नाश हो ॥२९॥

सुबोधिनी—यद्यप्येते ऋषयः तथापि सर्वे देवा येष्विति 'यावतीर्वै देवताः' इत्यादिश्रुतेः सर्वदेवत्वम् । अनेन देवा भवदधीना इति स्तुतिरप्युक्ता । हे **ऋषयः** अलौकिकद्रष्टारः अतो मत्स्वरूपं जानन्तीति विज्ञापितम् **श्रोतुमर्हथ** । तदेवाहुः **कर्मणा कर्मनिर्हार इति** । अयमाशयः । ज्ञानेन कर्मनाशः सुप्रसिद्धः 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इति वाक्यात् । कर्म तु सजातीयं न व्यावर्तयति । यद्यपि प्रायश्चित्ते कर्मनाशकत्वं निरूपितं तथापि न तत्कर्म । अकर्म कर्म नाशयति विपरीतं वा । निषिद्धं विधिबलाद्विहितं नाशयति यथा प्रायश्चित्तं यथा वा नखाम्बु पूर्वपुण्यं नाशयति तथापि सजातीयस्य न सजातीयनाशकत्वम् । नखादिषु नखाम्बुप्रभृतिषु कर्मनाशः अधर्मजननद्वारा तेन स नाशः दुःखमेव संपादयति न संसारनिवृत्तिम् । अन्यथा महान्तो ज्ञानवत्तत्रापि यतेरन् । अतस्तादृशी कर्मनिवृत्तिरपेक्ष्यते यस्यां जातायां संसार एव निवर्तते । यदि संसारनिवृत्तिमेव प्रार्थयेत् तदा ज्ञानादिकमेवोपदिशेयुः । ज्ञानं तु न गृहस्थस्येति मन्यते 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति वाक्यात् । अतः कर्मणैव केनचित्प्रकारेण कृतेन यथा संसारहेतुभूतकर्मनाशः तथा वक्तव्यमित्याह **नस्तदुच्यताम्** इति । अत्र पुनः ऋषीणां पूर्ववत्संदेह उत्पन्नः । यथा भगवान् ईश्वरः सन् विपरीतवाक्यमुक्तवान् । तस्य च भावो यथाकथंचिद्वर्णितः । एवं वसुदेवोपि मुक्त एव सिद्धसमस्तपुरुषार्थ एव विपरीतवत् पूर्वं कर्मनिर्हारं पृच्छति । केनाभिप्रायेणेति किमस्मज्ज्ञानं परीक्ष्यते आहोस्विदन्यथेति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि ये ऋषि हैं, तो भी 'यावतीर्वै देवताः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार इनमें सब देव स्थित हैं, यों कहने से यह सिद्ध किया है कि देव आपके आधीन हैं, जिससे ऋषियों की स्तुति भी की है । हे ऋषयः ! इस सम्बोधन के देने से यह दिखाया है कि आप अलौकिक को देखने वाले हैं, अतः मेरे स्वरूप को आप जानते ही हैं, इसलिए कहता हूं, कि जो मैं प्रार्थना करूंगा, उसको सुनने के योग्य आप हो अतः ध्यान देकर सुनोगे । वह प्रार्थना कहते हैं, कि जैसे कर्म से कर्म का नाश हो जाय वह कर्म करने का उपाय बताईये, ज्ञान से तो कर्म का नाश सुप्रसिद्ध ही है, जिससे 'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन' यह गीता का वचन प्रमाण है, कर्म अपने सजातीय कर्म को नष्ट नहीं कर सकता है । यद्यपि प्रायश्चित करने से कर्म का नाश होता है, किन्तु वह कर्म नहीं है । अकर्म कर्म को नाश करता है या विपरीत करता है, विधि के बल से विहित कर्म, निषिद्ध कर्म को नाश करता है, जैसे प्रायश्चित, अथवा जैसे नखों का जल पूर्व पुण्य को नाश करता है, तो भी सजातीय, सजातीय का नाश नहीं कर सकता है । नखों के जल आदि में कर्म नाश की शक्ति इस लिए हैं कि पाप अधर्म से उत्पन्न होता है अतः उस पाप को नख जल नाश करता है इसी से वह नाश दुःख ही सम्पादन करता है, संसार की निवृत्ति नहीं करता है । यदि यों न होता तो महान् पुरुष ज्ञान की तरह यों करने का प्रयत्न करने लग जावे, अतः वैसी कर्म निवृत्ति की मुझे अपेक्षा है जिसके होने से ससार ही मिट जावे । यदि संसार की निवृत्ति की ही प्रार्थना करते, तो ज्ञानादिक का ही उपदेश दे देते । ज्ञान तो गृहस्थी को सिद्ध नहीं हो सकता है, इस लिए वसुदेवजी ने ऐसी प्रार्थना ही नहीं की है, और ऋषियों ने भी ऐसा समझ ज्ञानोपदेश सार्थक न समझा क्योंकि गृहस्थ के लिये ही अर्जुन को कहा कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' तेरा कर्म का ही अधिकार हैं, इसलिए किसी प्रकार किए हुए कर्म से ही संसार का हेतुभूत कर्म का नाश हो वह कर्म करने का उपाय मुझे कहिए इस प्रकार के वसुदेवजी के प्रश्न करने पर ऋषियों को फिर पहले की तरह संदेह हुआ कि, जैसे ईश्वर होते हुए भी भगवान् ने विपरीत वाक्य कहे, और उसका भाव थोडा सा वर्णन भी किया है इसी प्रकार वसुदेवजी भी मुक्त ही हैं, समस्त पुरुषार्थ सिद्धि

वाले हैं, फिर विपरीत की भाँति प्रथम कर्म का नाश पूछते हैं, किस अभिप्राय से पूछते हैं ? क्या हमारी परीक्षा लेते हैं ? अथवा दूसरा कोई कारण है ॥२६॥

आभास—एवं ऋषीणां संदेहं ज्ञात्वा नारदः स्वयमाह **नापि चित्रमिदं विप्रा** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऋषियों को संदेह हुआ है यों जान कर नारदजी स्वयं 'नापिचित्रमिदं विप्रा' श्लोक में इनकी शङ्का निवृत्त करते हैं—

श्लोक—**नापि चित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।**
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥३०॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा कि, हे विप्रों ! श्रीकृष्ण को अपना पुत्र जानकर, वसुदेवजी अपने कल्याण के साधन जानने की इच्छा से, अपने से प्रश्न कर रहे हैं, इसमें कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है ॥३०॥

सुबोधिनी—इदं वसुदेववाक्यं, **नापि चित्रम्** । अपिशब्दाद्गम्भीरार्थमपि न । **विप्राः** इति भवन्तः पूरका इति स्वपूर्त्यर्थमेव तदाह **बुभुत्सयेति** । ननु बुभुत्सामात्रं चेत्प्रयोजनं तदा कृष्णः किं न पृष्ट इति चेत् तत्राह **कृष्णं मत्वार्भकं यन्न** इति । स्वोत्पन्नः स्वाज्ञातं कथं ज्ञास्यतीति । किंच । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन वसुदेवदृष्टौ बालक एव प्रतिभाति । अत एव नोऽस्मान् स्थूलान् पण्डितानिति ज्ञात्वा **पृच्छति** ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यह वसुदेवजी का वाक्य आश्चर्य करने वाला नहीं हैं, 'अपि' शब्द से यह कहा है, कि गम्भीर अर्थ वाला भी नहीं है, अपने कल्याण के साधन को जानने की इच्छा से आपसे पूछा है. क्योंकि आप विप्र हैं अर्थात् उनकी कामना के पूरक हैं, इसलिए आप से प्रश्न किया है, यदि कहो, कि केवल जानने की इच्छा से ही पूछा है, तो श्रीकृष्ण से क्यों नहीं पूछ लिया ? जिसका उत्तर नारदजी ने दिया है कि वे श्रीकृष्ण को अपना पुत्र मानते हैं, मुझसे उत्पन्न हुआ बालक, जो मैं नहीं जानता हूँ, वह कैसे जानता होगा ? किञ्च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वचन के अनुसार वसुदेवजी की दृष्टि में वे बालक ही दीखते हैं अतएव हमको, स्थूल पंडित, अर्थात् बड़े ज्ञानी, जान कर ही हमसे पूछ रहे हैं ॥३०॥

आभास—ननु जानाति भगवान् सर्वेश्वर इति तत्राह **सन्निकर्षोत्र मर्त्यानामिति** ।

आभासार्थ—वसुदेवजी यों जानते हैं कि कृष्ण, सर्वेश्वर भगवान् हैं, जिसका उत्तर 'संनिकर्षोऽत्र मर्त्यानां श्लोक में देते हैं,

श्लोक—**संनिकर्षोत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ।**
गाङ्गं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥३१॥

श्लोकार्थ—इस जगत् में निकट रहना, अनादर का कारण है। देखो गङ्गा पर रहने वाले गङ्गा के जल के महात्म्य को न जानकर शुद्धि के लिए दूसरे जल से स्नान करने के लिए जाते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—अनादरे **संनिकर्ष** एव कारणम्। **मर्त्यानामिति**। मरणधर्माणः ते जानन्ति सर्व एव मर्त्याः को विशेष इति। आत्मवत्सर्वदर्शनादनादरः। असंभावितं मत्वा दृष्टान्तमाह **गाङ्गं हित्वेति**। **तत्रत्यो** जनः गङ्गातीरस्थः। **शुद्धय** इति गङ्गातीरे संमर्दे स्नातः अशुद्धोऽहं जातः गृहे स्नास्यामीति मत्वा यथा पुनः गृहे स्नाति तदुक्तं **शुद्धय** इति, स हि गङ्गाजलमपि जलत्वेनैव मन्यते न तु तन्माहात्म्यं वेद ॥३१॥

व्याख्यार्थ अनादर का कारण निकट रहना ही है, मनुष्य यों जानते हैं कि मनुष्य देह धारी सब ही मरने वाले हैं तो विशेष कौन है? सब एक सामान ही हैं, इसलिए अनादर है, असंभावित (विशेष उत्तमता नहीं है) यों मानकर अनादर करते हैं, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, गङ्गा पर रहने वाला, गङ्गाजी के प्रवाह में स्नान कर के भी, फिर अपने को अशुद्ध समझने से घर में आकर दूसरे जल से स्नान करता है, तब शुद्ध समझता है इस लिए 'शुद्धये' कहा है, जिसका कारण यह है कि वह गङ्गा पर रहने वाला गङ्गा जल को भी साधारण जल मानता है, उसके माहत्म्य को नहीं जानता है ॥३१॥

आभास—स्वयं भगवन्माहात्म्यमाह **यस्यानुभूतिरिति**।

आभासार्थ—स्वयं नारद, भगवान् का माहात्म्य 'यस्यानुभूति' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—**यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै।**
स्वतोऽन्यस्माच्च गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥३२॥

श्लोकार्थ – जिनका ज्ञान, किसी काल में, (प्रलय होने पर भी) इस जगत् की उत्पत्ति और प्रलय आदि करने से, आप से, दूसरे से, गुणान्तर होने से भी, किसी से नाश नहीं होता है ॥३२॥

सुबोधिनी—ऋषयस्तु शास्त्रादिना संजातज्ञानाः तथापि छिन्नयोजितपटवत् न तज्ज्ञानमुत्कृष्टं भगवतस्तु ज्ञानस्य न कदाचिदपि विच्छेदः। तमेवाह **कालेन** प्रलयेन। **यस्यानुभूतिरनुभवः**। **न रिष्यति** न नश्यति। प्रलयमध्येऽपि नाशसंभवात् तानपि हेतून् निषेधति **लयोत्पत्त्यादिनेति**। यदा प्राणी म्रियते तदा पूर्वानुभवो नश्यति, यदापि उत्पद्यते तदापि लोकान्तरानुभवो नश्यति। एवं महाव्याध्यपस्मारादिनापि पूर्वानुभवनाशः तदेकमपि भगवति न संभवति। कदाचित्**स्वतोऽप्यनुभवो** नश्यति। यदा संस्कारं नोत्पादयति। कार्यकारणयोरभेदात् एवं वचनम्। **अन्यस्मात्** द्रव्यान्तरशापादिना। **चकारात्**कालविलम्बेन विरोधज्ञानाविर्भावेन च। **गुणतो** रजस्तमः प्रादुर्भावात्। अनुक्तपरिग्रहार्थं **न कुतश्चनेति** ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ऋषियों को ज्ञान तो शास्त्र आदि से प्राप्त हुवा है, तो भी वह ज्ञान, फटे कपड़े को फिर सीं कर जोड़ने के समान होने से उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, भगवान् का ज्ञान तो कभी भी टूटता नहीं है, उसका वर्णन करते हैं; प्रलय से जिसका अनुभव नाश नहीं होता है, जिन लय उत्पत्त्यादि हेतुओं से प्रलय में अनुभव का नाश होता है उनका भी निषेध करते हैं कि लय और उत्पत्ति आदि से भी ज्ञान नष्ट नहीं होता है, जब प्राणी मरता है तब पहला[1] अनुभव नाश हो जाता है, जब भी फिर उत्पन्न होता है तब भी लोकान्तर में किया हुआ अनुभव नाश हो जाता है इसी तरह महाव्याधि अपस्मार आदि से भी पूर्व अनुभव का नाश होता है, वह एक भी भगवान् में नहीं होता है, कभी स्वतः भी अनुभव का नाश हो जाता है, जब संस्कार को उत्पादन नहीं करता है, कार्य और कारण के अभेद होने से ऐसा वचन है। दूसरी तरह से, अर्थात् द्रव्यान्तर अथवा शापादि से भी अनुभव नष्ट होता है 'च' पद से यह बताया है कि बहुत काल हो जाने से विरुद्ध ज्ञान के उत्पन्न होने से, भी अनुभव नष्ट होता है। 'गुणतो' रजो तमो गुण के प्रगट होने से भी अनुभव नाश होता है। अन्त में 'न कुतश्चन' पद से यह बताया है कि उपर्युक्त कारणों से और जो नहीं कहे हुए हैं उन सब से भगवान् का ज्ञान नष्ट नहीं होता हैं, ऋषि आदि जीव मात्र का कारणों से अनुभव नाश हो जाता है ।।३२।।

आभास—एवं भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा तन्न जानातीति वसुदेवदोषमाह **तं क्लेशेति**।

आभासार्थ यों भगवान् के महात्म्य का वर्णन कर, उसको वसुदेवजी ही जानते हैं, अतः उसका दोष 'तंक्लेश' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक **तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-**
रव्याकृतानुभवमीश्वरमद्वितीयम् ।
प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढमन्यो
मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ।।३३।।

श्लोकार्थ—जैसे मनुष्य सूर्य को बादलों से आच्छादित, हिम(पाले) से निस्तेज और राहु से ग्रसित मानते हैं वैसे ही अद्वितीय, अव्याकृत ज्ञान स्वरूप ईश्वर को क्लेश, कर्म, सुख, दुःख गुणों के प्रवाह और अपने कार्यरूप प्राणादिकों से आच्छादित समझ उस ईश्वर को जीव मानते हैं ।।३३।।

सुबोधिनी—**तं प्राणादिभिः स्वविभवैरुपगूढं प्राणादिभिर्वशीकृत** जीवं **मन्येत**। स हि अध्यासं कारणत्वेन न जानाति किंतु पदार्थसंबन्धमात्रम्। यथा कारागारे बद्धोपि बन्धकोपि ईश्वरोऽपि तिष्ठति, भ्रान्तः सर्वांस्तुल्यानेव मन्यते। भगवतः देहाद्यध्यासहेतुर्नास्तीति वक्तुं दोषाभावगुणानाह **क्लेशेति**। शास्त्रान्तरसिद्धाः 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' इति अत्र तु संसारदुःखानुभव एव क्लेशः तत्साधकं कर्म, मतान्तरे तु तत्साध्यं, तस्य 'परिपाकः जात्यायुर्भोगाः'

[1] पहले जन्म का, अर्थात् जिस देह का त्याग करता है उस द्वारा किया हुआ अनुभव ।

देहसंबन्धो वा । तत्र यो गुणप्रवाहः उत्पत्तिस्थितिप्रलयपरंपरा । अज्ञानमारभ्य संसारप्रवाहपर्यन्तं निरूपितम् । एतैः सर्वैरपि **अव्याकृतः अनुभवो** यस्य विशेषेण आ सर्वतः करणं व्याकरणं स्वाधीनकरणं स्वरूपनाशनमिति यावत् । अनुभवोऽत्र स्वरूपं, ज्ञाननाशाभावः पूर्वमेव निरूपित इति तस्यैव वा अनुवादः । अनाशे हेतुः **ईश्वरमिति** । नहीश्वरानुभवं कश्चिन्नाशयितुं शक्नोति । तादृशोन्यस्ततोऽप्यधिकः नाशयेदिति चेत् तत्राह **अद्वितीयमिति** । असमोर्ध्वमित्यर्थः । एतादृशमपि प्राणेन्द्रियान्तःकरणदेहैः स्वविभूतिभिः आधिदैविकैः आनन्दमयैः स्वयमेव वा तथाभूत इति स्वरूपभूतैर्वा तैरुपगूढं लीलार्थमावेष्टित**मन्यो** भ्रान्तोस्मदादिजीवः स्वतुल्यं मन्येत । कीदृशं मन्यत इति शङ्कायामाह **सूर्यमिवेति** । यथा सूर्यं मन्यन्ते **मेघै**राच्छन्नं **हिमेन** निष्प्रभं **उपरागेण** ग्रस्तमिति तथा अविद्यया ग्रस्तं तृष्णादिना निष्प्रभं शरीरेण छन्नमिति । वस्तुतस्तु मेघादिभिः संबन्ध एव सूर्यस्य नास्ति बहुव्यवधानात् । तथाप्यन्यो वस्तुतो नाविद्याभिः ग्रस्तादिः । कुतो वा भगवान् भविष्यति भगवतस्तु प्रकार उक्त एव ॥३३॥

व्याख्यार्थ—उस (ईश्वर) को अपने ही उत्पन्न प्राणादि से वशीकृत जीव समझते हैं । वे निश्चय से अध्यास को कारणपन से नहीं जानते हैं, किन्तु केवल सम्बन्ध हैं, अर्थात् जीव को प्राणादि अध्यास कारण से वश करते हैं किन्तु भगवान् को अध्यास नहीं अतः अध्यास से वश नहीं है यों समझना भूल है, वहाँ केवल सम्बन्ध मात्र ही है । जिस प्रकार जेल में चोर भी है और अधिकारी भी है, भ्रान्त पुरुष दानों को समान ही समझता है । वास्तव में यों नहीं है, चोर दोषी है, अधिकारी निर्दोष है, इसको समझाने के लिए कहते हैं, कि भगवान् को देहादि विषय अध्यास नहीं है, दोषों का अभाव और गुणों को बताते हैं । शास्त्रों से 'अविद्यास्मितारागद्वेषभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' सिद्ध है, यहां तो संसार के दुःखों का अनुभव ही क्लेश है । उसका साधक कर्म है दूसरे मत में, अविद्यादि क्लेश पञ्चकों से साध्य है, उसका परिपाक है जाति, आयु और भोग अथवा देह सम्बन्ध, उसमें जो गुण प्रवाह है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की परम्परा है, इस प्रकार अज्ञान से लेकर संसार प्रवाह तक निरूपण किया इन सब से भी जिसको विशेष रूप से व्याकृति रहित अनुभव है, यहां अनुभव पद का तात्पर्य स्वरूप है । ज्ञान का नाश नहीं होता है यह पहले ही निरूपण किया है । अथवा यों उसका ही यह अनुवाद है, ज्ञान का नाश क्यों नहीं होता है ? जिसका कारण है कि आप ईश्वर हैं, ईश्वर के अनुभव का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है, उससे भी कोई दूसरा वैसा अधिक हो वह नाश कर दे, यदि यों कहो तो इसका उत्तर है कि भगवान् अद्वितीय हैं अर्थात् भगवान् के समान कोई अन्य है ही नहीं, न समान है, और न उनसे बढ़कर कोई है, अपने आधिदैविक अपनी स्वरूप भूत प्राणेन्द्रिय अन्तःकरण देह रूप अपनी विभूतियों से, आप ही वैसे हुए हैं, अथवा उन स्वरूपभूत प्राणादि से लीला करने के लिए अपने को छिपा रखा है, जिससे भ्रमित हमारे जैसे जोव, उनको अपने समान मानते हैं, इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि कैसा मानते हैं ? सूर्य की भाँति मानते, हैं, जैसे मनुष्य सूर्य को बादलों से आच्छादित,(हिम)पाले से निस्तेज और राहु से ग्रसित मानते हैं? वैसे ही भगवान् को अविद्या से ग्रस्त, तृष्णा, आदि से निस्तेज और शरीर से आच्छादित मानते हैं । वास्तविक तो सूर्य का मेघ आदि से सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि सूर्य और मेघ आदि का परस्पर बहुत अन्तर है, इसी तरह अन्य अर्थात् भगवान् भी अविद्याओं से ग्रस्तादि हैं यह झूठ है, मनुष्यों को अविद्या के कारण केवल भ्रम है, भगवान् वैसे कैसे होंगे ? भगवान् का प्रकार तो कहा ही है ॥३३॥

आभास—एवं तस्य भ्रान्तत्वमुक्त्वा तादृशं स्वनिस्तारार्थं सत्यमेव प्रार्थयत इति समर्थिते निःशङ्काः सन्तः उत्तरं दातुं प्रवृत्ता इत्याह **अथोचु**रिति ।

आभासार्थ—इस तरह उसका भ्रान्तपन कह कर, वैसे भगवान् को अपने निस्तार के लिए सत्य ही प्रार्थना करते हैं, यों समर्थन हो जाने पर निशङ्क हो 'अथोचुः' श्लोक से ऋषि उत्तर देने के लिए प्रवृत्त हुए—

श्लोक—**अथोचुर्मुनयो राजन्नाभाष्यानकदुन्दुभिम् ।**
सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! पश्चात् सब मुनियों ने वसुदेवजी को सावधान कर सब राजाओं और राम कृष्ण के सुनते हुए, वसुदेव को कहा ॥३४॥

सुबोधिनी—मुनित्वात् ज्ञानम् । **राजन्निति** सावधानार्थं संबोधनम् । **आभाष्येति** हे वसुदेव सावधानं शृण्वित्युक्त्वा । यतोऽ**यमानकदुन्दुभि**र्महान् । **सर्वेषां शृण्वता**मिति । अनेन तेषां कथने उत्साहः सूचितः । **तथैवाच्युतरामयो**रिति । युक्तिपूर्वकं सर्वसिद्धान्ताविरुद्धं भगवान् शृणोतीति निरूपयिष्यन्तीति ज्ञापितम् ॥३४ ।

व्याख्यार्थ—मुनि होने से वे ज्ञानी हैं अतः सब जानते हैं, राजन् ! सावधान करने के लिये संबोधन है। 'आभाष्य' इससे वसुदेव को कहा है, कि सावधान हो कर सुने क्योंकि वह वसुदेव आनक दुन्दभि होने से महान् है 'सर्वेषां शृण्वतां' सर्व के सुनते हुए पद से मुनियों को यों कहने में उत्साह था यह सूचन् किया है, भगवान् कृष्ण और राम के भी सुनते हुए कहने लगे, यों कहने का अभिप्राय है कि हम जो कह रहे हैं वह युक्ति पूर्वक है और शास्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हैं, ऐसा हो तब ही भगवान् सुनते हैं , इसलिए कहेंगे, यों जताया ॥३४

आभास—कर्मनिर्हारप्रकारमाहुः **कर्मणे**ति सप्तभिः ।

आभासार्थ—कर्म 'निर्हार का प्रकार कर्मणा कर्म निर्हारा' सात श्लोक से कहते हैं,

श्लोक—**कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः।**
यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः ॥३५॥

श्लोकार्थ आपने कर्म से कर्म का नाश हो ऐसा प्रश्न किया है । इसका जो प्रकार है वह सर्व वादियों ने अच्छी तरह सिद्ध किया है कि श्रद्धा पूर्वक सर्व यज्ञों के ईश्वर विष्णु का पूजन करना है, अर्थात् सर्व यज्ञेश्वर विष्णु के यजन कर्म से कर्म का नाश होता है ।

सुबोधिनी आदौ प्रकारमाहुः । **कर्मणा कर्मनिर्हारः** । **एष** अग्रे वक्ष्यमाणः सर्वैरेव सिद्धान्तिभिः **साधु निरूपित** इति प्रमाणम् । स कः प्रकार इत्याकांक्षायामाह **यच्छ्रद्धयेति** । श्रद्धा सर्वाङ्गं **विष्णुं यजेदिति** कर्मनिर्हारकं कर्म तत्र विष्णुशब्दः इन्द्रियाधिष्ठातृपरोपीति गुरुब्राह्मणादिचरणपूजयापि परंपरया विष्णुयागो भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह—**सर्वयज्ञेश्वर**मिति । सर्वयज्ञानामीश्वरो विष्णुरत्राभिप्रेतः यो यज्ञवराहरूपेणाविर्भूतः 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इति द्वितीयान्तवाच्यो यज्ञोऽत्राभिप्रेतः । स तु यज्ञैरेवेष्टो भवतीत्याह **मखैरिति** । ईश्वरपदेन **यज्ञेष्वेव** भगवतो नियोग इति भगवदाज्ञापरिपालनमिति प्रमाणमपि सूचितम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—आदि में प्रकार कहते हैं 'कर्म से कर्म का नाश'[१] जिस प्रकार हो वह जो हम आगे कह रहे हैं, उसको सब सिद्धान्त वालों ने श्रेष्ठ निरूपण किया है, यों प्रमाण हैं । वह कौन सा प्रकार है, इसकी अपेक्षा होने पर कहते हैं कि, श्रद्धा से सर्वाङ्ग विष्णु का यजन करना, यह जो कर्म है उससे कर्म का[१] नाश होता है वहाँ विष्णु' पद का भावार्थ, इन्द्रियों का अधिष्ठाता देव भी है, इस लिए गुरु और ब्राह्मणादि की चरण पूजा से भी परम्परा द्वारा विष्णुयाग होता है, इसकी निवृत्ति करने के लिए यहां 'सर्वयज्ञेश्वर' पद दिया है । जिसका भावार्थ है कि वसुदेव को समझाना है कि गुरु और ब्राह्मण पूजा से जो परम्परा द्वारा विष्णु याग माना जाता है उस विष्णु याग कर्म से कर्म निर्हार नहीं होगा, किन्तु सर्वयज्ञों का ईश्वर जो विष्णु, यज्ञवाराह रूप से प्रकट हुवे थे वह यहाँ अभिप्रेत है, उनके चरण पूजन कर्म से ही कर्म निर्हार होगा । जैसा कि कहा है 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतिः 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इस श्रुति में जो द्वितीया विभक्ति में 'यज्ञं' यज्ञ शब्द दिया है वह यज्ञ रूप 'विष्णु' अभिप्रेत है, वे तो यज्ञों से पूजित होते हैं इस लिए कहते हैं 'मखैः' यज्ञों से, ईश्वर पद से यज्ञों में ही भगवान् का नियोग है इसलिए भगवान् को आज्ञा का पालन करना चाहिए, यों प्रमाण का भी सूचन किया ॥३५॥

आभास—ननु परिचर्यादिरपि पञ्चरात्राद्यागमे निरूपितः उत्सवाश्च । ततो वैष्णवमार्गं परित्यज्य कथं श्रौत एव मार्गो निरूपित इति चेत् तत्राह **वित्तस्येति** ।

आभासार्थ—सेवा आदि भी पञ्चरात्र आदि 'आगमन में कही है और उत्सव भी कहे हैं । फिर वैष्णव मार्ग का त्याग कर श्रौत मार्ग ही कैसे निरूपण किया ? यदि यों कहो, तो इसका उत्तर वित्तस्योपशमोऽयं' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**वित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा ।**
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्मसुखावहः ॥३६॥

१- कर्म का नाश जिसका तात्पर्य है कि श्रद्धापूर्वक विष्णु के यजन से जीव कर्म के फलरूप स्वर्गादि लोक को प्राप्त कर भगवद्भक्ति प्राप्त कर सायुज्यादि मुक्ति पाता है ।

श्लोकार्थ—विद्वानों ने शास्त्र दृष्टि से वित्तस्योपशम और मोक्ष का उपाय तथा अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला सुगम धर्म भी यह बताया है ॥३६॥

सुबोधिनी—अयं प्रकारो विद्यमाने वित्ते **कविभिर्निरूपितः**। वैष्णवमार्गस्तु प्रायेणाकिंचनाधिकृत एव योस्माभिर्निरूपितो यागादिरूपः स तु वित्तस्यैवोपशमजनकः। शरीरं तु तद्द्वारा उपयुज्यते। एषा युक्तिरप्रमाणमिति चेत् तत्राह **कविभिः शास्त्रचक्षुषेति**। कर्तुः साधनस्य चोत्कर्षो निरूपितः। किंच। अयं सुगमो योगः। शरीरक्लेशापेक्षया बहिरङ्गत्वात्। किंच। अयमस्माभिर्धर्मो निरूपितः। न तु भक्तिः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इति श्रुतेः। एतस्य कर्मनाशकत्वमग्रे वक्तव्यम्। धर्मत्वे किं स्यादित्याशङ्कायामाह **आत्मसुखावह** इति। आत्मसुखमावहतीति, एतस्य कर्मनिर्हारकत्वं प्रतिज्ञातमिति आत्मसुखजनकत्वमधिकमित्यधिकं ज्ञातव्यम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यह प्रकार विद्वानों ने धन होते हुए ही बताया है अर्थात् जिनके पास धन है, वे यज्ञों द्वारा विष्णु का पूजन करें, वैष्णव मार्ग तो जो अकिञ्चन हैं, उनके लिऐ ही है। हमनें जो यागदि, प्रकार कहा है वह धनाढयों के लिए ही है। क्योंकि यों करने से वित्त से जो अनर्थ होते हैं वे नहीं होंगे। यदि कहो, कि शरीर भी यज्ञ द्वारा भगवान् के कार्यों में लग जाता है, तो यह युक्ति लौकिक होने से प्रमाणभूत नहीं हैं हमनें जो कहा है वह विद्वानों ने लौकिक युक्ति से सिद्ध नहीं किया है, किन्तु शास्त्र दृष्टि से अर्थात् जो शास्त्रों में कहा है उसको देखकर ही कहा है, अतः वही प्रमाण भूत समझ हमने कहा है, इससे कर्ता और साधन दोनों का उत्कर्ष निरूपण किया है। किञ्च। वह सुगम योग है, क्योंकि, शरीर क्लेश को अपेक्षा वहिरङ्ग है, और विशेष, यह जो हम लोगों ने कहा है, वह 'तानि, धर्माणि प्रथमान्यासन्' इस श्रुति के अनुसार धर्म (कर्म) कहा है, न कि भक्ति कही है, यज्ञ द्वारा कर्म नाश होता है यह आगे कहा जायेगा, धर्म पन से क्या होगा? जिसके उत्तर में कहते है कि 'धर्म' आत्म सुख देता है, इसको कर्म नाशक माना गया है आत्म सुख जनक है, यह तो अधिक है यों जानना ॥३६॥

आभास—नन्वन्येष्वपि मार्गेषु विद्यमानेषु कथमयं निरुक्त इति चेत् तत्राह **अयं स्वस्त्ययनः पन्था** इति।

आभासार्थ—जब कि दूसरे मार्ग भी विद्यमान हैं तो कैसे यह ही प्रमाण समझ कर कहा? यदि यों कहा जाय तो इसका उत्तर निम्न श्लोक में देते हैं:—

श्लोक—**अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।**
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—न्याय से इकठ्ठे किए हुए धन से श्रद्धा पूर्वक ईश्वर का यज्ञादि से पूजन करना यह ही गृहस्थी द्विजाति के लिए कल्याण का मार्ग हैं ॥३६॥

सुबोधिनी--गृहस्थस्यायमेव मार्गः **स्वस्त्ययनः** अन्ये तु सर्व एव मार्गा गार्हस्थ्यमञ्जकाः। 'यदनुचरितलीला' इत्यादिषु निरूपिताः। अतोऽयमेव मार्गो गृहस्थं गृहे स्थापयति। किंच। द्विजातिमात्रस्यात्राधिकारः अन्यत्र त्वन्यदपि बीज-संस्कारादिकमधिकारिविशेषण मृग्यते। एवं साधयित्वा निश्चितं विशिष्टमनुवदति **यच्छ्रद्धयेति**। **आप्तेन** स्वयं प्राप्तेन, **वित्तेन** अनाशकेन हितकर्त्रा, **शुक्लेन** सन्मार्गप्राप्तेन, **पूरुषं** यज्ञपूरुषं **शुद्धया** यजेत इति यत् **अयमेव पन्था** इति संबन्धः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—गृहस्थी के लिए यह ही मार्ग कल्याण कारी है, दूसरे सब मार्ग गृहस्थ धर्म को तोड़ने वाले हैं, 'यदनुचरितलीला' इत्यादि में निरूपण किये हैं अतः यह ही मार्ग है जो गृहस्थ को गृह में स्थापित करता है। किञ्च। इस धर्म में द्विजाति मात्र को अधिकार है, दूसरों में तो अन्य भी हैं जैसे, बीज और संस्कार आदि से अधिकार[1] प्राप्त अधिकारी चाहिए। इस प्रकार सिद्ध कर निश्चित और जो उत्तम है उसको कहते हैं, 'यच्छ्रद्धया' अपने आप इकट्ठे किए हुए, हितकारी तथा सत्य मार्ग से कमाए हुए पवित्र धन से यज्ञ पुरुष का श्रद्धा से यजन करे, यों जो मार्ग है वह ही इसके लिए उचित है, इस प्रकार सम्बन्ध है ॥३७॥

आभास—नन्वेतस्य कर्म निर्हारकत्वं तत्राह **वित्तेषणामिति**।

आभासार्थ—इस यज्ञ द्वारा भगवान् के पूजन को कर्म निर्हार कैसे? इसका उत्तर 'वित्तेषणां' श्लोक से देते है।

श्लोक-- **वित्तेषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतेषणाम्।**
आत्मलोकेषणां देव कालेन विसृजेद्बुधः॥
ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—जिसके मन में धन की आशा हो, अर्थात् जो धनवान होना चाहता है उसको इस आशा को त्यागने के लिए प्रथम धन शुद्ध रीति से कमाना चाहिए, धन इकट्ठा होने के बाद उससे मोह निकालने के लिए वह धन यज्ञ और दान आदि में खर्च करना चाहिये, जिससे आशा मोह का नाश हो जावे। जिसको स्त्री व पुत्र की कामना हो, उसको गृहस्थी हो, पुत्र आदि प्राप्त कर उनसे व्यवहार सुखादि का अनुभव कर उनसे ईषणा (कामना) का त्याग करना चाहिए। हे देव! स्वर्गादिलोक की कामना को स्वर्ग में जाकर वहाँ के सुख भोग काल से लौट आने से उस ईषणा को बुद्ध पुरुष छोड़ दें। इस प्रकार ग्राम में रहते हुए ईषणाओं का त्याग कर बहुत धीर पुरुष तपोवन में प्रविष्ट हुए हैं

१- ज्ञान मार्ग में पञ्चाग्नि विद्या से साधित देह चाहिये और भक्ति मार्ग में अलौकिक देह चाहिये। ऐसे देह वाले ही उन मार्गों में अधिकारी हो सकते हैं।

२- 'वित्त' अर्थात् धन, इस पद का भावार्थ है कि धन हितकारी और रक्षक है। यच्छ्रद्धया कहते हैं।

सुबोधिनी—ईषणात्रयपरित्यागः कर्मबन्धाभावज्ञापकः। कर्माणि हि ईषणाद्वारैव बध्नन्ति। ईषणाभावे तु कर्माभावः सिद्ध एव । लोके ईषणात्रयं **वित्तेषणा दारेषणा लोकेषणेति ।** त्रयाणां परित्यागप्रकार उच्यते **वित्तेषणां यज्ञदानैरिति** । यस्य वित्ते महतीच्छा भवति तेन वित्तोपार्जनं कृत्वा यज्ञदानानि कर्तव्यानि ततो वित्तस्य बहुधा व्यवहृतत्वात् तदिच्छा निवर्तते । अदृष्टद्वारापि तद्यज्ञदानादिकमन्तःकरणशुद्धिमुत्पाद्य निवर्तयतीत्यवगन्तव्यम् । ततो **दारसुतेषणा** गृहस्थाश्रमैर्दूरीकर्तव्या । गार्हस्थ्ये तासां संव्यवहारो बहुधा भवतीति दारसुतानां व्यवहृतत्वात् तदिच्छापि निवर्तते। **आत्मनां लोकानां** स्वर्गादिलोकानाभीषणा **देव कालेन** देवैः सहः क्रीडया **बुधः** पण्डित एव **विसृजेत्** । तत्र वैराग्यस्य ज्ञानैकसाध्यत्वात्, अत एव वेदे स्वर्गार्थमेव यज्ञा निरुक्ताः। अन्यत्तु द्वयं प्रसङ्गादेव सेत्स्यति । स्त्रीवित्तव्यतिरेकेण यज्ञाभावात्, अत एव स्त्रीणामधिकारशरीरे प्रवेश उक्तः। धनस्य च क्रियायाम् । अन्यथा मानसा एव यज्ञा वेदे उक्ताः स्युः। अन्यथा श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद्' इति वाक्याद् द्रव्ययज्ञानामधमत्वे तत्प्रतिपाद्यो वेदो विरुद्ध्येत । इदमेव वेदस्य तात्पर्यं मन्यन्ते मुनयः अत एवात्मसुखावहो धर्म इति स्वर्गात्मकयज्ञार्थमेव यागाः कर्तव्या इति यथा श्रुतैव श्रुतिः समर्थिता। अत एवाश्रमधर्माणामपि विधिरिति वक्तुं गार्हस्थ्यविधेरेतदेव प्रयोजन-मित्याह **ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्वं** इति। ग्राम एव स्थित्वा ईषणाविनिर्मोकः कर्तव्यः अनेनैतज्ज्ञापितं पूर्वं यागे कृते स्वर्गे च जाते ततो लोकविरागं प्राप्य पुनरागत्य गार्हस्थ्य एवाङ्गत्वेन पूर्वं व्यवहृतसुवर्णस्त्रीणां लोकाकांक्षाभावात् प्राधान्येन व्यवहारं कृत्वा तत् ईषणात्रयं परित्यज्य तथा चित्तशुद्ध्यभावे विक्षिप्तमपि मनः धैर्यं प्रापयित्वा सम्यक् चित्तशुद्ध्यर्थं पुनर्गमनक्लेशं परित्यज्य **तपोवनमेव विविशुः ।** तपसा सम्यक् चित्तशुद्धिर्भविष्यतीति ये त्वेकजन्मपरतयैव सर्वं व्याचक्षते ते चिन्त्याः। **देवेति** वसुदेवसंबोधनम्। कालेनेत्यनुपायं चाहुः तेषां लोकेषणाया अनिवृत्तत्वात्कथं सर्वेषणापरित्याग इति। **बुध** इत्यनेन ज्ञानेनैव तन्निवृत्तिः अन्यत्रापि तुल्या । किंच पूर्वं यागानां कर्तव्यता ईषणापरित्यागार्थमुक्ता तद्द्वारा कर्मनिर्हरणार्था भवति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—कर्म बन्धन न हो, जिसके लिए तीन प्रकार की ईषणाओं का त्याग करना चाहिए, ईषणा अर्थात् कामनाएँ, इनके द्वारा ही कर्म, बन्धन में डालता है। कामना न हो तो कर्म का स्वतः अभाव हो जाता है, फिर बन्धन का प्रश्न ही नहीं रहता है। लोक में वित्तेषणा, दारेषणा, लोकेषणा, यों तीन प्रकार की ईषणाएँ हैं इन तीनों का त्याग कैसे हो ? जिनके त्याग का प्रकार बताते हैं वित्तेषणा को यज्ञ और दानादि से नष्ट करे, जिसको धन की बहुत इच्छा है उसको चाहिए कि वित्त का उपार्जन कर यज्ञ और दानादि करे, जिससे धन का बहुत कार्यों मे फैल जाने से उसकी आशा स्वतः निवृत्त होती जाएगी। वह यज्ञ, दान रूप कर्म अदृष्ट द्वारा भी अन्तःकरण की शुद्धि को कर कामना को निवृत्त कर देता है. पश्चात् यदि स्त्री और पुत्र की चाहना हो, तो गृहस्थाश्रमी बन कर उस चाहना को हटाना चाहिए क्योंकि, गृहस्थाश्रम में स्त्री पुत्र आदि का व्यवहार अनेक प्रकार का होता है, जिसका अनुभव करते हुए मनुष्य ऊब जाता है, जिससे उसकी कामना धीरे-धीरे स्वतः मिट जाती है। जो बुध अर्थात् पण्डित हैं, व स्वर्ग आदि लोकों की कामना को, वहाँ कुछ समय रह कर देवताओं से क्रीडा करते हुए वहाँ का सुख भोग पश्चात् उसको त्याग दें, वहाँ वैराग्य, केवल ज्ञान से सिद्ध होता है, अतएव वेद में स्वर्ग के लिए ही यज्ञों का करना लिखा है, दूसरे दो, तो प्रसङ्ग से ही आएँगे। स्त्री और धन के सिवाय यज्ञ हो नहीं सकता है,

अत एव स्त्रियों का अधिकार शरीर में प्रवेश कहा है, और धन का क्रिया में प्रवेश कहा है अर्थात् स्त्री होने पर ही पुरुषों को यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त होता है। धन होने से ही यज्ञ का कार्य सिद्ध होता है, यों नहीं होता तो वेद में मानस यज्ञ ही कहे जाते थे, अन्यथा 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद्' इस वाक्य से द्रव्य यज्ञों के अधमपन होने से उसका प्रतिपादक वेद विरुद्ध हो जाए, मुनि वेद का यही तात्पर्य मानते हैं, अत एव आत्म सुख देने वाला धर्म है, इस लिए स्वर्गात्मक यज्ञ के लिए ही त्याग करना चाहिए यों यथाश्रुत श्रुति का समर्थन किया है। इस कारण से, आश्रम धर्मों की भी विधि है यों कहने के लिए गार्हस्थ्य विधि का यही प्रयोजन है वह बताते हैं कि ग्राम में ही रह कर ईषणा (कामनाओं) का त्याग करना चाहिए, इससे यह जताया कि पूर्व जन्म में त्याग करने से स्वर्ग मिला, वहाँ रहकर लोक विराग पाकर फिर आके गार्हस्थ्य ही अङ्गत्व होने से, पहले स्त्री और स्वर्ग तथा लोकों की जो आकाङ्क्षा थी, उसके मिट जाने से प्रधानता से व्यवहार कर, उन तीन ईषणाओं का त्याग, तथा चित्त की शुद्धि के अभाव में मन की विक्षिप्तता होते हुए भी धर्य धारण कर, सम्यक् चित शुद्धि के लिए, फिर जाने से क्लेश को त्याग कर तपोवन में ही प्रवेश किया। तपस्या से ही चित्त की शुद्धि होगी, यों जो कोई एक जन्म में ही हो जाएगा इस प्रकार विचारते हैं, वे विचारणीय हैं, अर्थात् इनके इस सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए कि, यह कहाँ सत्य सिद्ध होता है, हे देव ! यह वसुदेव के लिए संबोधन है, कालेन' पद से कोई अन्य उपाय नहीं है। यों कहते हैं, क्योंकि उनकी लोकेषणा हो निवृत्त नहीं हुई है, तो सब ईषणाओं का परित्याग कैसे होगा ? 'बुध, पद से यह बताया है कि ज्ञान से ही उनकी निवृत्ति होती है। अन्यत्र भी तुल्य है, पहले यज्ञों की कृर्तव्यता ईषणाओं के परित्याग के लिए कही है, उनके द्वारा बह कर्म निर्हरण के अर्थ वाली होगी ।।३८।।

आभास— इदानीं तु ऋणापाकरणार्थमेव यज्ञाः कर्तव्या इत्याह **ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जात** इति ।

आभासार्थ—अब 'ऋणैस्त्रिभिः' श्लोक से ऋणों के भार को उतारने के लिए यज्ञ करना चाहिए यों कहते है।

श्लोक—**ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृऋणां प्रभो ।**
यज्ञाध्ययनदानैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ।।३९।।

श्लोकार्थ—हे वसुदेवजी ! द्विज, तीन ऋणों को लेकर जन्मा है (१) देव (२) ऋषि और (३) पितरों का इन तीन ऋणों को यज्ञ, वेदाध्ययन और दान द्वारा न उतार कर यों ही जो वन में चला जाता है उसका पतन होता है ।।३९।।

सुबोधिनी— 'जानमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि-ऋणवान् जायते' इति श्रुतेः। ब्राह्मणों जायमानः उपनीयमानः। तानि ऋणानि गणयति **देवर्षिपितृऋणामिति** 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य' इति श्रुतेः अत्र तु पित्रर्णपरित्यागं दानेनाह **यज्ञाध्ययनदानैरिति** ।

दानमत्र संततिदानमेव, पिण्डदानमित्येके। तत्पुत्राणां कर्तव्यमिति फलतो निरूपितम्। येषां पुनः ईषणाविनिर्मोको जात एव तेषामपि ऋणविमोको न जात इति मुख्यपक्षे गार्हस्थ्यानन्तरमेव संन्यास इति मतमाश्रित्याह **अनिस्तीर्य त्यजन् पतेदिति** 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् अनपाकृत्य तांस्तु मोक्ष मिच्छन व्रजत्यधः' इति मनुवाक्यात्। ननु 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतेः का गति। उच्यते। ईषणाभाव ऋणाभावाश्च मोक्षात्पूर्वभावी। एकमधिकारिविशेषणं,द्वितीयः प्रतिबन्धकाभावः। अधिकारिविशेषणं तु मृग्यमेव। प्रतिबन्धकाभावे तु भगवद्भजनोत्तम्भकसद्भावेपि कार्यं भवति। यथा तदवदानैरेवावदयत इति अङ्गावदानेनापि ऋणत्रयमपागच्छति। एवं स्वाध्यायेनापि केवलेन पूर्वं बहुधा ऋणापाकरणं कृतम्। 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति' इति। 'भ्रातृऋणामेकजातानाम्' इति वाक्यन्यायेन भ्रातृपुत्रण पितृऋणनिवृत्तिसंभवे अन्यैर्वा दत्तादिभिः 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति वाक्यं सिद्धं भवति। तस्माद्यो मुख्यः प्रथमाधिकारी तेन ऋणापाकरणमीषणानिवृत्तिश्च कर्तव्येति ऋषिभः साधूक्तम्॥३९॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण जन्मते ही तीन ऋणों वाला बनता है, यों श्रुति कहती है वे ऋण बताते हैं(१)देवऋण*(२)ऋषिऋण(३)पितृऋण इन तीनों को इस प्रकार उतारना चाहिए,ब्रह्मचर्य** धारण कर वेद आदि पढ़ कर ऋषि ऋण उतारना चाहिए, यज्ञों को कर देव ऋण से मुक्त होना चाहिए, प्रजा पैदा कर पितृ ऋण से मुक्ति पानी चाहिए, यहां मुनियों ने दान से, पितृऋण से मुक्ति पानी कही है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ दान का तात्पर्य सन्तति उत्पन्न कर देना, यह दान का आशय है, कोई कहते हैं कि 'दान' का तात्पर्य पिण्ड दान है, पिण्ड दान करना पुत्रों का कर्त्तव्य है, यह फल से निरूपण किया है। जिन की फिर ईषणाएं छुट भी गई हैं उनके ये तीन ऋण नहीं उतरते हैं, यों मुख्य पक्ष में गृहस्थ के बाद ही संन्यास की आज्ञा है। इस मत को लेकर कहते हैं कि इन ऋणों को न उतार कर जो संन्यास लेता है वा वानप्रस्थी बनता है। उसका पतन होता है, इसीलिए मनु ने भी कहा है कि तीन ऋणों को उतार कर मोक्ष में मन[1] लगावे। यदि यों हो तो 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतियों का निर्णय कैसे होगा? इस पर कहते हैं कि इसका निर्णय यों होगा, ईषणाओं का अभाव और ऋणों का अभाव मोक्ष से प्रथम होने वाले हैं। एक अधिकारी का विशेषण है और दूसरा प्रतिबन्धक का अभाव है, अर्थात् जिसकी ईषणाएँ निवृत्त हो गई हैं, वह अधिकारी है, और जिसने ऋण चुका दिए हैं उसके प्रतिबन्ध मिट गए हैं। अधिकारी के विशेषण तो विचारणीय हैं ही प्रतिबन्धक ऋणों के अभाव हो जाने पर तो भगवद्भजन की वृद्धि करने वाले सद्भाव में भी, कार्य सिद्ध होता है। जैसे 'तदवदानैरेवावदयत' यों अङ्ग मात्र कार्य से भी तीन ऋण उतर जाते हैं, इसी प्रकार केवल ब्रह्मचर्य धारण कर वेद अध्ययन से भी आगे बहुतों ने ऋणों से मुक्ति पाई है। जैसा कि कहा है 'यंयं क्रतुमधीते[2] तेन तेनास्येष्टं भवति भ्रातृणामेकजातानाम्'[3] इस वाक्यानुसार भ्राता के पुत्र

---

* जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि र्ऋणवान् जायते इतिश्रुति,

** ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति श्रुतिः

१—ऋणाति त्रीण्युपाकृत्य मनो मोक्षे निवेश्यतेत् अनपाकृत्य ताश्चैस्तु मोक्षामिच्छान् व्रजत्यधःमनुः

२—जिस-जिस वेद को पढ़ता है उस-उस से उसका मनोरथ पूर्ण होता है

३—भ्राता के पुत्र भतीजों के.

द्वारा पिण्ड दान पितृ ऋण की निवृत्ति हो जाती है अथवा दत्तक (गोद) लिए हुए आदि द्वारा पिण्ड दान से भी पितृ ऋण उतर जाता है इसी प्रकार 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' वाक्य की सिद्धि हो जाती है, इस कारण से, जो मुख्य प्रथम अधिकारी है, उसको ऋणों से मुक्ति और ईषणाओं से निवृत्ति लेनी चाहिए, यों ऋषियों ने जो कहा है वह सुन्दर अच्छा कहा है ।।३६।।

आभास—एवं ऋणापाकरणकर्तव्यतामुक्त्वा ऋणत्रयमध्ये ऋणद्वयमतीतं ऋणमात्रमवशिष्यत इत्याहुः **त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यामिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऋणों से मुक्त होने की कर्त्तव्यता कह कर तीन ऋणों में से दो ऋण तो आपने उतार दिए हैं, शेष देव ऋण यज्ञ द्वारा उतार दो ये दो निम्न श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निरृणोऽशरणो भव ।।४०।।
वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे महामते ! तुम ऋषि और पितृ ऋण से मुक्त हो गए हो, अब यज्ञ कर देव ऋण से उन्मुक्त हो जाओ, यों करने से सर्व ऋणों के बन्धन से छूट जाओगे, पश्चात् सब त्याग करना उचित होगा । हे वसुदेव ! तुमने जगत् के स्वामी ईश्वर का परम भक्ति से पूजन किया है जिससे प्रभु तुम्हारा पुत्र बना है ।।४०-४१।।

सुबोधिनी—वेदाः पठिताः पुत्राश्चोत्पादिता इति ऋषिपित्रो ऋणाभ्यां भवान् मुक्तः । **महामत** इति यज्ञाधिकारो निरूप्यते अजडत्वाय । अतो **यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निरृणः सन पश्चादशरणः** सर्वपरित्यागे युक्तो **भवे**त्यर्थः । भिक्षुर्हि अनग्निरनिकेतनो भवति । एवं प्रकारत्रयेण यज्ञकरणमुपदिष्टं कर्मनिर्हारार्थमीषणापरित्यार्थं ऋणापाकरणार्थं चेति । भगवान् भवदीयो जात इति भगवत्पूजार्थं च कर्तव्यमित्यग्रिमश्लोकेनोच्यत इत्येके । अन्ये तु तव देवादिऋणमेव नास्ति त्वं यतो **जगतामीश्वरं प्रार्चः** अतस्तव यागस्यान्यत्र विनियोगाभावात् कर्मनिर्हारार्थमेव तव यज्ञो भविष्यतीत्याहुः वस्तुतस्तु त्वं कृतार्थः । तव कर्मनिर्हारादिकं नापेक्ष्यत इति मूलप्रश्ने उत्तरमुक्तं भवति । **परमया भक्त्या** पूजितश्चेद्भगवान् परमप्रीत्याश्रयः स्वयमपि जात इति **स पुत्रतां गत** इत्यर्थः । एवं यज्ञाः कर्तव्या इत्युक्तं भवति ।।४०-४१।।

व्याख्यार्थ—तुमने वेद पढे पुत्र उत्पन्न किए यों ऋषि तथा पितरों के ऋण से मुक्त हो गए हो, तुम जड़ नहीं हो, अर्थात् समझदार हो इस लिए आपको यज्ञ करने का अधिकार है, अतः यज्ञों के करने से देवों का ऋण उतार कर उऋण हो पीछे सर्व परित्याग करने में मन लगाओ । त्यागी ही अग्नि और अनिकेत होता है, इसी भाँति, यज्ञ के करने का तीन तरह उपदेश दिया है ।

ईषणाओं के त्याग, कर्म के नष्ट हो जाने के लिए तथा पितृ ऋण चुकाने के वास्ते, भगवान् आपके हुए, इस लिए उनके पूजन के लिए यज्ञ करने चाहिए यों आगे के श्लोक से कोई कहते हैं, दूसरे कहते हैं, कि तुम्हें तो देवऋण है ही नहीं, क्योंकि तुमने जगतों के ईश्वर की पूजा की है जिससे वे तुम्हारे पुत्र हो, प्रगट हुए हैं, अतः तुम्हारे यज्ञ का विनियोग अन्यत्र नहीं होगा, कर्म मिटाने के लिए ही तुम्हारा यज्ञ होगा, वास्तव में आप तो कृतार्थ ही हैं तुम्हे कर्म मिटाने की अपेक्षा ही नहीं है, यों मूल प्रश्न का उत्तर दिया है, परमा-भक्ति से पूजे हुए भगवान्, परम प्रीति के आश्रय स्वयं भी हुए हैं इस लिए ही वे तुम्हारे पुत्र बने हैं, इस प्रकार यज्ञ करने चाहिए, यों कहा है ।।४०, ४१।।

आभास—ततो ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यमिति देवानामपि कुरुक्षेत्रमेव वेदिरिति भाग्यतो ऋषयः समागता इति तेषां वचनं कृतवानित्याह **इति तद्वचनं श्रुत्वेति** ।

आभासार्थ—यज्ञ में ऋत्विज, ब्राह्मण ही होते हैं, देवों की वेदी (यज्ञ स्थली) कुरुक्षेत्र ही है, भाग्य से यहां ऋषि भी आगए हैं, इस लिए उनका वचन मान कर यज्ञ करने लगे वह'इति तद्वचनं श्रुत्वा' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।**
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च ।।४२।।

श्लोकार्थ - श्री शुकदेवजी ने कहा कि महामना वसुदेवजी ने ऋषियों के ये वचन सुनकर, उन ऋषियों को मस्तक से प्रणाम किया और उनकी स्तुति की, अनन्तर उनको ऋत्विक बनाया ।।४२ ।

सुबोधिनी—महामनाः यज्ञकरणे प्रोत्साहयुक्तः । **तानेव** पूर्वोक्तान**ृषीन्** । **ऋत्विक्**त्वेन वव्रे। ओदनं पचतीतिवत् वरणेन तान् ऋत्विजः कृतवानित्यर्थः । **मूर्ध्नानम्येति** नमनेनैव वशीकृताः । अस्माभिरुक्तं कर्तव्यमिति कथमस्माभिरेव यागः कर्तव्य इति तेषां संकोचाभावः कारित इत्याह **प्रसाद्ये**ति । **चकारात्** स्तोत्रादिकमपि कृत्वा ।।४२।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी को महामना कहने से यह सिद्ध किया है, कि ऋषियों की यज्ञ करने की आज्ञा सुनकर उत्साह से युक्त हो गए अर्थात् यज्ञ करने के लिए तैयार हो गए सूमों (कंजूसों की तरह धन भारी व्यय होगा इससे धन कम हो जाएगा, ऐसा विचार मन में आने नहीं दिया इस लिए वसुदेवजी को 'महामना' कहा है । पहले कहे हुए उपदेश करने वाले ऋषियों को ही ऋत्विक बनाया है 'ओदनं पचति' इसी तरह वरण करने से उनको ऋत्विक किए, यों अर्थ है, मस्तक से प्रणाम किया, जिससे उनको वश कर लिया, हमने जिस यज्ञ का उपदेश किया है वह याग हम ही ऋत्विग् बनकर करें, इस विचार से ऋषियों को भी संकोच न हुआ, क्योंकि उनको प्रसन्न कर वश में कर लिया था, 'च' पद से यह सूचित किया है कि स्तुति आदि भी कर ऋषियों को प्रसन्न कर वश में किया ।।४२।।

आभास—ततः सोमप्रवाककृत वरणे जाते द्वैपायनादयः तं याजयामासुरित्याह **त एन**मिति ।

आभासार्थ—पश्चात् शास्त्रानुसार वरण हो जाने पर द्वैपायन आदि ऋषियों ने उसको यज्ञ करवाया यों 'त एनमृषयो' श्लोक में वर्णन करते हैं

श्लोक—**त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकः ।**
तस्मिन्नयाजयन्क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ।।४३।।

श्लोकार्थ—हे महाराज ! धार्मिक रीति के अनुसार वरे हुए ऋषि लोग, कुरुक्षेत्र में धर्मात्मा वसुदेवजी को, उत्तम कल्प युक्त यज्ञों से यजन कराने लगे ।।४३।।

सुबोधिनी—**धर्मेण** न तूत्कोचनादिकं कृत्वा यतो **धार्मिकः** सः । यादवाः वैदिकधर्मेण प्रशस्ता इति वसुदेवे विशेष उक्तः **तस्मिन्**नेव **क्षेत्रे अयाजयन्** । **मखैः** सर्वैरेव । **उत्तमः कल्पो** येषां न क्वाप्यनुकल्पः कृत इत्यर्थः ।।४३।।

व्याख्यार्थ—धर्म पूर्वक ही यज्ञ कराए, न कि उत्कोचन आदि से यज्ञ कराए, क्योंकि यादव सब वैदिक धर्म से कर्म करने में प्रशंसा किए हुए हैं जिसमें भी वसुदेव को विशेष कहा है, उस ही कुरुक्षेत्र में यज्ञ करने लगे सब यागों से कर्म करने लगे वह कर्म यज्ञ उत्तम कल्प से किया, कहीं भी अनुकल्प नहीं किया यों अर्थ है ।।४३।।

आभास—एवं वैदिकसमृद्धिमुक्त्वा लौकिकसमृद्धिमाह **तद्दीक्षायां प्रवृत्ताया**मिति ।

आभासार्थ—वैदिक समृद्धि कह कर 'तद्दीक्षायां' श्लोक में लौकिक समृद्धि कहते हैं ।

श्लोक—**तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।**
स्नाताः सुवाससो राजन्राजानः सुष्ठलंकृताः ।।४४।।

श्लोकार्थ—जब वसुदेवजी ने यज्ञ की दीक्षा ली तब सब यादवों ने कमल माला धारण की और सब अन्य राजाओं ने स्नान कर, सुन्दर वस्त्र धारण कर आभुषणों से अपने को अलंकृत किया ।।४४।।

सुबोधिनी—सर्व एव **वृष्णयः** कमलमाला-युक्ता जाताः । अनुवादो वा । अनेन भगवत्सा-रूप्यं निरूपितम् । ततः **स्नाताः** अभ्यङ्गेन, **सुवाससो** जाताः **अलंकृताश्च** ।।४४।।

व्याख्यार्थ—सब यादवों ने कमल माला धारण की, अथवा अनुवाद है । इससे उन्होंने अपना भगवान् से सारूप्य प्रकट दिखाया, राजा लोग अभ्यङ्ग लगा के स्नान कर, सुन्दर वस्त्र पहन आभूषणों से अलंकृत हुए ।।४४।।

कारिका—शिवादिसर्वदेवानां दातृत्वमविचारतः ।
विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः ।।७।।

कारिकार्थ—शिव आदि देव बिना विचार किये दान देते हैं, किन्तु विचार पूर्वक श्रेष्ठ ढंग से दान देने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं ।।७।।

कारिका—अविचारितदानेन स्वयं दातापि नश्यति ।
सम्प्रदानस्य का वार्ता तस्माच्छ्रीशो न तत्प्रदः ।।८।।

कारिकार्थ—बिना विचार किये यों ही दान देने से दाता का भी नाश होता है तो लेने वाले की क्या दशा होगी ? वह कही नहीं जाती है, इससे लक्ष्मीपति बिना विचार किए दान नहीं देते हैं ।।८।।

कारिका – दुष्टैव श्रीरन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा ।
कृष्णमेव ततो वाञ्छेन् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित् ।।९।।

कारिकार्थ—अन्य किसी के पास जो लक्ष्मी जाती है, वह चंचल दोष युक्त है, केवल जो लक्ष्मी भगवान् के पास है वह चंचल दोष रहित होने से शुद्ध है, जिससे भगवान् दोष रहित हैं, अतः बुद्धिमान को भगवान् की प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए न कि लक्ष्मी की इच्छा करनी चाहिए ।।९।।

आभास—पूर्वाध्याये परब्रह्मरूपे भगवति प्रमाणविषयदोषान् परिहृत्य प्रमेयविषये भगवद्दोषपरिहारार्थमध्यायान्तरमारभते । तत्र राजा भगवति दातृत्वे संदिहानः अदातृत्वस्य च लोके निन्दाश्रवणान् निर्णयार्थं पृच्छति **देवासुरमनुष्येष्विति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—परब्रह्मरूप भगवान् कृष्ण में, प्रमाण विषयक जो सत्यादि गुणरूप दोष प्राप्त हुए थे, पूर्वाध्याय में निर्गुण ही प्रमाण विषय है यों कहकर उन दोषों का परिहार किया । अब प्रमेय रूप भगवान् श्रीकृष्ण में अदातृत्व आदि दोषों के परिहार के लिए यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हैं, राजा परीक्षित भगवान् में दातृत्व का संदेह करता है और लोक में अदाता की निन्दा सुनी जाती है, जिससे इस विषय के निर्णय के लिए 'देवासुर मनुष्येषु—से दो श्लोकों में पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच-**देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।**
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ।।१।।

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि देव, असुर और मनुष्यों में जो अशिव शिव का भजन करते हैं, वे धनादि से सुख भोगते हैं अर्थात् उनके पास प्रायः धनादि सुख के साधन प्राप्त होते हैं और जो हरि की सेवा करते हैं, वे न धनाढ्य होते हैं तथा न ही सुख भोगते हैं ।।१।।

सुबोधिनी त्रिविधा जीवा उपासनसमर्था-स्तेषां भगवदुपासनं विधीयते अन्योपासन-व्यावृत्तिपूर्वकम् । तत्रान्येषामैहिकदातृत्वे कथं व्यावृत्तिः स्यादिति महादेव उपक्षिप्यते । त्रिविधेषु जीवेषु ये **अशिवं** लक्ष्मीकृतशोभारहितं नाम्ना शिवं कल्याणरूपं वा **ये भजन्ति ते प्रायेण धनिनः** । ज्ञानार्थिनस्तु ततो धनं न वाञ्छन्ति इति **प्रायेणोक्तम्** । **भोजा** भोक्तारश्च । दान-भोगक्षमं धनं शिवः प्रयच्छतीति, यदि भगवानपि प्रयच्छेत् तदोक्तं दूषणं न संगच्छत इति प्रकृते निषेधति **न तु लक्ष्म्याः पतिमिति** विद्यते लक्ष्मीः स्वयं परदुःखहर्ता च ये लक्ष्मीपतिमुपासते न ते धनिनो न वा भोजा इत्यर्थः । गुणानां तारतम्य-मत्र विचार्यते इति तुल्यता ।।१।।

व्याख्यार्थ—देव असुर और मनुष्य तीन प्रकार के जीव ही क्यों कहे ? पशु आदि भी जीव हैं वे क्यों न कहे ? अतः यों कहने का हेतु आचार्य श्री 'उपासन समर्थाः' पद से प्रकट करते हैं कि, इन तीनों के सिवाय पशु आदि जीव उपासना करने में असमर्थ हैं, इसलिए ये तीन कहे हैं, ये तीन ही उपासना कर सकते हैं, यों कहकर दूसरे देवों की उपासना का निषेध दिखा भगवान् को ही उपासना का विधान करते हैं, दूसरे देव भी ऐहिक सुख देते हैं, उनका निषेध कैसे किया जाता है ? इसलिए इस सम्बन्ध में महादेव की सूचना करते हैं, इन तीन प्रकार के जीवों में से जो, लक्ष्मी द्वारा प्राप्त शोभा से रहित हैं ऐसे शिव की उपासना करते हैं, वे धनी होते हैं, जो ज्ञान चाहते हैं वे तो बहुत कर शिव से धन की इच्छा नहीं करते हैं, और वे, केवल धनी नहीं किन्तु भोगी भी होते हैं, कारण कि शिव वह ही धन देता है जिस धन से दान[1] भोग हो सके, जो कदाचित् हरि, धन देवे तो, उस धन में कहा हुआ भोगादि दूषण न होगा, इसलिए प्रकृति में निषेध करते हैं कि, वे लक्ष्मी के पति का भजन करने वाले वैसे नहीं होते हैं, अर्थात् पैसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, यद्यपि लक्ष्मी भगवान् के पास है, जिससे आप शोभायमान भी हैं तो भी नहीं देते हैं, क्योंकि वे आप सकल प्रकार के दुःखों के हर्ता हैं, अतः जो लक्ष्मी के पति को सेवा करते हैं, वे न धनी बनते हैं और न भोगी होते हैं, दोनों में स्वरूप से तो तुल्यता[2] है किन्तु गुणों के कारण तारतम्यता कही है ।।१।।

आभास— नन्वेवमेव स्वभाव इति चेत् तत्राह **एतद्वेदितुमिच्छाम** इति ।

आभासार्थ—यदि दोनों (शिव और हरि के स्वभाव इसी प्रकार के ही हैं तो, मैं इसको जानना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों ?

श्लोक—**एतद्वेदितुमिच्छामः संदेहोऽत्र महान्हि नः ।**
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ।।२।।

श्लोकार्थ—परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले प्रभुओं[3] के भजन करने वालों को फल भी विरुद्ध मिलता है। जैसे धनादि देने वाले शिव[4] के भक्तों को धनादि फल मिलता

१- शिव इतना धन देते हैं जिससे शिव भक्त दूसरों का पालन पोषण कर सकते हैं और अपना व्यवहार भी अच्छी तरह चलाते हैं । २- एकत्व ३- समर्थ वालों ४- लक्ष्मी रहित

है और धनादि न देने वाले[५] हरि के भक्तों को धनादि भोग नहीं मिलता है, इस विषय में हमको महान् संदेह है, अतः इसको जानना चाहता हूँ कि यह क्यों?॥२॥

सुबोधिनी—एतदत्रत्यं संदेहनिवर्तकं यतोऽत्र **महान् संदेहः**। हि युक्तश्चायमर्थः। भक्तत्वाद्-भजनीयगुणसंदेहो वारणीय इति। **नोऽस्माकं** सर्वेषामेव। यतोऽत्र कौतुकाविष्टानामपि संदेह-निवृत्त्यर्थं प्रयत्न इति ज्ञापयितुमाह **विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोरिति**। एको लक्ष्म्या सहितः। अपरो विहीनः। तत्सेवकस्तु लक्ष्मीरहितः सहितश्चेति। यस्य हि यद्रोचते स स्वभक्ताय तत् प्रयच्छति, प्रकृते तु तदभाव इत्यर्थः। अत्र संदिग्धः प्रष्टव्यः शिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते कथं प्रयच्छतीत्यत्र किं विषया राज्यादय उत्कृष्टाः आहोस्विदपकृष्टा इति। उत्कृष्टश्चेच्छिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते, अपकृष्टाश्चेत् कथं प्रयच्छतीति। तत्रोत्तरमपकृष्टा एवेति। अतस्यस्य भोगाभावः समर्थितः। तादृशं कथं ददातीति चेद् उपासकानामेव दोषादिति वक्तु ये धनार्थं शिवमुपासते ते साहंकाराः सन्तः अहङ्काराभिमानिनमेव शिव मुपासते। ननु शैव-तन्त्रसिद्धं सदाशिवं वा साधारणत्व ज् ज्ञाना-धिकाराभावाच्च ॥२॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में जो महान् संदेह है, उसका निवारण करना चाहता हूं, 'हि' पद से कहते हैं कि यह अर्थ उचित है, भक्त होने से भजनीय स्वरूप के गुण में जो संदेह हो, वह निवारण करना चाहिए, 'नः' बहुवचन देने का तात्पर्य है कि केवल मुझे संशय नहीं है सर्व सेवकों को संदेह है अतः अवश्य निवारणीय है, क्योंकि यहां अर्थात् इस विषय में जो कौतुकाविष्ट है उनको भी इच्छा है, कि संदेह की निवृत्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह जताने के लिए कहा कि विरुद्ध शीलयोः प्रभ्वोः' दोनों समर्थ होते हुए भी विरुद्ध शील वाले हैं, एक 'हरि' लक्ष्मी सहित और दूसरा 'शिव' लक्ष्मी रहित है, उनके सेवक भी विरुद्ध फल वाले होते हैं, जैसे लक्ष्मी विहीन शिव के भक्त, लक्ष्मीवान् होते हैं और लक्ष्मी सहित हरि के भक्त लक्ष्मी विहीन होते हैं, जिसको जो वस्तु पसंद आती है वह वस्तु, अपने भक्त को देता है, यहां तो उसका अभाव है।

यहां संदेह करने वाले से पूछना चाहिए कि शिवजी आप स्वयं क्यों नही धनादि से भोग भोगते है ? क्यों भक्तों को दे देते हैं ? ये राज्यादि कैसे हैं, उत्तम सुखद ता हैं अथवा अधम दुःख दाता हैं ? यदि उत्तम हैं तो आप क्यों नहीं भोगते हैं ? यदि अधम हैं तो अपने भक्तों को क्यों देते हैं ? इसका उत्तर है कि ये भोग अपकृष्ट अर्थात् अधम हैं, इसलिए आप नहीं भोगते हैं, फिर भक्तों को क्यों देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि उपासकों का ही यह दोष है, वे यह ही मांगते हैं कारण कि वे उपासक अहङ्कारी हैं, अपने अहङ्कार को बढ़ाने के लिए हो शिवजी से धनादि प्राप्त कर अहङ्कार का पोषण करते हैं, इसलिए अहङ्काराभिमानी तामसगुणाविष्ट शिव की ही उपासना करते हैं न कि, शैव तन्त्र सिद्ध सदाशिव की उपासना करते हैं. कारण कि, साधारण और ज्ञानाधिकार के अभाव वाले हैं ॥२॥

आभास—अतस्तान् प्रति शिवस्तादृशमेवेति तन्निरूपयति **शिवः शक्तियुत** इति।

आभासार्थ—इस कारण से ऐसे अहङ्कारी भक्तों के लिए शिव भी वैसे होकर वैसा फल देते हैं जिसका निरूपण 'शिवः शक्तियुतः' श्लोक में करते हैं—

५- लक्ष्मी सहित

श्लोक—श्रीशुक उवाच-शिवः शक्तियुतः शश्वन्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।।३।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि शिव निरन्तर शक्ति को अपने पास रखते हैं एवं सात्त्विक, राजस तथा तामस अहङ्काराविष्ट होने से त्रिलिङ्ग कहलाते हैं और तीन गुणों के कारण तीन प्रकार के हैं ।।३।।

सुबोधिनी—अहंकाराभिमानेऽपि शिवस्य तादृशत्वे हेतुः **शक्तियुत** इति । 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' इति वाक्यात् । प्रलयकर्त्रीं शक्तिं यदि शिवः शान्तात्मा क्षणमपि परित्यजेत् तदा सा प्रलयं कुर्यात् । यदि वा कण्ठे कालकूटं न स्थापयेत् तदा सर्ववस्तूनां दोषस्याधिदैविकं रूपमिति तत्परित्यागे सर्ववस्तुषु दोषाद्रमे सर्वोऽप्यन्नादिभक्षणेन म्रियेत । यदि वा सर्पान्न धारयेत् तदा सर्व एव पुरुषाः कुण्डलिनीव्याप्ताः तयैव हताः स्युः । तदाधिदैविकान्निरुद्धय स्थापयतीति न कुण्डलिनी कमपि हन्तीति सूचितम् । एवमग्नेर्धारणं अन्यथा सर्वं दहेदिति । एवं चंद्रमसोऽपि । अन्यथा सर्वं क्षीणं कुर्यादिति । वस्त्राणां सर्वदेवतामयत्वात् न बाधकत्वमिति न तद्धारणम् । शार्दूलचर्म तु 'मृत्योर्वा एष वर्णो यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः प्राणिनां मृत्युनिवारणार्थं बिभर्ति गङ्गां च बिभर्ति । सापि स्पर्शमात्रेणैव पूर्वदेहं दोषरूपं निवर्त्य भगवदीयं देहं संपादयति । जटाश्च बिभर्ति । अन्यथा वायुना हृता मेघा गच्छेयुरेव न त्वागत्य वृष्टिं कुर्युः । एवं सर्वेषां प्रयोजनानि शैवतन्त्रे निरुपितानि निर्दोषपूर्णगुणविग्रहनिरूपणप्रस्तावे । एवं परमकृपालुरपि उपासकानुरोधात् **त्रिलिङ्गो** जातः । ततो **गुणैरपि** सत्त्वरजस्तमोभिः संवेष्टितः । ननु तस्य त्रिलिङ्गत्वे वा गुणवेष्टनत्वे वा को हेतुरिति चेत् तत्राह **वैकारिकस्तैजसश्चेति** । **वैकारिकः** सात्त्विकः । **तैजसो** राजसः । **अहमहं**कारस्तदधिष्ठाता जात इति तस्य त्रिलिङ्गत्वाद **गुणसंवृतत्वाच्च** स्वयं चापि तथा जातः ।।३।।

व्याख्यार्थ - शिवजी में अहङ्कार का अभिमान मात्र है, न कि जीव की तरह अहङ्काराध्यास है, और शिवजी अहङ्कारी भक्तों को उनके योग्य फल देने के लिए तथा जगत् हितार्थ 'शक्ति' को सदैव रखते हैं, जैसाकि भागवत में कहा है 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' भगवान् शिव घोर शक्ति के साथ फिरते हैं, इस प्रलय करने वाली शक्ति को शान्तात्मा शिव क्षण मात्र भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि यदि छोड़ें तो यह शक्ति क्षण में समग्र जगत् को प्रलय कर दे, और शिवजी यदि कण्ठ में कालकूट विष को धारण न करें तो सब जो भक्ष्य पदार्थ अन्न आदि हैं, उनके खाने से मृत्यु हो जावे, क्योंकि सर्व वस्तुओं में जो मृत्यु कारक दोष है उसका आधिदैविक स्वरूप कालकूट है, उसको काण्ठ में धारण कर लेने से सर्व वस्तुओं में से दोषों का अभाव हो गया है, जिससे अन्नादि भक्ष्य पदार्थ निर्दोष होकर सबको जीवन देते हैं, यदि शिवजी उसका त्याग करें तो सर्व वस्तुओं में फिर वह दोष पैदा हो जावे, जिससे अन्नादि भक्षण द्वारा सर्व की मृत्यु हो जावे ।

यदि महादेव सर्पों को धारण न करें तो कुण्डलिनी से व्याप्त पुरुष, उससे ही मारे जावे, इस कारण से कुण्डलिनी के आधिदैविक स्वरूप सर्पों का निरोधकर कण्ठ में धारण कर लिए हैं, इसलिए कुण्डलिनी किसी को भी नहीं मार सकती है, इससे यों सूचित किया हैं ।

आप अग्नि को धारण कर सब को दाह से बचा रहे हैं, यदि अग्नि को धारण न करें तो सबको अग्नि भस्म कर डाले ।

आप चन्द्रमा को धारण कर सबको क्षीण होने से बचाते हैं, यदि चन्द्रमा को धारण न करते तो चन्द्रमा सबको अपने समान क्षीण कर देता ।

आप वस्त्रों को धारण न कर नग्न रहते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि वस्त्र देव रूप हैं, सबकी रक्षा करते हैं, किसी के बाधक नहीं, मृत्योवा एष वर्णो यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः' 'व्याघ्र चर्म मृत्यु का वर्ण है' यों श्रुति में कहा है अतः मनुष्यों की मृत्यु को हटाने के लिए आप व्याघ्र चर्म धारण करते हैं ।

आपने गङ्गा को धारण इसलिए किया है कि, अधिकारियों[1] को ही देह निर्दोष होवे, कारण कि गङ्गाजी स्पर्श मात्र से ही दोष रूप देह को बदलाकर भगवदीय देह बना देती है, यदि धारण न करते तो सब से स्पर्श होता सब की देह भगवदीय हो जाती तो अधिकारीपन का नियम लोप हो जाता ।

आप जटाओं को धारण करते हैं, बादल केश रूप हैं, जैसे कहा है कि 'अम्बुवाहाः केशाः' यदि धारण न करते तो बादलों को वायु दूर दूर ले जाती यहां लौटकर न आते जिससे यहां वर्षा ही न पड़ती, अतः आपने जटा धारण भी आवश्यक समझा ।

इसी तरह भगवान् शङ्कर ने जो २ पदार्थ धारण किए हैं उनका प्रयोजन शिव तन्त्र में कहा है, वहां शिवजी का निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह सिद्ध किया है, इस प्रकार के होते हुए भी आप परम कृपालु होने से भक्तों के आग्रह से त्रिलिङ्ग हुए हैं, इससे ही सत्व, रज और तमोगुण से युक्त हुए हैं, उनके[2] त्रिलिङ्ग होने वा गुणों से वेष्टित होने का क्या हेतु है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैकारिकस्तैजसश्चेति' अहङ्कार सात्विक, राजस और तामस होने से त्रिविध है अतः आप भी अहङ्काराभिमानी होने से त्रिलिङ्ग हुए अतः गुणों से युक्त होकर वैसे हो गए ।।३ ।

आभास—ततः सहिता शक्तिः पुरुषसम्बन्धात् प्रलयकर्तृत्वं परित्यज्य सृष्टिं कृतवतीत्याह **ततो विकारा अभवन्निति ।**

आभासार्थ—शिवजी के साथ रही हुई शक्ति पुरुष[3] के सम्बन्ध से प्रलय करने का कार्य त्याग कर सृष्टि करने लगी, यह 'ततो विकारा' श्लोक वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ततो विकारा अभवन्षोडशामीषु कञ्चन ।**
उपाधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ।।४।।

१- भगवदीयों, २- महादेव के, ३- श्री शिवजी के,

श्लोकार्थ—उससे सोलह विकार (दस इन्द्रियाँ,[1] एक मन[2] और पाँच भूत[3]) हुए इनमें से किसी का भी आश्रय करने वाला सर्व विभूतियों का फल भोगता है ।।४।।

सुबोधिनी—भूतानीन्द्रियाणि च **विकाराः षोडश**, महादेवः षोडशरूपो जात इत्यर्थः । 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेः । ततः **अमीषु** भगवन्मूर्तिषु **कंचनापि** महादेवं **उपाधावन् सर्वासामेव** विभूतीनां **गतिमश्नुते** । यतः स विभूतिपतिः ऐश्वर्याण्यक्षयरूपाणि कृत्वा बिभर्तीति । अनेन तस्य विभूत्यभावो निराकृतः ।।४।।

व्याख्यार्थ—पांच महाभूत मन सहित ११ इन्द्रियां ये षोडश विकार हैं, अर्थात् इसी तरह महादेव ने १६ रूप धारण किए, जैसा श्रुति में 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' कहा है कि पुरुष १६ कला वाला है, इस कारण इन १६ भगवान् की मूर्तियों में से किसी भी मूर्ति का आश्रय करता है वह सब मूर्तियों का फल पाता है, क्योंकि वह महादेव इन १६ विभूतियों का स्वामी है, अतः आप ऐश्वर्यों को अक्षय रूप कर धारण करते हैं, यों कहकर महादेव विभूति रूप है, इस मत का निराकरण किया है ।।४।

आभास—एवं महादेवे दोषं निराकृत्य भक्तानुरोधेन विकारजातं प्रयच्छतीति निरूपितम् भगवति च वादी प्रष्टव्यः । किं लक्ष्मीरूपा विषया उत्तमा अधमा वेति । उत्तमत्वे कथं न प्रयच्छति । अधमत्वे कथं स्वयं भुङ्क्त इति संदेहः । तत्र हिशब्दः पूर्वपक्षोक्तं प्रकारं वारयति । लक्ष्मीरूपविषया उत्तमाः । अतो भगवान् बिभर्तीति युक्तम् । दोषरूपपक्षस्थापनार्थं भगवता शिवरूपमेव कृतमिति नात्र पुनः तत्पूर्वपक्षाः समायान्ति । तत्र भक्तेभ्यः कथं न प्रयच्छतीत्याशङ्कायामाह **हरिरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव में दोष का निराकरण कर, भक्तों के आग्रह के कारण ही विकारोत्पन्न फल देते हैं, यों निरूपण किया ।

भगवान् के विषय में शङ्का करने वाले वादी से पूछना चाहिए कि लक्ष्मी रूप विषय उत्तम है, या अधम ? यदि उत्तम है तो उपासकों को क्यों नहीं देते हैं ? यदि अधम है तो आप क्यों धारण करते हैं ? इस विषय में पहले कहे हुए प्रकार का 'हि' पद से निवारण करते हैं ।

लक्ष्मी रूप विषय अच्छे हैं अतः भगवान् धारण करते हैं यह उचित ही है ।

लक्ष्मी के विषय, दोषरूप हैं इस पक्ष की स्थापना करने के लिए भगवान् ने शिव रूप धारण किया है इसलिए यहां बिर पूर्व पक्ष नहीं आ सकता है, वहाँ प्रश्न होता है कि यदि लक्ष्मी का विषय उत्तम है तो भक्तों को क्यों नहीं देते हैं ? इस शंका का उत्तर देने के लिए 'हरिर्हि' श्लोक कहा है—

१- राजस अहङ्कार से दश इन्द्रियां उत्पन्न हुई, २- सात्त्विक अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ, ३- तामस अहङ्कार से पाँच भूत (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि) उत्पन्न हुए ।

श्लोक—हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥५॥

श्लोकार्थ—हरि ही निर्गुण, प्रकृति से पर, साक्षात् पुरुष है, सबका सब कुछ देख रहे हैं, निकट भी देख रहे हैं, उनका भजन करने वाला निर्गुण होता है ॥५॥

सुबोधिनी—प्रयच्छत्येव न तु दुःखरूपान्। यथा हरिर्गजेन्द्राय पूर्वावस्थास्थितदेहभार्यैश्वर्यादिकं त्याजयित्वा परमानन्दरूपान् तानेव दत्तवान् । **हि युक्तश्चायमर्थः** । ननु शिववत् कथं न प्रयच्छतीति चेत् तत्राह **निर्गुण** इति । गुणार्थं तदेव रूप जातमिति तेनैव रूपेण तत्कार्यं **सिध्यतीति** स्वयं गुणातीतः स्थितः । अत्र रूपे गुणग्रहणे प्रयोजनं नास्तीत्याह **साक्षात्पुरुष** इति । अयं सर्वेषामुपासकानामात्मा अतस्तद्धितमेव विचारयति न तूपासनानुरोधं करोति । किंच अस्य तादृशी कापि शक्तिर्नास्ति यदनुरोधात्तां परिगृह्य सगुणो भवेत् । ननु पुरुषत्वात्प्रकृतिरायातीति चेदत आह **प्रकृतेः पर** इति । ननु तथापि भक्तक्लेशं दृष्ट्वा कथं न संपादयतीति चेत् तत्राह **स सर्वदृगिति** । स प्रसिद्धः आत्मा हितकारी । सर्वस्यापि सर्वं पश्यति । किंच । अन्तर्यामित्वान्निकटेऽपि स्थितः पश्यति । ततो यदैव यद्विना कार्यं न भवतीति जानाति तदैव तत्प्रयच्छतीति भावः । अत एवैतादृशं परमविचक्षणं **भजन्** स्वयमपि **निर्गुण एव भवेद्** गुणप्रयोजनाभावात् । भगवांश्च तेनैव रूपेण प्रकट इति न भक्तोपेक्षते नापि भगवान् प्रयच्छतीत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—हरि अपने भक्तों को ऐश्वर्यादि देते हैं किन्तु दुःख रूप ऐश्वर्यादि नहीं देते हैं जैसे गजेन्द्र को, पूर्वावस्था वाले देह, स्त्री और ऐश्वर्यादि जो दुःखद थे उनका त्याग कराकर परम आनन्द रूप ऐश्वर्यादि दिए. 'हि' पद से यह सूचित किया है कि यों करना उचित ही है, शिव की तरह क्यों नहीं देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि आप 'निर्गुण' हैं, गुण के लिए वह ही (शिवरूप) धारण किया है, उस रूप से ही वह कार्य सिद्ध करते हैं, इसलिए ही आप गुणातीत होकर विराजते हैं, इस स्वरूप में गुणों के ग्रहण करने का कोई प्रयोजन हैं, इसलिए कहा है कि, 'साक्षात् पुरुषः' साक्षात् पुरुष हैं अतः सब उपासकों की आत्मा है, जिससे उनका हित ही विचारते हैं उपासकों के अनुरोध से नहीं देते हैं, जिसके देने से भक्तों का अहित न होवे वह पदार्थ देते हैं ।

इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है. जिसके वश होकर गुणों को ग्रहण कर सगुण होवे, हरि पुरुष है, अतः प्रकृति स्त्री होने से स्वतः इनके पास आती है, जिसके उत्तर में कहा कि 'प्रकृतेः पर' प्रकृति से पर हैं, यों होते भी भक्तों के क्लेशों को देख कर क्यों नहीं गुणों को ग्रहण करते है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'स सर्वदृक्' 'स' पद से यह सूचित किया है कि वह आत्मा का हित करने वाले हैं यों प्रसिद्ध है, सर्व का, सब दुःख सुख सब देख रहे हैं इस कारण से जब समझते हैं कि इसके बिना उपासक का का कार्य सिद्ध नहीं होगा, तब ही उनको वह देते हैं, इस कारण से ही ऐसे परम विचक्षण का जो भजन करता है वह स्वयं भी निर्गुण हो जाता है, कारण कि उसका गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है ।

भगवान् उस ही (निर्गुण ही) रूप से प्रकटे हैं, इसलिए भक्त अपेक्षा नहीं करता है और भगवान् भी नहीं देते हैं ॥५॥

आभास—प्रत्युत दोषरूपान् विषयान् भक्तेषु पश्यन्नपहरतीति वक्तुमुपाख्यानमाह **निवृत्तेष्वश्वमेधेष्विति** ।

आभासार्थ - प्रत्युत (बल्कि) यदि भक्तों में कोई दोष देखते हैं तो उसका अपहरण कर लेते हैं, यों कहने के लिए 'निवृत्तेष्वश्वमेधेषु' श्लोक से उपाख्यान कहते हैं—

श्लोक—**निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।**
शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥६॥
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥७॥

श्लोकार्थ—अश्वमेधों के पूर्ण हो जाने के अनन्तर तुम्हारे पितामह राजा युधिष्ठर ने भगवद्धर्म सुनते हुए यह सुना कि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति नहीं बढ़ाते हैं, जिसमें सन्देह हो जाने से यह अर्थ, अच्युत से पूछने लगा ॥६॥

उस पर प्रसन्न हुए वे प्रभु भगवान् मनुष्यों के निःश्रेयस के लिए जिन्होंने यदुकुल में अवतार लिया है सुनने की इच्छा वाले उसे कहने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—अश्वमेधत्रयं कृत्वा पश्चादन्ते धर्मश्रवणस्य विहितत्वाद्भगवद्धर्मान् **शृण्वन्** भगवान् भक्तानां संपदो न प्रवर्धयतीति तत्र संदिहानः इममेवार्थं **अच्युतमपृच्छत्** । **स च भगवांस्तत्रैव** स्थितः स्वधर्मान् शृणोतीति **प्रीतः** सन् गुह्यमपि सिद्धान्तं **शुश्रुषवे** प्रभुत्वात्तन्निःशङ्कमाह। ननु व्यासादयोऽपि भगवद्रूपास्तिष्ठन्तीति । अतः कथमेवमुक्तवान् इत्याशङ्क्याह **नृणां निःश्रेयसार्थायेति** । व्यासस्यापि शास्त्रद्वारा निःश्रेयससाधकत्वमाशङ्क्य **योऽवतीर्ण** इति । रामव्यावृत्त्यर्थं गूर्वपदम् ॥६॥७॥

व्याख्यार्थ—शास्त्राज्ञा है कि तीन अश्वमेध पूर्ण करने के बाद भगवद्धर्मों का श्रवण करे, उसी आज्ञा का पालन करते हुए राजा युधिष्ठिर भगवद्धर्म श्रवण करता था, जब सुना, कि भगवान् भक्तों की सम्पदाओं को बढाते नहीं है, तब संशय ग्रस्त हो, इसही विषय का संशय निराकरण कराने के लिए अच्युत से पूछने लगा ।

भगवान् तो वहां ही स्थिति थे, देख रहे थे कि यह भगवद्धर्मों का श्रवण कर रहा है अतः उस पर प्रसन्न थे, जिससे गुह्य सिद्धान्त भी उस सुनने वाले को निःशङ्क होकर कहने लगे, कारण कि, आप प्रभु, अर्थात् सर्व समर्थ हैं, जब वहां भगवद्रूप उपदेश करने वाले व्यासादि भी उपस्थित थे, तब आप कैसे इस तरह कहने लगे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिए कहा कि 'नृणां निःश्रेयसार्थाय' आप मनुष्यों के निःश्रेयसार्थ यदुकुल में प्रकट हुए हैं, अतः आप कहने लगे 'योऽवतीर्ण' 'यः' पद से यह सूचित किया है कि भक्तों को मोक्ष देने के लिए कृष्ण ही प्रकटे हैं न कि बलरामजी ॥६-७॥

है, इस बात को हम जानते हैं कि ईश्वर ने आप पर स्नेह जाल डाल दिया है ।।६२।।

सुबोधिनी – **सद्भिर्भवद्भिरस्मासु मैत्री** या **अर्पिता** सा अज्ञेषु **अप्रतिकल्पा** प्रतिकल्परहिता। प्रतिकल्पः प्रत्युपकारः । अतः अफला । **वा** शब्दः अनादरे । सफला वा । अफला सफला वा भवतु परं न निवर्तत ।।६२।।

व्याख्यार्थ—आप सत्पुरुषों ने जो हम अज्ञों (नासमझों) में मैत्री स्थापित की है, उसका हम बदला दे नहीं सकते हैं, इस कारण से वह निष्फल है । 'वा' शब्द अनादर में है, यह आपकी की हुई मैत्री सफल हो चाहे असफल हो, किन्तु छूटती नहीं है ।।६२।।

आभास—एवं प्रत्युपकाराभावं मैत्रीं च स्थापयित्वाह **प्रागकल्पास्तु कुशलमिति** ।

आभासार्थ—'प्रागकल्पास्तु' श्लोक में बदला न मिलना और मैत्री की स्थापना दोनों कहते हैं ।

श्लोक—**प्रागकल्पास्तु कुशलं भ्रातर्वो नाचरामहि ।**
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ।।६३।।

श्लोकार्थ—हे भाई ! पहले तो हम असमर्थ थे, जिससे आपकी की हुई मैत्री व उपकार का बदला न दे सके, किन्तु अब लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए हैं, जिससे सामने स्थित उपकारी सत्पुरुष को मानों देखते ही नहीं हैं ।।६३।।

सुबोधिनी – क्रियाप्रतिकल्पाभावेऽपि स्वशक्त्यनुसारेण प्रत्युपकारः कर्तव्यः तस्याप्यकरणे हेतुरुच्यते पूर्वं यदा कंसो न हतः द्वारकायां वा न गतं तदा वयमेवा**कल्पाः** । तत एव हे **भ्रातः वः कुशलं नाचरामहि** । संबोधनात्कुशलावश्यकत्वं बोधितम् । **अधुना** पुनः प्राप्तराज्याः कल्पा अपि **श्रीमदेनैवान्धाः** सन्तः **पुरः सतो**ऽपि विद्यमानान् न **पश्यामः** । धर्मिदर्शनानन्तरं हि तत्र प्रतिकर्तव्यसंभावना ।।६३।।

व्याख्यार्थ--मैत्री क्रिया का पूरा बदला न दे सकते, तो थोड़ा भी देना चाहिए था, जैसी भी शक्ति होवे थोड़ा सा भी न कर सकने में कारण देते हैं कि तब न कंस मरा था और न द्वारका गए थे । तब हम सर्वथा असमर्थ थे, अतः कुछ न कर सके । 'हे भाई' सम्बोधन देने का आशय है कि हमको प्रत्युपकार करना ही चाहिए, यों करना आवश्यक है, 'अस्तु' तब नहीं किया, अब तो कंस मर गया, सब विघ्न टले, अब तो करो । जिसके उत्तर में कहते हैं कि राज्य मिल गया है, उपकार का बदला देने में समर्थ है, यह सत्य है, किन्तु लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए हैं, उपकार करने वाले सत्पुरुष सामने स्थित हैं, तो भी मानों उनको देखते ही नहीं हैं, अतः अब भी नहीं कर सकते हैं । धर्मों के देखने के बाद ही वहाँ बदले की सम्भावना होगी ।।६३।।

आभास—तर्हि किं युक्तमित्याकाङ्क्षायां निर्णयमाह **मा राज्यश्रीरभूदिति** ।

आभासार्थ—तो उचित क्या है ? इस आकांक्षा का निर्णय 'मा राज्यश्रीः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।**
सुजनानुत बन्धूंश्च न पश्यति ययाऽन्धदृक् ॥६४॥

श्लोकार्थ—हे मानद ! श्रेय की कामना वाले पुरुषों को राज्य और श्री नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जैसे अन्धा सत्पुरुषों को और बान्धवों को नहीं देख सकता है, वैसे वह भी नहीं देख सकता है ॥६४॥

सुबोधिनी—यद्यप्युभयत्रापि प्रतिकर्तव्यता नास्ति तथाप्यकल्पावस्थैव समीचीना ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्योः ज्ञानशक्तिसहितस्यैव सद्भावत्वात् क्रियाशक्तिस्तु संपत्तौ विद्यमानापि ज्ञानशक्त्यभावादप्रयोजिका । अत एवमन्तरं वर्तते इति **पुंसः श्रेयस्कामस्य राज्यश्रीर्माभूत्** । मानं ददातीति **मानदः** । अनेन त्वं सर्वथास्माकं मानमेव प्रयच्छसि को दोषः राज्यस्येति चेत् **सुजनानुत बन्धूंश्चे**ति । **यया** श्रिया कृत्वा **अन्धा** दृष्टिर्यस्य गतदृष्टिरित्यर्थः । सत्पुरुषान् **बन्धूंश्च न पश्यति** ॥६४॥

व्याख्यार्थ—दरिद्रता (गरीबी) और राज्यश्री की प्राप्ति दोनों अवस्थाओं में बदला नहीं चुकाया जा सकता है । फिर भी राज्यश्री से दरिद्रता अच्छी है, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनों की आवश्यकता है, किन्तु वे तब अच्छी हितकारिणी होती हैं, जब उनके साथ ज्ञान-शक्ति भी होवे, कारण कि क्रिया-शक्ति सम्पत्ति के विद्यमान होने की अवस्था में ज्ञान-शक्ति के साथ न होने से व्यर्थ है, जिसका भावार्थ है कि यदि सम्पत्ति के होने पर कार्य (बदला देने) करने की शक्ति है, किन्तु ज्ञान के अभावों में वह शक्ति कुछ कर ही नहीं सकती है ।

अतः इस प्रकार अन्तर होता है, जिससे श्रेय चाहने वाले पुरुष को राज्यश्री न होवे, तो अच्छा है । मान देने वाले को 'मानद' कहा जाता है, आप हमको सदैव मान देते हैं, राज्य का क्या दोष ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि जिस राज्यश्री से पुरुष अन्धा हो जाता है, वह राज्यश्री नहीं चाहिए, कारण कि इससे वह अपने सत्पुरुष और बान्धवों को नहीं देख सकता है ॥६४॥

आभास—एवं स्वदोषख्यापनं नन्दगुणप्रकटीकरणं च कृत्वा स्नेहेन रोदनं कृतवानित्याह **एवमिति** ।

आभासार्थ—इसी तरह अपने दोष प्रकट कर और नन्दजी के गुण प्रकट किए, बाद में स्नेह बढ़ आने से रोने लगे, जिसका वर्णन 'एवं' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।**
रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥६५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इसी तरह स्नेह से शिथिल चित्त वाले वसुदेवजी के नेत्रों में आँसू आ गए, श्री नन्दरायजी के उपकार स्मरण करते हुए रोने लगे ।।६५।।

सुबोधिनी—रोदनमुक्तार्थस्य स्थापकम् । अन्यथा मुखत एव वदतीत्यपि शङ्का स्यात् । **सौहृदेन शैथिल्यं** यस्य **चित्तस्य** तादृशं चित्तं यस्य । यतोयमानकदुन्दुभिः अतिसुबुद्धिः कंसाद्-भगवन्तं रक्षितवान् । नन्दात्स्वगृहनयने कः प्रयास इति भावः । **तत्कृतां मैत्रीं** भगवत्परि-पालनरूपाम् । **अश्रूणि विलोचनयोर्यस्ये**ति दुःख-स्य सहजत्वं निरूपितम् ।।६५।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी ने जो रोदन किया, उसका आशय यह था कि मैंने जो कहा है, वह केवल मुख से दिखाने के लिए नहीं कहा है, किन्तु मानसिक भाव से कहा है । यदि रोते नहीं, तो यों समझा जाता कि यह कहना केवल दिखावा है, इस शङ्का को रोने से मिटा दिया । वसुदेवजी का चित्त सौहार्द्र से शिथिल हो गया था; क्योंकि बहुत सुन्दर बुद्धि वाले हैं, तब ही कंस से भगवान् की रक्षा की है, नन्द से अपने घर में लाने में कौनसा प्रयास है, यों कहने का भाव है कि नन्दजी ने भगवान् के पालन रूप अनुग्रह को किया है, यह ही मैत्री है, जिससे आँसूओं से नेत्रों में जल भर गया, इससे वसुदेवजी को नन्दजी के उपकार का बदला न चुका सकने का सहज दुःख है, यह निरूपण किया ।।६५।।

श्लोक—**नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।**
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन्यदुभिर्मानितोऽवसत् ।।६६।।

श्लोकार्थ—नन्दरायजी यादवों से मान पाकर, अपने मित्र वसुदेवजी को प्रसन्न करते हुए, राम-कृष्ण के प्रेम से आज-कल रवाना होऊँगा, यों करते हुए, तीन महीनों तक वहीं रहे ।।६६।।

सुबोधिनी—एवं स्नेहानुबन्धं प्राप्य **नन्दः सख्युः** प्रियकर्ता **गोविन्दरामयोः प्रेम्णा अद्य** गमिष्यामि **श्वो** गमिष्यामीत्येवं वदन् **त्रीन् मासान्** अवात्सीत् । प्रत्यहमेव **यदुभिर्मानितः** मासत्रयं स्वभावत एव स्थितः । ततोद्य **श्व** इति वदन् मासत्रयम् ।।६६।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार मित्र का प्रिय करने वाले नन्दरायजी स्नेह पाश में फँस जाने के कारण श्रीकृष्ण और राम के प्रेम से आज जाऊँगा, कल जाऊँगा; यों कहते हुए, तीन मास वहीं रहे, नित्य प्रति ही यादवों से सत्कार पाते थे, अतः तीन मास स्वभाव से ही रहे, इसलिए आज-कल कहते हुए तीन मास पूरे हो गए ।।६६।।

श्लोक—**ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।**
परार्ध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ।।६७।।

श्लोकार्थ—फिर अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र और अनेक प्रकार के सब सामान

ले, मनवाञ्छित कामना को पूर्ण कर, नन्दरायजी गोप और बान्धवों को सङ्ग ले (नीचे श्लोक से सम्बन्ध है) ॥६७॥

सुबोधिनी—एवं माघादाषाढपर्यन्तं स्थित्वा ततः **कामै**र्नानाभिलषितैः भगवता **पूर्यमाणः सव्रजः** गोपालसहितो बान्धवसहितश्च । काम्यपदार्थान् गणयति **परार्घ्ये**ति । अमूल्यान्याभरणादीनि, **क्षौमाणि** पट्टवस्त्राणि, **अनर्घ्यपरिच्छदाः** दिव्यगृहोपकरणानि ॥६७॥

व्याख्यार्थ—यों माघ से आषाढ़ पर्यन्त रहकर पश्चात् भगवान् से अनेक प्रकार की कामनाएँ पूर्ण कर, गोप और बान्धवों के साथ काम्य[1] पदार्थों की गणना करते हैं—अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र, सुन्दर गृह की सामग्री ॥६७॥

आभास—एतानि प्रत्येकं बहुभिर्दीयन्त इति तान् गणयति **वसुदेवे**ति ।

आभासार्थ - उपरोक्त सामग्री हर एक को बहुतों ने दी, उनकी गणना 'वसुदेवोग्र' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।**
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥६८॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी, उग्रसेनजी, कृष्ण, उद्धवजी और बलरामजी आदि यादव से दिया हुआ पारिबर्ह[2] ले रवाना हुए ॥६८॥

सुबोधिनी—पञ्च मुख्यतया गणिताः । **उग्रसेनो** राजा । वसुदेववत्सोपि भगवता मोचित इति । **उद्धवोपि** बहुकालं तद्गृहे स्थित इति । **बलो** बलभद्रः **आदि**शब्देन देवक्यादयोपि गृह्यन्ते । एतै**र्दत्तं पारिबर्हमादाय** दूरे समागत्य **यापितः** सन् **ययौ** ततो निर्गतः ॥६८॥

व्याख्यार्थ—मुख्य रूप से पाँच गिने । उग्रसेन राजा वसुदेवजी की तरह उनको भी भगवान् ने जेल से छुड़ाया था, उद्धवजी भी बहुत काल से उनके घर में रहे थे । 'बल' शब्द से बलभद्र और 'आदि' शब्द से देवकी इत्यादि (वगैरह) लेनी चाहिए, इन्हों से दी हुई पहरावनियाँ लेकर दूर जाकर जिसकी जो थी, वह बाँट कर ले ली, पश्चात् वहाँ से रवाना हुए ॥६८॥

आभास—नन्वयं सर्वं गृहीत्वैव गच्छति न किञ्चित्स्वयं दत्तवानित्याशङ्क्याह **नन्दो गोप्यश्चे**ति ।

आभासार्थ—ये नन्दरायजी सब लेकर ही जा रहे हैं, आपने तो कुछ भी नहीं दिया, यों शङ्का कर 'नन्दो गोप्यश्च' श्लोक में उत्तर देते हैं ।

१- जो अभिलषित पदार्थ मिले, उनकी   २- पहरावनी

श्लोक—**नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।**
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमशक्ता मथुरां ययुः ॥६९॥

श्लोकार्थ—नन्द और गोपियों ने तथा गोपों ने इन दोनों ने समृद्धि के लिए अपना मन भगवान् के चरणों में धर दिया, वहाँ अति पुष्ट हो जाने से फिर निकलने में समर्थ न हुए, अतः माथुर देशों को ही गए, मन के निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है, नन्दादिकों का मन तो भगवान् में ही है, अतः नन्द आदि का ही सबसे विशेष द्रव्य यहाँ पड़ा हुआ रह गया है ॥६९॥

सुबोधिनी—**नन्दः गोप्यश्चै**का कोटिः । **गोपास्त्व**परा: । उभयेपि **गोविन्दचरणाम्बुजे** समृद्धयर्थं **क्षिप्तं मनः** अतिपुष्टत्वात् **पुनर्हर्तुमशक्ताः** । माथुरानेव देशान् ययुः । मनोनिमित्तं हि सर्वं दीयते नन्दादीनां तु मनो भगवत्येव । अतो नन्दादीनामेव बहुद्रव्यमत्र स्थितमित्यर्थः ६९

व्याख्यार्थ—नन्द तथा गोपियाँ एक पंक्ति के हैं, गोप दूसरी पंक्ति के हैं । गोविन्द भगवान् के दोनों चरण कमलों में समृद्धयर्थ लगाए हुए मन को वहाँ से हटा लेने में असमर्थ थे; क्योंकि चित्त उनमें बहुत पुष्ट (मजबूत, पक्का) हो गया है. अतः मथुरा के सम्बन्ध (निकट) वाले देश को गए, मन के निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है । नन्दादि का मन तो भगवान् में ही लगा हुआ है, अतः नन्दादिकों का ही बहुत धन यहाँ धरा हुआ है, यह आशय है ॥६९॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **बन्धुषु प्रतियातेष्विति ।**

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ, वह 'बन्धुषु' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः ।**
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥

श्लोकार्थ—बान्धवों के जाने पर श्रीकृष्ण को इष्टदेव मानने वाले यादव भी वर्षा ऋतु को निकट जानकर वापिस द्वारका गए ॥७०॥

सुबोधिनी—सर्वेष्वेव स्वस्वदेशं गतेषु स्वयमेकाकिनोऽपि बहुकालं स्थिताः । तत्र निःशङ्कस्थितौ हेतुः **कृष्णदेवता** इति । कृष्ण एवालौकिकप्रकारेण रक्षको येषाम् । तर्हि कथं गता इत्याकाङ्क्षायामाह **वीक्ष्य प्रावृषमासन्नामिति** । दिनचतुष्टयदशकव्यवहिताम् ॥७०॥

व्याख्यार्थ—सब अपने-अपने देश चले गए, यादव अकेले रह गए, तो भी वहाँ बहुत समय रहे, बिना किसी भय आदि की शङ्का के रहते थे; क्योंकि उनका सर्वभयहारी श्रीकृष्ण ही देवता थे, श्रीकृष्ण ही जिनकी अलौकिक प्रकार से रक्षा करते थे, तो भला गए क्यों ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वर्षा ऋतु निकट आ गई थी, आने में १४ दिन ही शेष रह गए थे ॥७०॥

आभास—ततो ये नागतास्तेषामयं महोत्सवो न जात इति शङ्कां वारयितुं वृत्तान्तकथनमाह **जनेभ्यः कथयांचक्रुरिति** ।

आभासार्थ—जो यहाँ नहीं आए थे, उनको यह महान् आनन्द न मिला, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'जनेभ्यः' श्लोक में वह वृत्तान्त मनुष्यों को कहने लगे ।

श्लोक—**जनेभ्यः कथयांचक्रुर्वसुदेवमहोत्सवम् ।**
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्संदर्शनादिकम् ।।७१।।

श्लोकार्थ—उन्होंने जाकर सब लोगों को वसुदेवजी के यज्ञ के महोत्सव का समाचार तथा जो कुछ तीर्थ यात्रा में मित्रों के दर्शन आदि हुए थे,वह सब वृत्तांत कह कर सुनाया ।।७१।।

सुबोधिनी—**वसुदेवस्य यज्ञमहोत्सवम्** । यच्च **सुहृत्संदर्शनादिकं** तदप्येवं सात्त्विकानां निरुद्धानां परमोत्सवलक्षणं फलं दत्तवानिति ।।७१।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी के यज्ञ का महान् उत्सव तथा जो मित्रों के दर्शन आदि हुए थे, वह भी इस प्रकार कि जिससे जो सात्त्विक निरुद्ध थे, उनको परमानन्द लक्षण वाला फल दिया, ऐसा उत्सव वहाँ आकर सबको सुनाया ।।७१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चत्रिंशाध्यायविवरणम् ।।३५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८१वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३५वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का सप्तम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

卐

इस अध्याय में वर्णित लीला का सार

ऋषि स्तुति **राग बिलावल**

हरि-हरि-हरि सुमिरौ सब कोइ। बिनु हरि सुमिरन मुक्ति न होइ॥
श्रीशुक, ब्यास कह्यौ जा भाइ। सोइ अब कहौं सुनौ चित लाइ॥
सूरज-ग्रहन पर्व हरि जान। कुरुक्षेत्र में आए न्हान॥
तहँ ऋषि हरि दरसन हित गए। हरि आगे ह्वै कै सब लए॥
आसन दै पूजा-विधि करी। हाथ जोरि विनती उच्चरी॥
दरस तुम्हारे देवन दुरलभ। हमकौं भयौ सो अतिहौं सुरलभ॥
यौं कहि पुनि लोगन समुझायौ। जैसें वेद पुराननि गायौ॥
हरिजन कौं पूजै हरि जान। ताकौ होइ तुरत कल्यान॥
सुर पूजा बहु विधि सौं कीजै। तीरथ जाइ दान बहु दीजै॥
यह सब किऐं होइ फल जोइ। सत-सङ्ग सो छिन मैं होइ॥
यह सुनि कै ऋषि रहे लजाइ। पुनि बोले हरि सौं या भाइ॥
तुम सबके गुरु सबके स्वामी। तुम सबहिनि के अन्तरजामी॥
तुम्है वेद ब्रह्मण्य बखानत। तातैं हमरी अस्तुति ठानत॥
हम सेवक तुम जगत अधार। नमो-नमो तुम्है बारम्बार॥
तुम परब्रह्म जगत करतार। नर-तनु धरचौ हरन भुव-भार॥
सुर पूजा अरु तीर्थ बतावत। लोगनि की मति कौं भरमावत॥
तुम निज रूप इहिँ भाँति छिपायौ। काठ माँझ ज्यौं अगिनि दुरायौ॥
वसुदेव तुमकौं जानत नाहिँ। और लोग बपुरे किहि माहिँ॥
कोउ पिता, पति कोउ जानत। कोऊ सत्रु-मित्र करि मानत॥
सर्ब असँग तुम सर्ब अधार। तुम्हैं भजै सो उतरै पार॥
जैसै नींद माहिँ कोउ होइ। बहु विधि सपनौ पावै सोइ॥
पै तिहिँ उहाँ न कछू सँभार। किहिँ देखत को देखनहार॥
यौं जे रहे विषय-रस मोइ। तिनको बुद्धि सुद्ध नहिँ होइ॥
जापर कृपा तुम्हारी होइ। रूप तुम्हारौ जानै सोइ॥
घट-घट माहिँ तुम्हारौ बास। सर्ब ठौर ज्यौं दीप-प्रकास॥
इहिँ विधि तुमकौं जानै जोइ। भक्तऽरु ज्ञानी कहिऐ सोइ॥
नाथ कृपा अब हम पर कीजै। भक्ति अपनी हमकौं दीजै॥
प्रेम भक्ति बिनु कृपा न होइ। सर्ब साथ हम देख्यौ जोइ॥
तपसी तुमकौं तप करि पावैं। मुनि भागवत गृही गुन गावैं॥
कर्म जोग करि सेवत जोइ। ज्यौं सेवै त्यौं ही गति होइ॥
ऋषि इहि बिधि हरि के गुन गाइ। कह्यौ होइ आज्ञा जदुराइ॥
हरि तिनकी पुनि पूजा करी। कीरति सकल जगत बिस्तरी॥
वेद, पुरान सबनि कौ सार। व्यास कह्यौ भागवत बिचार॥
बिनु हरि नाम नहीं उद्धार। सूर जानि यह भजौ मुरार॥

॥ श्री हरिः ॥

अनुक्रमणिका

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

उत्तरार्ध अध्याय—२८ से ३५ तक

क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अग्रहीच्छिरसा राजन्	३	२१	६७	२७	अस्मास्वप्रतिकल्पेयम्	७	६२	२४०
२	अच्छस्फटिककुड्येषु	४	३१	१०९	२८	अस्त्रस्य तव वीर्यस्य	१	३५	२५
३	अजानतैवाचरितस्त्वया	१	३१	२२	२९	अस्य ब्रह्मासनं दत्तम्	१	३०	२१
४	अथ ते रामकृष्णाभ्याम्	५	२८	१३६	३०	अस्य मे पादसंस्पर्शो	६	१६	१७३
५	अथ तैरभ्यनुज्ञातः	२	९	३४	३१	अहं ही सर्वभूतानाम्	५	४६	१५१
६	अर्थात्विग्भ्योऽददात्	७	५२	२३६	३२	अहो ब्रह्मण्यदेवस्य	४	१५	१००
७	अथापि काले स्वजनाः	७	१८	२०७	३३	अहो भोजपते यूयम्	५	२९	१३७
८	अथैकदा द्वारकायां	५	१	१२१	३४	अहो वयं जन्मभृतः	७	९	१९९
९	अथोचुर्मुनयो राजन्	७	३४	२२३	३५	अहो हे पुत्रका यूयम्	३	४०	८१
१०	अथोपवेश्य पर्यङ्के	३	२०	६७	३६	आत्मारामस्य तस्येमा	६	३९	१८८
११	अदान्तस्याविनीतस्य	१	२६	१८	३७	आत्मा वै पुत्र उत्पन्नः	१	३६	२५
१२	अद्य नो जन्म साफल्यम्	७	२१	२१०	३८	आदाय व्यसृजन् केचित्	६	२२	१७८
१३	अधनोयं धनं प्राप्य	४	२०	१०३	३९	आर्य भ्रातरहं मन्ये	५	१९	१३३
१४	अध्यात्मशिक्षया गोप्यः	५	४८	१५४	४०	आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा	२	२०	३९
१५	अनीह एतद्बहुधैक	७	१७	२०६	४१	आसनानि च हैमानि	४	३०	१०९
१६	अनुश्रोतेन सरयुम्	२	१०	३४	४२	आस्तेऽधुना द्वारवत्याम्	३	११	६१
१७	अन्तःपुर जनो दृष्ट्वा	३	२४	६९	४३	आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां	५	७	१२५
१८	अन्यांश्चैवात्म पक्षीयान्	५	१४	१२९	४४	आहुश्च ते नलिन नाभ	५	४९	१५४
१९	अन्योन्यसंदर्शन	५	१५	१३०	४५	इति तच्चिन्तयन्नन्तः	४	२१	१०४
२०	अपि न स्मर्यते ब्रह्मन्	३	३५	७८	४६	इति मुष्टि सकृज्जग्ध्वा	४	१०	९६
२१	अपि ब्रह्मन् गुरुकुलात्	३	२८	७२	४७	इति संचिन्त्य मनसा	३	१३	६३
२२	अपि स्मरत नः सख्यः	५	४२	१४८	४८	इति तद्वचनं श्रुत्वा	७	४२	२३१
२३	अप्यवध्यायथास्मान्	५	४३	१४९	४९	इत्थं विचिन्त्य वसनात्	४	८	९५
२४	अप्रत्युथायिनं सूतम्	१	२३	१५	५०	इत्थं विधान्यनेकानि	३	४३	८४
२५	अम्ब मास्मानसूयेथाः	५	२१	१३४	५१	इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या	४	३८	११५
२६	अयं स्वस्त्ययनः पन्थाः	७	३७	२२५	५२	इत्थं संभाषमाणासु	७	२	१९६

क्र सं	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
५३	इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हम्	७	२७	२१६	८९	कस्मादसाविमान्	१	२४	१६
५४	इत्युक्तोपि द्विजः तस्मै	४	५	६३	९०	काम कोष्णीं पुरीं कांचीम्	२	१४	३६
५५	इत्युत्तमश्लोकशिखामणिम्	६	५	१६४	९१	कामयामह एतस्य	६	४२	१९०
५६	इयदेव हि सच्छिष्यैः	३	४१	८२	९२	किमनेन कृतं पुण्यं	३	२५	६९
५७	इल्वलस्य सुतो घोरो	१	३८	२६	९३	किमस्माभिर्न निर्वृतम्	३	४४	८४
५८	ईजे च भगवान् रामः	५	४	१२३	९४	किमुपायमानीतम्	४	३	९०
५९	ईजेऽनु यज्ञं विधिना	७	५१	२३५	९५	किंचित्करोत्युर्वपि भूरि	४	३५	११२
६०	ईदृग्विधान्य संख्यानि	२	३३	४६	९६	किं वः कामो मुनिश्रेष्ठाः	१	३७	२६
६१	उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तल	६	२९	१८१	९७	किं स्वल्प तपसाम्	७	१०	१९९
६२	उपगीयमान विजयः	१	१५	१०	९८	कुचैलं मलिनं क्षामम्	३	२३	६८
६३	उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ	२	१२	३५	९९	कुतोऽशिवं त्वच्चरण	६	३	१६०
६४	उवाच सुखमासीनान्	७	८	१९८	१००	कुन्तिभोजो विराटश्च	५	२५	१३६
६५	ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातः	७	३९	२२८	१	कृष्णरामौ परिष्वज्य	५	३५	१४२
६६	ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रम्	२	१५	३६	२	कृष्णस्यासीत्सखा	३	६	५७
६७	ऋषेर्भगवतो भूत्वा	१	२५	१७	३	केचित्कुर्वन्ति कर्माणि	३	३०	७४
६८	एक पदातिः संक्रुद्धो	१	२	३	४	को नु श्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन्	३	२	५१
६९	एतदर्थो हि लोकेस्मिन्	१	२७	१९	५	को विस्मरेत वां मैत्रीम्	५	३८	१४८
७०	एतद्ब्रह्मण्य देवस्य	४	४१	११८	६	क्वाहं दरिद्रः पापीयान्	४	१६	१०१
७१	एतद्विदित्वाऽनुदिते	३	३९	८१	७	गजैर्नदद्भिरभ्रामैः	५	८	१२६
७२	एतावतालं विश्वात्मन्	४	११	९७	८	गदया निहतोप्याजौ	१	८	७
७३	एतावदुक्त्वा भगवान्	१	२८	२०	९	गदायाश्री उभौ दृष्ट्वा	२	२५	४२
७४	एताव त्तु पितरौ	५	३९	१४५	१०	गदामुद्यम्य कारुषः	१	४	४
७५	एवं त्वायं जनो ब्रह्मन्	७	२५	२१४	११	गाढ निर्भिन्न हृदयः	१	६	७
७६	एवं मीमांसमानं तम्	४	२४	१०६	१२	गृहं द्वयष्टसहस्राणाम्	३	१७	६४
७७	एवं योगेश्वरः कृष्णो	१	१६	११	१३	गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य	५	४०	१४६
७८	एवं रुक्षैस्तुदन् वाक्यैः	१	७	६	१४	गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा	२	११	३५
७९	एवं वृते भगवति	६	३१	१८३	१५	चरिष्ये वधनिर्वेशम्	१	३४	२४
८०	एवं स भार्यया विप्रो	३	१२	६२	१६	चिरं विमृश्य मुनयः	७	१५	२०४
८१	एवं स विप्रो भगवान्	४	४०	११७	१७	चैद्याय मार्पयितु मुद्यत	६	८	१६६
८२	एवं सौभं च शाल्वं च	१	१३	१०	१८	जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुः	७	७१	२४६
८३	एवं सौहृदशैथिल्य	७	६५	२४२	१९	जुष्टं स्वलंकृतैः पुंभिः स्त्रीभिः	४	२३	१०५
८४	एवं ह्येतानि भूतानि	५	४७	१५२	२०	ज्ञात्वा मम मतं साध्वि	६	१८	१७५
८५	कच्चिद्गुरुकुले वासम्	३	३१	७६	२१	त एनमृषयो राजन्	७	४३	२३२
८६	कथयांचक्रतुर्गाथाः	३	२७	७१	२२	त एवं लोकनाथेन	६	२	१५९
८७	कंसप्रतापिताः सर्वे	५	२२	१३४	२३	ततः कामैः पूर्यमाणः	७	६७	२४३
८८	कर्मणा कर्मनिर्हारः	७	३५	२२३	२४	ततः पर्वण्युपावृत्ते	२	१	३०

क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र सं	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१२५	ततः पुरीं यदुपतिः	६	३६	१८६	१६१	तस्याद्य ते ददृशिम	७	२६	२१५
२६	ततः फाल्गुनमासाद्य	२	१८	३८	६२	तस्यैव मे सौहृदसख्य	४	३६	११३
२७	ततश्च भारतं वर्षम्	१	४०	२८	६३	तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय	७	६	१६७
२८	ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः	१	१०	८	६४	तानानर्चुर्यथा सर्वे	७	७	१६७
२९	ततोतिव्रज्य भगवान्	२	१९	३९	६५	ताभिर्दुकूलवलयैः	७	४८	२३४
३०	ततोभिवाद्य ते वृद्धान्	५	१७	१३२	६६	तावन्मृदङ्गपटहाः	६	३०	१८२
३१	ततोमेध्यमयं वर्षम्	२	२	३०	६७	तावात्मासनमारोप्य	५	३६	१४३
३२	तत्रागस्त्यं समासीनम्	२	१७	३७	६८	तुष्टोहं हे द्विजश्रेष्ठाः	२	४२	८३
३३	तत्रायुतमदाद्धेनूः	२	१६	३७	६९	तेऽन्वसज्जन्त राजन्याः	६	३४	१८५
३४	तथानुगृह्य भगवान्	६	१	१५८	७०	तेभ्यो विशुद्धविज्ञानम्	२	३१	४५
३५	तदा रमश्च कृष्णश्च	७	५०	२३५	७१	ते शार्ङ्गच्युत बाणौघैः	६	३५	१८५
३६	तद्दर्शन स्पर्शनानुपथ	५	३१	१३९	७२	त्रीणि गुल्मान्यतीयाय	३	१६	६४
३७	तद्दीक्षायां प्रवृत्तायाम्	७	४४	२३२	७३	त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां	७	४०	२३०
३८	तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य	७	२८	२१७	७४	त्वं मातुलेयो न कृष्णः	१	५	५
३९	तद्रङ्गमाविशमहं कल	६	२८	१८०	७५	ददुः स्वर्णं द्विजाग्रयेभ्यः	५	११	१२८
४०	तन्महिष्यश्च मुदिता	७	४५	२३३	७६	दमघोषो विशालाक्षः	५	२६	१३६
४१	तं क्लेशकर्म परिपाक	७	३३	२२१	७७	दारुकश्चोदयामास	६	३३	१८४
४२	तं ज्ञात्वा मनुजा राजन्	५	२	१२२	७८	दासीभिः सर्व संपद्भिः	६	३८	१८७
४३	तं तथा यान्तमालोक्य	१	३	४	७९	दिवि दुन्दुभयो नेदुः	६	२७	१७९
४४	तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टाः	५	३३	१४१	८०	दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहाः	५	९	१२७
४५	तं पापं जहि दाशार्ह	१	३९	२७	८१	दिष्ट्यं तदनुमन्वानौ	२	२९	४३
४६	तं पुनर्नैमिषं प्राप्तम्	२	३०	४४	८२	दीर्घमायुर्बतैतस्य	१	३४	२४
४७	तं विलोक्य बृहत्कायम्	२	३	३१	८३	द्वितस्त्रितश्चैकतश्च	७	५	१९६
४८	तं विलोक्याच्युतो दूरात्	३	१८	६५	८४	द्वैपायनो नारदश्च	७	३	१९६
४९	तपश्चरन्तीमाज्ञाय	६	११	१६९	८५	धूपैः सुरभिभिर्मित्रम्	३	२२	६७
५०	तमभ्यषिञ्चद्विधिवत्	७	४७	२३४	८६	धृतराष्ट्रोनुजः पार्थाः	७	५७	२३८
५१	तमाकृष्य हलाग्रेण	२	५	३२	८७	न तद्वाक्यं जगृहतुः	२	२८	४३
५२	तमागतमाभिप्रेत्य	१	२१	१४	८८	ननु ब्रह्मन् भगवतः	३	९	५९
५३	तमुपैहि महाभाग	३	१०	६०	८९	नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान्	५	३२	१४०
५४	तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ	१	६	५	९०	नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्	७	५९	२३९
५५	तस्मादेकतरस्येह	२	२७	४३	९१	नन्दस्तु सह गोपालैः	७	६६	२४३
५६	तस्माद् ब्रह्मकुलं ब्रह्मन्	७	२०	२०९	९२	नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च	७	६९	२४५
५७	तस्मिन् संधाय विशिखम्	६	२६	१७९	९३	नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन्	३	३३	७७
५८	तस्य चाप ततः कृष्णः	१	१२	९	९४	नन्वेतदुपनीतं मे	४	९	९६
५९	तस्यर्त्विजो महाराज	७	४९	२३४	९५	नन्वब्रुवाणो दिशते	४	३४	१११
६०	तस्य वै देव देवस्य	४	३९	११६	९६	नमस्तस्मै भगवते	७	२२	२११

क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१९७	नमो वः सर्वदेवेभ्यः	७	२९	२१७
९८	न यं विदन्त्यमी भूपाः	७	२३	२१२
९९	न वयं साध्वि साम्राज्यं	६	४१	१८९
२००	न ह्यम्मयानि तीर्थानि	७	११	२००
१	नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्र	७	१२	२०२
२	नानालंकार वासांसि	७	५४	२३७
३	नापि चित्रमिदं विप्राः	७	३०	२१९
४	नाहमिज्या प्रजातिभ्याम्	३	३४	७८
५	निः क्षत्रियां महीं कूर्वन्	५	३	१२२
६	निवासितः प्रियाजुष्टे	४	१७	१०१
७	निशम्येत्थं भगवतः	७	१४	२०४
८	नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य	४	३३	११०
९	नेदुर्मृदङ्ग पटह	७	४६	२३३
१०	पतिमागतमाकर्ज्य	४	२५	१०६
११	पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा	४	२६	१०७
१२	पतिव्रता पतिं प्राह	३	८	५८
१३	पत्नीं दृष्ट्वा प्रस्फुरन्तीम्	४	२७	१०७
१४	पत्नीसजायाव भृथ्यैः	७	५३	२३६
१५	पत्न्या मे प्रेषितायातः	४	७	९४
१६	पत्र पुष्पं फलं तोयं	४	४	९१
१७	पयः फेननिभाः शय्याः	४	२९	१०८
१८	पिता मे पूजयामास	६	३७	१८७
१९	पिता मे मातुलेयाय	६	१५	१७२
२०	पिता संपूजिताः सर्वे	६	२१	१७७
२१	पृथा भ्रात्कॄन् स्वसॄर्वीक्षय	५	१८	१३२
२२	प्रथुदकं बिन्दुसरः	१	१९	१३
२३	प्रविश्य रेवामगमत्	२	२१	३९
२४	प्रविष्टानां महारण्यम्	३	३६	७९
२५	प्रागकल्पास्तु कुशलम्	७	६३	२४१
२६	प्राज्ञाय देहक्कदमुम्	६	१०	१६८
२७	प्रायो गृहेषु ते चित्तम्	३	२९	७३
२८	प्रीतः स्वयं तथा युक्त	४	२८	१०८
२९	बन्धुषु प्रतियातेषु	७	७०	२४५
३०	बन्धून् परिष्वज्य	७	५८	२३८
३१	बन्धून्सदारान् ससुतान्	७	५५	२३७
३२	ब्रह्म ते हृदयं शुक्लम्	७	१९	२०८
२३३	ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णः	४	२	८९
३४	ब्राह्मणस्तां तु रजनीम्	४	१२	९८
३५	ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः	५	१०	१२७
३६	भक्ताय चित्रा भगवान्	४	३७	११४
३७	भगवन् यानि चान्यानि	३	१	५०
३८	भगवांस्तास्तथाभूता	५	४१	१४८
३९	भीष्मोद्रोणोंबिका पुत्रो	५	२४	१३५
४०	भुक्त्वोपविविशुः	५	१२	१२८
४१	भौमं निहत्य सगणं	६	४०	१८८
४२	भ्रातरीशकृतः पाशः	७	६१	२४०
४३	अत्स्याभासं जले वीक्ष्य	६	२४	१७९
४४	मत्स्योशीनर कौशल्य	५	१३	१२९
४५	ममापि राज्ञ्यच्युतजन्म	६	१७	१७४
४६	मयि भक्तिर्हि भूतानाम्	५	४५	१५०
४७	महत्यां तीर्थयात्रायाम्	५	५	१२४
४८	मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः	७	६४	२४२
४९	मां तावद्रथमारोप्य	६	३२	१८३
५०	मुनिभिस्सिद्धगन्धर्वैः	१	१४	१०
५१	य इत्थं वीर्य शुल्कां माम्	६	१४	१७२
५२	यथा शयानः पुरुषः	७	२४	२१३
५३	यथा स्वयंवरे राज्ञि	६	१९	१७६
५४	यदृच्छयोपपन्नं न	३	७	५७
५५	यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलम्	५	३०	१३८
५६	यद्येतद्ब्रह्म हत्यायाः	१	३२	२३
५७	यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा	७	१६	२०५
५८	यमुनामनुयान्त्येव	१	२०	१३
५९	ययुस्ते भारतं क्षेत्रम्	५	६	१२४
६०	यस्य छन्दोमयम्	३	४५	८५
६१	यस्यात्मबुद्धिः कुणपे	७	१३	२०३
६२	यस्यानुभूति. कालेन	७	३२	२२०
६३	याचित्वा चतुरो मुष्टीन्	३	१४	६३
६४	युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा	२	२४	४१
६५	युवां तुल्य बलौ वीरौ	२	२६	४२
६६	यो मां स्वयंवर उपेत्य	६	१२	१७०
६७	यो मे सनाभिवधतप्त	६	९	१६७
६८	योऽसौ त्रैलोक्य गुरुणा	३	२६	७०

क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
२६९	राजन्येषु निवृत्तेषु	६	२५	१७९	२९७	य इत्थं द्विजमुख्येन	४	१	८९
७०	राजानोन्ये च राजेन्द्र	५	२७	१३६	९८	सख्युः प्रियस्य विप्रर्षे	३	१९	६६
७१	रामः सशिष्यो भगवान्	७	४	१९६	९९	स चालब्ध्वा धनम्	४	१४	१००
७२	रोहिणी देवकी चाथ	५	३७	१४३	३००	सञ्जयं कृत्वाऽरे वीरा	६	२३	१७८
७३	वयं भृशं तत्र महानिलाम्बु	३	३८	८०	१	स तानादाय विप्राग्र्यः	३	१५	६४
७४	वसुदेव भवान्नूनं	७	४१	२३०	२	सदस्यर्त्विक् सुरगणान्	७	५६	२३७
७५	वसुदेवः परिष्वज्य	५	३४	१४२	३	संनिकर्षोऽत्र मर्त्यानाम्	७	३१	२१९
७६	वसुदेवोग्रसेनाद्यैः	५	२३	१३५	४	सप्तोक्षणोति बलवीर्यं	६	१३	१७१
७७	वसुदेवोग्रसेनाभ्याम्	७	६८	२४४	५	स भीमदुर्योधनयोः	२	२३	४०
७८	वसुदेवोऽञ्जसोत्तीर्य	७	६०	२३९	६	सर्वभूतात्मदृक् साक्षात्	४	६	९४
७९	वायुर्यथा घनानीकम्	५	४४	१५०	७	स वै सत्कर्मणां साक्षात्	३	३२	७६
८०	विचित्रोपवनोद्यानैः	४	२२	१०४	८	सस्मार मुसलं रामः	२	४	३१
८१	वित्तस्योपशमोयं वै	७	३६	२२४	९	सा वाग् यया तस्य	३	३	५२
८२	वित्तैषणां यज्ञ दानैः	७	३८	२२६	१०	सुहृदो ज्ञातयः पुत्राः	५	२०	१३३
८३	विदुरथस्तु तद्भ्राता	१	११	९	११	सूर्यश्चास्तं गतस्तावत्	३	३७	७९
८४	विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र	४	३२	११०	१२	सोऽर्चितः सपरीवारः	१	२२	१५
८५	विष्णुरातेन संपुष्टो	३	५	५६	१३	सोपतद्भुवि निर्भिन्न	२	६	३२
८६	वैजयन्तीं ददुर्मालाम्	२	८	३३	१४	संस्तुत्य मुनयो रामम्	२	७	३३
८७	व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति	६	४३	१९१	१५	स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः	२	१३	३६
८८	शिरस्तु तस्योभयलिङ्ग	३	४	५५	१६	स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य	१	१८	१२
८९	शिशुपालस्य शाल्वस्य	१	१	२	१७	स्वपत्न्यावभृथ स्नातो	२	३२	४६
९०	शुश्रूषया परमया	४	१८	१०२	१८	स्वर्गापवर्गयोः पुंसाम्	४	१९	१०२
९१	शृण्वन् गुणश्च रामस्य	२	३४	४७	१९	स्त्रियश्च सवीक्ष्य मिथोति	५	१६	१३१
९२	श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानम्	२	२२	४०	२०	हाहेति वादिनः सर्वे	१	२९	२०
९३	श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ	७	१	११५	२१	हित्वात्मधाम विधुतात्म	६	४	१६२
९४	श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः	१	१७	१२	२२	हे कृष्णपत्न्य एतन्नः	६	७	१६५
९५	श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपाः	६	२०	१७७	२३	हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे	६	६	१६५
९६	श्वोभूतो विश्वभावेन	४	१३	९९					

आश्रय का पद

भरोसो दृढ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जग माहिं अंधेरो ॥१॥
साधन और नहिं या कलि में, जासों होय निवेरो।
सूर कहा कहे दुविध आंधरो, बिना मोल को चेरो ॥२॥